॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेद-भाष्यम्

[काण्ड ६]

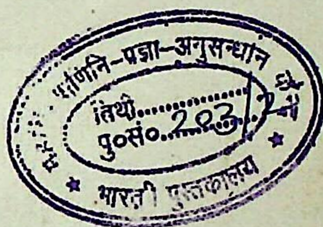


लेखक—
प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेद-भाष्यम्

[काण्ड ६]



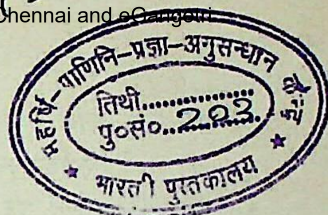


लेखक—
प्रो॰ विश्वनाथ विद्यालंकार

प्रकाशक—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (१३१०२१)
सोनीपत (हरयाणा)

प्रथम संस्करण—१०००
संवत्—२०४७; सन्—१९९०
मूल्य ४०-००

मुद्रक—
नरेन्द्र कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस,
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)



प्रकाशकीय वक्तव्य

वेदविद्या-विचक्षण वेदमाता के आराधन में उत्सर्गीकृतकाय श्री पं० विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड के नाम से सभी वेद-भक्त आर्य बन्धु परिचित हैं। आपने करनाल निवासी श्री माननीय चौधरी प्रतापसिंहजी की प्रेरणा और साहाय्य से सन् १९७३ में अथर्ववेद का भाष्य लिखना प्रारम्भ किया था। उस समय आपकी अवस्था लगभग ८२ वर्ष की थी। आपने इस अत्यन्त जरा अवस्था में अथर्ववेद का अन्त से भाष्य लिखना प्रारम्भ किया। तदनुसार सन् १९७५ में बीसवें काण्ड का, १९७७ में १८-१९ काण्डों का, १९८१ में १४-१५-१६-१७ काण्डों का, १९८३ में ११-१२-१३ काण्डों का, १९८६ में ९-१० काण्डों का और १९८७ में ७-८ काण्डों का आपके द्वारा लिखित भाष्य छः भागों में प्रकाशित हो चुका है। सम्प्रति काण्ड छः का भाष्य प्रस्तुत है। काण्ड ४-५ के रूप में आठवां भाग प्रेस में छप रहा है।

श्री माननीय चौधरी प्रतापसिंहजी का २६-२७ जुलाई १९८६ की मध्य रात्रि में अचानक स्वर्गवास हो जाने के कारण अवशिष्ट अथर्ववेद-भाष्य के मुद्रण की विकट समस्या मेरे सामने उपस्थित हो गई। काण्ड ९-१० के अतिरिक्त सभी काण्ड श्री माननीय चौधरीजी के जीवनकाल में छप गये थे। काण्ड ९-१० का भाष्य भी किसी प्रकार उनके रा० ब० श्री चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित कर दिया।

श्री माननीय पण्डितजी सम्प्रति १०० वर्ष के हो चुके हैं। हाथ कांपते हैं, दृष्टि भी मन्द हो गई है, तथापि आप आतशी शीशे की सहायता से अथर्ववेद के भाष्य को पूर्ण करने में जुटे हुए हैं। ऐसे वेदैकनिष्ठ विद्वान् के घोर परिश्रम से लिखे गये भाष्य का यदि प्रकाशन न हो तो यह आर्य-समाज के लिये अत्यन्त निन्दाजनक होगा। इसी दृष्टि से रामलाल कपूर ट्रस्ट ने साधन न होते हुए भी इस कार्य को पूरा करने का विचार किया है।

हमने प्रस्तुत भाष्य को प्रकाशित करने के लिये वेद-भक्त आर्य-सज्जनों से वेदवाणी के माध्यम से सहायता के लिये अनुरोध किया था, जिसके फलस्वरूप निम्नलिखित सज्जनों ने इस कार्य में सहायता प्रदान की है—

१—श्री जयदयाल कपूर, हैदराबाद	५००१·००
२—श्री मनोहर विद्यालङ्कार, दिल्ली	१०००·००
३—श्री वीरेन्द्रसिंह परमार, दिल्ली	१०००·००
कुल योग	७००१-००

इसके अतिरिक्त कुछ और महानुभावों की भी सहायता हमें प्राप्त हुई है, जिसे हमने काण्ड ४-५ के प्रकाशन में लगा दिया है।

इन महानुभावों का हम कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद करते हैं और आशा करते हैं कि वेदभक्त आर्यजन इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूर्ण करने में हमें यथोचित सहयोग प्रदान करेंगे।

इस भाग पर केवल कागज और छपाई पर ही १२ सहस्र रुपया व्यय हुआ है। जिल्द पर प्रति पुस्तक ६ रुपये व्यय पड़ेगा। इस प्रकार प्रति पुस्तक लागत १८ रुपये पड़ती है।

अभी काण्ड ५-४ छप रहे हैं और ३-२-१=३ काण्ड छापने हैं। प्रथम काण्ड के अतिरिक्त और सभी काण्डों की व्याख्या पण्डितजी लिख चुके हैं। प्रथम काण्ड की लिख रहे हैं। इन पांच काण्डों के प्रकाशन में न्यूनातिन्यून ४० सहस्र रुपया व्यय होगा, जो हमारे लिये एक बड़ी समस्या है। अतः सभी वेदप्रेमी आर्यजनों से प्रार्थना है कि वे हमें इस कार्य को संपन्न करने में मुक्तहस्त होकर सहायता करें।

महत्त्वपूर्ण सूचना—श्री माननीय पं० विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड की महत्त्वपूर्ण वेदसेवा के लिये आर्यसमाज सान्ताक्रुज, बम्बई ने अपना २१ सहस्र का वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार श्री माननीय पण्डितजी को मई १९८७ में प्रदान किया है। हमारी परमपिता परमेश्वर से यही प्रार्थना है कि प्रभु आपको शतायु प्रदान करें, जिससे कि अथर्ववेद का महत्त्वपूर्ण भाष्य पूर्ण हो सके।

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत) — युधिष्ठिर मीमांसक, जून १९९०

ग्रन्थकर्त्ता का संक्षिप्त परिचय

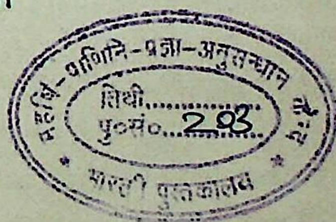
तथा

अन्य कृतियां

अथर्ववेद काण्ड ६वें के व्याख्याकार प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालङ्कार, विद्यामार्तण्डजी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के सुप्रसिद्ध स्नातक हैं। आप विश्वविद्यालय की 'विद्यालङ्कार' उपाधि, तथा 'विद्यामार्तण्ड' की मानोपाधि से विभूषित हैं। सन् १९१४ के दीक्षान्त समारोह में आप प्रथम विभाग मे सर्वप्रथम रहे। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शनशास्त्र और रसायनशास्त्र (केमिस्ट्री) में, तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ सुवर्णपदक और १ रजतपदक प्राप्त हुए। आप सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त हुए। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में समय-समय पर आप रसायन, दर्शनशास्त्र और वैदिक साहित्य पढ़ाते रहे और सन् १९४२ मार्च में वहां से सेवामुक्त हुए।

ग्रन्थकार की अन्य कृतियां

१. सामवेद आध्यात्मिक भाष्य
२. अथर्ववेद-परिचय
३. अथर्ववेद-भाष्य काण्ड २०; १८-१९; १४-१५-१६-१७; ११ १२-१३; ९-१०; ७-८; छः खण्ड। सातवां खण्ड काण्ड ६।
४. यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा
५. शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा
६. ऋग्वेद-परिचय
७. वैदिक-जीवन
८ वैदिक-गृहस्थाश्रम
९. सन्ध्या रहस्य
१०. वैदिक-पशुयज्ञ-समीक्षा
११. बाल सत्यार्थप्रकाश
१२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सरल अध्ययन



—:०❀०❀०:—

भूमिका

१. काण्ड ६ में कतिपय ऐसे पद प्रयुक्त हुए हैं जो कि रूढि प्रतीत होने हैं, उनके यौगिक स्वरूपों पर प्रकाश डाला है, यथा "कालकाञ्जाः"त्रयः (सूक्त ८०. मन्त्र २)।

२. सवनत्रय=वसु, रुद्र, आदित्य (सूक्त ४७)।

३. छत्न्युत्पादक सूर्यरश्मियां (सूक्त ४९)।

४. ऋतुएं ७ (सूक्त ६१)।

५. दिव्यश्वा (सूक्त ८०)।

६ दो व्याघ्रदान्त[1] (सूक्त १४०)। ये मांस खाने के लिये नहीं अपितु व्रीहि-यव आदि के खाने के लिये हैं (सूक्त १४०। मन्त्र २)।

७. कर्णवेध संस्कार (सूक्त १४२)।

८. स्वप्न विज्ञान (सूक्त ४६)।

९. कपोत पक्षी=वायुयान (सूक्त २७, २८)।

१०. पृथिवी का परिभ्रमण (सूक्त ३१)।

कर्णवेध संस्कार पर विशेष विचार

श्री पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार द्वारा लिखित संस्कारचन्द्रिका से उद्धृत, यथा,—'आयुर्वेद सम्बन्धी सुश्रुत के अनुसार वैद्य अपने बांये हाथ से कान को खींचकर देखें कि जहां सूय की किरणें चमकें वहां धीरे-धीरे सीधे बीन्धे। इससे आन्त्रवृद्धि रुक जाती है। चीन में एक्युपंकचर (Acupuncture) द्वारा सूई चुभा कर शल्य क्रिया के अनेक काम कर लेते हैं।"

अथर्ववेदानुसार कर्णवेध द्वारा सहस्रविध पुष्टि मानी है"सहस्रपोषाय" (सूक्त १४१, मन्त्र ३) कर्णवेध के लिए सूक्त १४१, मन्त्र २ देखो। कणवेध बाल-बालिका दोनों का होना चाहिये।

विश्वनाथ वेदोपाध्याय

---

१. व्याघ्रौ व्याघ्रवत् हिंसकौ दन्तौ, उपरितनपंक्तिस्थितौ, अवरूढौ अवाङ्मुखं प्ररूढौ (सायण)।

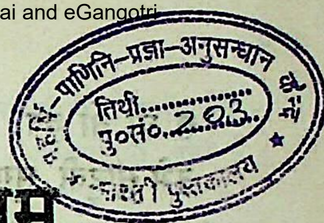


काण्ड ६ के विशिष्ट विषयों का सूचीपत्र

---

१. अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितन् ओषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः । संस्कार-विधि, तथा ऋ० १०।१६।३ [किंचित् पाठ भेद से] ।

२. सायण ने सविता का अर्थ किया है "संस्कारक पुरुष, केशों का छेत्ता पुरुष", नापित, न कि द्युलोकस्थ चेतन देवता विशेष ।



अथर्ववेद-भाष्यम्

काण्ड ६ अनुवाक १

सूक्त १

१-३ अथर्वा। सविता। उष्णिक्; १ त्रिपदा पिपीलिकमध्या साम्नी जगती, २.३ पिपीलिकमध्या पुरउष्णिक्।

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥१॥

(दोषा उ) रात्री में भो (गाय) [परमेश्वर का] गायन कर (बृहद् गाय) महागान कर, (द्युमत्) दीप्ति वाले ब्रह्म को (धेहि) हृदय में धारण कर। (आथर्वण) हे अचल चित्तवृत्ति वाले! (सवितारम्, देवम्) सर्वोत्पादक, सर्वैश्वर्यवान्, सर्वप्रेरक देव की (स्तुहि) स्तुति किया कर।

[आथर्वण =अथर्वा, स्वार्थे अण्; थर्वतिः चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः (निरुक्त ११।२।१६; पद १३)। उ=अपि; इस द्वारा प्रातः स्तुति कथित हुई है। आथर्वण =अथवा, अथर्वा =कूटस्थ परमेश्वर, तदुपासक]।

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥२॥

(तम्, उ) उस की ही (स्तुहि) स्तुति कर, (यः) जो कि (सिन्धौ) हृदय समुद्र के (अन्तः) भीतर है, (सत्यस्य) सत्यज्ञान का (सूनुः) प्रेरक या उत्पादक है, (युवानम्) सदा युवा, (अद्रोघवाचम्) द्रोहरहित वेदवाणी का स्वामी और (सुशेवम्) उत्तम सुखदायक है।

[सिन्धुः=हृदय-समुद्र। यथा "सिन्धुसृत्याय" (अथर्व० १०।२।१२); तथा "हृद्यात् समुद्रात्" (यजु० १७-९३)। सूनुः=षू प्रेरणे (तुदादिः), तथा षूङ् प्रसवे (दिवादिः)। शेवम् सुखनाम (निघं. ३।६)]।

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।
उभे सुष्टुती सुगातवे ॥३॥

(सः घ) वह ही (सविता देवः) सविता देव (नः) हमें (भूरि) प्रभूत (अमृतानि[1]) अमर होने के साधन (साविषत्) प्रेरित करे या करता है, ताकि (उभे) दोनों अर्थात् प्रातःसायम् की (सुष्टुतो) उत्तम-स्तुतियां (सुगातवे) उत्तम प्रकार से हम गाएं ।

[साविषत्[1] = षू प्रेरणे (तुदादिः), लेटि अडागमः "सिब्बहुलं णिद् वक्तव्यः" इति वृद्धयावादेशौ । सविता = (मन्त्र १)] ।

सूक्त २

(१-३) अथर्वा । सविता । उष्णिक्, २ त्रिपदा पिपीलिकमध्या साम्नो जगती, २,३ पिपीलिकमध्या पुर उष्णिक् ।

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत ।
स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे ॥१॥

(ऋत्विजः) ऋतु-ऋतु के अनुकूल भक्तियज्ञ करने वालों ! (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के लिये (सोमम्) भक्तिरस को (सुनोत) पैदा करो, (च) और (आधावत) उसे पूर्णरूप में शुद्ध करो, (यः) जो इन्द्र कि (स्तोतुः) प्रत्येक स्तुतिकर्त्ता के (वचः) स्तुतिवचन को, (च) और (मे) मेरे (हवम्) आह्वान को (शृणवत्) सुने या सुनता है ।

[ऋत्विजः = ऋतु + यज्ञ । प्रत्येक ऋतु में परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुण-कर्म अर्थात् स्वरूप प्रकट होते हैं तदनुकूल या तदनुरूप ही उस की स्तुति या भक्तियज्ञ करने चाहियें । सोमम् = अथर्ववेद में कहा है कि—

सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥१४।१।३॥

सोम को मानता है कि मैंने पी लिया, जब कि ओषधि को पीसते हैं । जिसे कि ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] के ज्ञाता, या ब्रह्मज्ञ, सोम जानते हैं उसका प्राशन पृथिवो-भोगो नहीं करता ।

---

१. अथवा "दीर्घजीवन के प्रभूत साधनों को प्रेरित करे या करता है" ।

[इससे प्रतीत होता है कि मन्त्र में "सोम" द्वारा सोम ओषधि और उसका रस ही नहीं, अपितु प्रकरणानुसार सोम के अन्यार्थ भी होते हैं। पृथिवी भोगी=पार्थिव भोगों में आसक्त पुरुष।

काण्ड ६, सूक्त १ भक्तिगानपरक है, अतः सूक्त २ में भो भक्ति का सम्वन्ध अभीष्ट प्रतीत होता है। अतः सोमपान का अर्थ "भक्तिरसपान" किया गया है]।

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः।
विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥२॥

(यम्) जिस इन्द्र में (इन्दवः) सोम नामक भक्तिरस (आ विशन्ति) प्रवेश पाते हैं, (न) जैसे कि (अन्धसः वृक्षम्) अन्नवाले वृक्ष में (वयः) पक्षी। वह तू (विरप्शिन्) हे महान् इन्द्र ! (रक्षस्विनीः) राक्षस स्वभाव वाली, (मृधः) तथा संग्रामकारी हमारी दुर्भावनाओं का (विजहि) विशेषतया हनन कर।

[मन्त्र में प्रसिद्ध "देवासुर-संग्राम" का वर्णन अभिप्रेत है। इन्दु द्वारा सोम अभिप्रेत है अर्थात् भक्तिरस, (मन्त्र १, देखो)। ये भक्तिरस, ब्राह्मज्ञान दीप्ति को प्रकट करते हैं, यह दर्शाने के लिये इन्हें "इन्दवः" कहा है, इन्धी दीप्तौ (रुधादिः) इन्धी के धकार को दकार छान्दस। तथा "इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा" (निरुक्त १०।४।४२) तथा भक्तिरस हृदय को "उन्दी" अर्थात् क्लिन्न करते हैं। अतः इन्दु हैं। उन्दी क्लेदने (रुधादिः)। विरप्शी महन्नाम (निघं० ३।३)। अन्धः अन्ननाम (निघं. २।७)]।

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे।
युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥३॥

(सोमपाव्ने) भक्तिरस के पीने वाले, (वज्रिणे) वज्रधारी (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (सोमम्) भक्तिरस को (सुनोत) पैदा करो। (सः) वह इन्द्र (पुरुष्टुतः) बहुत स्तुत हुआ (जेता) विजय प्राप्त करता है। वह (युवा) सदा युवा है, (ईशानः) और अधीश्वर है।

[मन्त्र २ में "मृधः" के हनन का वर्णन है, इस दृष्टि से इन्द्र अर्थात् परमेश्वर को "युवा और जेता" कहा है]।

सूक्त ३

(१-३) अथर्वा । १ इन्द्रापूषणौ, अदितिः, मरुतः, अपांनपात्, सिन्धवः, विष्णुः, द्यौः; २ द्यावापृथिवी, ग्रावा, सोमः, सरस्वती, अग्निः; ३ अश्विनौ, उषासानक्ता, अपांनपात्, त्वष्टा । जगती, १ पथ्याबृहती ।

पातं नं इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः ।
अपांनपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥१॥

(इन्द्रापूषणा) विद्युत् और मेघ (नः) हमारी (पातम्) रक्षा करें, (अदितिः) पृथिवी और (मरुतः) मानसून वायुएं (पान्तु) रक्षा करें। (अपांनपात्) चमकती विद्युत् (सप्तसिन्धवः) सप्तविध नदियां (पातन) रक्षा करें, (विष्णुः) किरणों से व्याप्त सूर्य (उत) तथा (द्यौः) द्युलोक (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे।

[सूक्त १ और २ में परमेश्वर का वर्णन हुआ है, और सूक्त २ में उसे "जेता और ईशान" कह कर समग्र ब्रह्माण्ड पर उसका प्रभुत्व दर्शाया है। अतः उसी से इन्द्र आदि द्वारा रक्षा की प्रार्थना की गई है।

निरुक्त में इन्द्र को अन्तरिक्षस्थानी देवता माना है। अतः इन्द्र है विद्युत्। एतत्सम्बन्धी पूषा है पुष्टिकारक मेघ। मेघ वर्षा द्वारा जलप्रदान कर, और तद्-द्वारा अन्नोत्पादन कर पुष्टि देता है। अदिति है पृथिवो, "अदितिः पृथिवीनाम" (निघं० १।१)। पृथिवी अन्नप्रदान द्वारा रक्षा करती है। मरुतः हैं मानसून वायुएं। यथा 'उदीरयत मरुतः समुद्रात्" (अथर्व० ४।१५ ५), "हे मरुतो! तुम समुद्र से ऊपर की ओर गति करो"। तथा (अथर्व० ४।२७।४,५)। अपांनपात् =यह है मेघ में चमकती तथा गर्जती विद्युत्। जल से मेघोत्पत्ति, मेघ से इस विद्युत् की उत्पत्ति। अतः यह विद्युत् अपांनपात् है। नपात् =पोती। विष्णुः =सूर्य (निरुक्त १२। २।१८। पद १२)। इस प्रकार इन्द्र आदि का सम्बन्ध वर्षा के साथ है, मन्त्र में परमेश्वर से वर्षा के साधनों द्वारा रक्षा की प्रार्थना हुई है]।

विशेषः—इन्द्र और अपांनपात् दोनों विद्युत् हैं। इन्द्र है अन्तरिक्ष-व्यापिनी अनभिव्यक्तरूपा विद्युत्, और अपांनपात् है व्यक्तरूपा मेघीय-विद्युत्।

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः ।
पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥२॥

(अभिष्टये) अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (नः) हमारी (पाताम्) रक्षा करें, (ग्रावा) सोम ओषधि के पीसने की शिला (नः) हमारी (अंहसः) हत्या से (पातु) रक्षा करे, और (सोमः) सोम ओषधि (पातु) हत्या से रक्षा करे। (सुभगा) उत्तम भगों से सम्पन्ना (देवी सरस्वती) दिव्या ज्ञानवती वेदवाणी (नः पातु) हमारी रक्षा करे, (अग्निः) यज्ञिय अग्नि (पातु) रक्षा करे, तथा (अस्य) इस यज्ञियाग्नि के (ये) जो (शिवाः) कल्याणकारी (पायवः) रक्षक गुण हैं वे हमारी रक्षा करें।

[इस मन्त्र में भी प्राकृतिक साधनों द्वारा रक्षा की प्रार्थना परमेश्वर से की गई है। मन्त्रस्थ साधनों में मुख्य साधन है यज्ञियाग्नि, और उसमें आहुत सोम ओषधि और सोमरस तथा शब्दमयी वेदवाणी की शिक्षा। आहुतियों द्वारा उत्थित धूम पृथिवी और पृथिवी के वायुमण्डल में फैल कर स्वास्थ्य प्रदान कर, हत्या से रक्षा करता है, और द्युलोक द्वारा प्राप्त प्रकाश और ताप इसमें सहायक होता है। रोगनिवारण और स्वास्थ्य-प्रदान में सोम ओषधि, तथा सोमरस के अद्भुत गुण वेदों में वर्णित हुए हैं। अहसः=अंहतिः च, अंहः च, अंहुः च, हन्तेः निरूढोपधात् विपरीतात्" (निरुक्त ४।४।२४; पद ५७, तूताव)। सुभगा="ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा"। वेदवाणी में इन षड्विध भगों का वर्णन है, अतः वेदवाणी को सुभगा कहा है]।

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम् ।
अपांनपादभिहुती गयस्य चिद् देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥३॥

(शुभस्पती) दीप्ति के स्वामी (देवाश्विना) सूर्य और चन्द्रमा (नः) हमारी (पाताम्) रक्षा करें (उषासानक्ता) उषा और रात्री अर्थात् दिन और रात (नः) हमारी (उरुष्यताम्) रक्षा करें। (गयस्य चित्) किसी भी प्राण की (अभिहुती) कुटिलता अर्थात् विकृति में (अपांनपात्) मेघीय विद्युत् [हमारी रक्षा करे] (देव त्वष्टः) हे रूपकृत् दिव्य सूर्य या परमेश्वर! (सर्वतातये) सब सुखों के विस्तार के लिये (वर्धय) हमारी वृद्धि कर।

[शुभस्पती =शुभ दीप्तौ (भ्वादिः) । अश्विना =सूर्याचन्द्रमसौ (निरुक्त १२।१।२) । उरुष्यताम् =उरुष्यतिः, रक्षाकर्मा (निरुक्त ५।४।२३; समस्य पद ६६) । अपांनपात् =जल का अपत्य है मेघ, और मेघ का अपत्य है विद्युदग्निः, इस प्रकार विद्युदग्नि अपाम् का नपात् है । तत्सदृशो विद्युत् है भौमी विद्युत्¹, इस द्वारा प्राण को विकृति का इलाज होता है । अपांनपात् (निरुक्त १०।२।१८), यथा "अपांनपात् तनूनप्त्रा (८।२।५; पद ३) व्याख्यातः" । शरीर के प्रत्येक अङ्ग में अपना-अपना प्राण होता है, जिस द्वारा वह स्वस्थ रहता और शरीर का पोषण करता है । यह है "गय" । "गय" का अर्थ प्राण भी है, यथा "प्राणा वै गयाः, तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यद् गयांस्तत्रेतस्माद् गायत्री नाम" (श० कां० १४। अ० ८। ब्रा० १५। कं० ६, ७) तथा सत्यार्थप्रकाश, ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय)। अभिह्रुतौ= अभिह्रुतौ (सायण), अभि+ह्वृ कौटिल्ये । कौटिल्य =विकृति । सर्वतातये=सर्वस्मै फलाय अस्मान् वर्धय, सर्वदेवात् तातिल्(अष्टा० ४ ४.१४२), इति स्वार्थिकः तातिल् प्रत्ययः (सायण) । इस दृष्टि में "तातिल्" निरर्थक है । निरुक्त में कहा है कि "सर्वताता सर्वासु कर्मततिषु" (११।३।२४; पद २३ अदितिः) इस प्रकार "ताता =तातौ, तनु विस्तारे" सार्थक हो जाता है । त्वष्टः ="रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा" त्वष्टा =सूर्य (ऋ० १०।११०।६), तथा "तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति" त्वष्टा =परमेश्वर (यजु० ३१।१७) ।

सूक्त ४

त्वष्टा॑ मे॒ दैव्यं॒ वचः॑ प॒र्जन्यो॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑ ।
पु॒त्रैर्भ्रातृ॑भि॒रदि॑ति॒र्नु पा॑तु नो दु॒ष्टरं॒ त्राय॑माणं॒ सहः॑ ॥१॥

(त्वष्टा) जगत् को रूप देने वाला, (पर्जन्यः) पालक तथा जनहितकारी (ब्रह्मणस्पतिः) वेदपति परमेश्वर (मे) मेरे (दैव्यम् वचः) दिव्य स्तुति-वचन समूह की (पातु) रक्षा करे। और (भ्रातृभिः) परस्पर भ्रातृ रूप में वर्तमान (पुत्रैः) पुत्रों वाली (अदितिः) अदीना अर्थात् अक्षया देवमाता अर्थात् दिव्या पारमेश्वरी माता, (नु) शीघ्र (नः) हमारे (दुष्टर

---

१. अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्। (अथर्व० १.६।२) । विश्वरोगों को शान्त करने वाली अग्नि, विद्युदग्नि ही है।

रम्) शत्रुओं द्वारा दुर्लङ्घनीय, अनतिक्रमणीय, (त्रायमाणम्) और हमें त्राण करने वाले (सहः) तथा शत्रुपराभवकारी बल की रक्षा करे।

[राष्ट्र के प्रजासमूह द्वारा यह प्रार्थना की गई है। पर्जन्यः=पॄ पालने +जनहितकारी, अथवा पर्जन्यवत् सुखों की वर्षा करने वाला परमेश्वर। अदितिः=अदीना देवमाता (निरुक्त ४।४।२३; अदिति पद ४९)।

दुष्टरम्=दुःखेन तरणीयम्। सहः=बलनाम (निघं० २।९); तथा षह मर्षणे (भ्वादिः), मर्षणम्=Removing, Rubbing off (आप्टे), मिटा देना। पुत्रैः भ्रातृभिः=परमेश्वर माता के हम सब पुत्र हैं, अतः परस्पर भाई हैं। भाई को भाई के साथ द्वेष न करना चाहिये "मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्" (अथर्व० ३।३०।३)। मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गई है]।

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः।
अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥२॥

(अंशः) अन्नादि का आंशिक विभागकर्त्ता "अधिकारी", (भगः) साम्राज्य के समग्रैश्वर्य का अधिकारी "वित्ताधिकारी", (वरुणः) साम्राज्य के प्रत्येक राष्ट्र का अधिपति राष्ट्र द्वारा 'वरण किया हुआ" अधिकारी (मित्रः) पर राष्ट्रों के साथ मैत्री बढ़ाने वाला "विदेशनीति का दूत", (अर्यमा) मुख्य न्यायाधीश, (अदितिः) राजनीति की शिक्षा देने वाली वेदवाणी, (मरुतः) तथा सैनिक (पान्तु) ये सब हम प्रजाजनों की रक्षा करें। (तस्य) उस शत्रु का (अभिह्रुतः) कुटिल (द्वेषः) हमारे साथ किया गया द्वेष (अपगमेत्) दूर हो जाय। और (अन्तितम्) हमारी सीमान्त में फैले (शत्रुम्) शत्रु को (यावयत्) हमारा सम्राट् हमारी सीमा से अलग कर दे, परे कर दे।

[साम्राज्य में उत्पन्न अन्नादि सम्पत्ति का यथोचित विभागकर्त्ता= "अंशाधिकारी" इसे विभक्ता भी कहा है यथा "विभक्तारँ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्" ॥४॥ (यजु० ३०।४)। राधसः, "राधः धननाम" (निघं० २।१०)। भगः=ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः आदि देखो "सुभगा सरस्वती" (अथर्व० ६।३।२ भाष्य)। वरुणः= "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। मित्रः="मित्रेण

मित्रधा यतस्व" (अथर्व० २।६।४) । अर्यमा=न्यायकारी, यः आर्यान् मानयति; अरीन् वा नियच्छति । अदितिः=वाक् (निघं० १।११) । अभिह्रुतः=अभि+ह्वृ कौटिल्ये । यावयत् =यु मिश्रणामिश्रणयोः (अदादिः) । अन्तितम् =अन्ति सोमा में+"तन्" विस्तृत, तनु विस्तारे (तनादिः)+डः (औणादिकः प्रत्ययः)] ।

धि॒ये सम॑श्विना॒ प्राव॑तं न उरु॒ष्या ण॑ उरुज्म॒न्नप्र॑युच्छन् ।
द्यौ॑३ष्पित॑र्या॒वय॒ दु॒च्छुना॒ या ॥३॥

(अश्विना) पुण्यकर्मों वाले दो राजा (नः) हमारी (सम् प्रावतम्) परस्पर मिलकर प्रकृष्ट रक्षा करें (धिये) सद्-बुद्धि की प्राप्ति के लिये । (ऊरुज्मन्) हे विस्तृत पृथिवी के स्वामिन् ! तू (अप्रयुच्छन्) विना प्रमाद किये (नः उरुष्य) हमारी रक्षा कर । (द्यौः, पितः) हे द्युलोक के सदृश सदा द्युतिसम्पन्न सब के पिता[1] परमेश्वर ! (या दुच्छुना) जो दुःख-दायिसुख को ओर हमारी प्रवृत्ति है उसे (यावय) हम से पृथक् कर ।

[अश्विना पुण्यकृतौ राजानौ (निरुक्त २।१ १; अश्विनौ पद १), सम्भवतः सम्राट् और वरुण राजा (यजु० ८।३७) । ये दोनों प्रजा को ऐसी शिक्षा दें जिस द्वारा प्रजाजन सद्बुद्धि वाले हो जाँय । उरुज्मन्= उरु+ज्या (पृथिवी, निघं० १।१) । राष्ट्रपति है वरुण राजा; सम्राट् है इन्द्र (यजु० ८।३७); और समग्र पृथिवी का स्वामी है "उरुज्मन्" इसे वेदों में एकराट् तथा जनराट् भी कहा है (अथर्व० ३।४।१; २०।२१।९), तथा द्यौ पिता है ब्रह्माण्ड का राजा । दुच्छुना है सांसारिक या ऐन्द्रियिक सुखों वाली दुष्प्रवृत्ति । दुच्छुना=दुः "शुनम् सुखनाम" (निघं० ३।६) सद्-बुद्धि "दुच्छुना प्रवृत्ति" की विरोधिनी है] ।

सूक्त ५

(१-३) । अथर्वा । अग्निः, इन्द्रः । अग्निः, सोमः, ब्रह्मणस्पतिः । अनुष्टुभ, २ भुरिक् ।

उदे॑नमुत्त॒रं न॒याग्ने॑ घृ॒तेना॑हुत ।
समे॑नं॒ वर्च॑सा सृज प्र॒जया॑ च ब॒हुं कृ॑धि ॥१॥

---

१. मन्त्र ६।४।१ में परमेश्वर का वर्णन मातृरूप में, और वर्तमान मन्त्र में पितृरूप में हुआ है ।

(घृतेन आहुत) घृत द्वारा आहुति[1] प्राप्त (अग्ने) हे अग्नि ! (एनम्) इस (उत्तरम्) अपेक्षया उत्कृष्ट पुरुष को (उत् नय) उन्नत कर अथवा उन्नति के मार्ग पर ले चल। (एनम्) इसे (वर्चसा) तेज के साथ (सम् सृज) संयुक्त कर, (च) और (प्रजया) सन्तान, गौ, अश्व आदि द्वारा (बहुम् कृधि) प्रभूत कर।

[सम्भवतः अग्नि द्वारा अग्निहोत्रादि यज्ञ सूचित किये हैं, तथा मन्त्र ३ भी इसी अभिप्राय का सूचक है। "एनम्" द्वारा गृहस्थ व्यक्ति अभिप्रेत है, इसलिये मन्त्र ३ में "गृहे" शब्द पठित है। "उत् नय" द्वारा "द्यौः पिता" अभिप्रेत है (सूक्त ४।३)। यज्ञियाग्नि में समुन्नत करने और प्रजा प्रदान की शक्ति नहीं]।

इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद् वशी।
रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय ॥२॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्य के स्वामिन् परमेश्वर ! (इमम्) इस गृहस्थ व्यक्ति को (प्रतरम्) औरों की अपेक्षा प्रकृष्ट (कृधि) कर, (सजातानाम्) ताकि समान घर में उत्पन्न हुओं को (वशी) वश में करने वाला (असत्) यह हो जाय। (रायस्पोषेण) धन की सम्पुष्टि के साथ (संसृज) इस का संसर्ग कर। (जीवातवे) जीने के लिये इसे (जरसे) जरावस्था तक (नय) प्राप्त करा, पहुंचा।

[गृहस्थ व्यक्ति गृह में बड़ा भाई प्रतीत होता है। यह अन्य भाईयों को निज प्रबन्ध में रख सके, यह इन्द्र से प्रार्थना की गई है। प्रबन्ध में रखने के लिये बड़े भाई की "आर्थिक समृद्धि" चाहिये ताकि वह परिवार के सब व्यक्तियों का पालन-पोषण कर सके। इसलिये "धन की पुष्टि" के साथ उस का संसर्ग भी आवश्यक है]।

---

१. घृताहुति यद्यपि यज्ञियाग्नि में दी जाती है, तो भी यह आहुति यज्ञियाग्नि प्रविष्ट परमेश्वराग्नि में दी गयी जाननी चाहिये। यथा "अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः" (अथर्व० ४।३९।९)। यज्ञियाग्नि में मन्त्रोक्तशक्ति नहीं। यह शक्ति परमेश्वराग्नि में है। यह अभिप्राय सूक्त के अन्य मन्त्रों में भी जानना चाहिये।

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम् ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदुयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥३॥

(यस्य) जिस के (गृहे) घर में (हविः कृण्मः) हविर्यज्ञ हम करते हैं (तम्) उसे (अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (वर्धय) बढ़ा । (तस्मै) उस [की वृद्धि] के लिये (सोमः) सेनाध्यक्ष, (च) और (अयम्) यह (ब्रह्मणस्पतिः) वेदविद्या का विद्वान् (अधिब्रवत्) अधिक उपदेश किया करे ।

[मन्त्र में अग्नि द्वारा परमेश्वर तथा यज्ञियाग्नि दोनों का ग्रहण है । यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२:१) । "गृहस्थी व्यक्ति" को राजनैतिक वृद्धि के लिये भी अग्नि से प्रार्थना की गई है । एतदर्थ सोम अर्थात् सेनाध्यक्ष (यजु० १७।४०) और वैदिक विद्वान् का कथन भी मन्त्र में हुआ है, ताकि इन दोनों का सहयोग यज्ञकर्ता को मिल सके । मन्त्र २ में पारिवारिक श्रेष्ठता का, तथा ३ में राजनैतिक अर्थात् राष्ट्रिय श्रेष्ठता का वर्णन हुआ है । यज्ञियाग्नि स्वास्थ्य प्रदान द्वारा वृद्धि करती है, और वेदज्ञ विद्वान् वेदोपदेश द्वारा] ।

सूक्त ६

(१-३) अथर्वा । ब्रह्मणस्पतिः, सौम्यम् । अनुष्टुभ् ।

योऽ३स्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते ।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥१॥

(ब्रह्मणस्पते) हे वेदविद्या के विद्वन् ! (यः) जो (अदेवः) परमेश्वरदेव को न मानने वाला अर्थात् नास्तिक, (अस्मान्) हमारे प्रति (अभिमन्यते) [शक्तिमान् होने का] अभिमान करता है (तम्, सर्वम्) उस सब को, (सुन्वते) भक्तिरस वाले, (यजमानाय) देवपूजा, सङ्गति करने वाले तथा दानी (मे) मेरे लिये (रन्धयासि) तू वश में कर दे ।

[अस्मान्=हम प्रजाजन । मे=प्रजाजनों के राजा । सुन्वते=देखो (६।२।३) । रन्धयासि =रधिः वशगमने (निरुक्त १०।४।३९) । यजमानाय =यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु (भ्वादिः)] ।

योनः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति ।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥२॥

(सोम) हे सेनाध्यक्ष ! (यः) जो (दुःशंसः) बुरी कीर्ति वाला अर्थात् अपमानित पुरुष (नः) हम (सुशंसिनः) उत्तम कीर्ति वालों अर्थात् सुमानितों को (आदिदेशति) आदेश देता है; (अस्य) इस के (मुखे) मुख पर (वज्रेण) वज्र द्वारा (जहि) तू प्रहार कर, (सः) वह (संपिष्टः) [प्रहार द्वारा] सम्यक् रूप से पिसा हुआ (अपायति) संसार से विगत हो जाय ।

[सोम=यजु० (१७ ४०) । शंसु स्तुतौ (भ्वादिः) स्तुति=कीर्ति । अपायति=अप (अलग होकर)+अय (गतौ, भ्वादिः)] ।

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥३॥

(सोम) हे सेनाध्यक्ष ! (यः) जो (सनाभिः) समान नाभिवाला अर्थात् समान माता से उत्पन्न, समान कुलोत्पन्न, (च) और (यः) जो (निष्ट्यः) पराया, (नः) हमारा (अभिदासति) क्षय करता है या हमें दास बनाता है, (तस्य) उसके (बलम्) बल को तथा सैनिक बल को (अप तिर) नष्ट कर, (इव) जैसे (मही द्यौः) विस्तृत द्युलोक (वधत्मना) निज बाधक या घातक स्वरूप द्वारा [अन्धकार को नष्ट करता है] ।

[अभिदासति=दसु उपक्षये (दिवादिः)। अप तिर=अपजहि (सायण)। सनाभिः=जैसे कौरव-पाण्डव समान कुलोत्पन्न थे, और परस्पर विद्वेषी भी । "द्युलोक" सूर्य, नक्षत्रों तथा ताराओं द्वारा सदा जगमगाता है, और अतः अन्धकार से रहित है] ।

सूक्त ७

(१-३) अथर्वा, सोम, अदितिः, मित्राः । निचृद् गायत्री ।

येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः ।
तेना नोऽवसा गहि ॥१॥

(सोम) हे सेनाध्यक्ष ! (येन यथा) जिस मार्ग से (अदितिः) माता (वा) या (अद्रुहः) पारस्परिक द्रोहरहित (मित्राः) मित्र (यन्ति) चलते

हैं, (तेन अवसा) उस पारस्परिक रक्षा करने वाले मार्ग द्वारा (नः) हमारी ओर (आ गहि)आ।

[अदिति=पृथिवी, वाक्, गौः (निघं० १।१; १।११; २।११)। वेद की दृष्टि में ये तीनों माताएं हैं, पृथिवी माता (अथर्व० १२।१०;१२)। वाक् अर्थात् वेदमाता (अथर्व० १९।७१।१)। गौः तो माता प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार अदिति द्वारा इन तीनों का भी ग्रहण हो सके इसलिये अदिति का अर्थ "अदीना देवमाता" (निरुक्त ४।४।१३) न होकर संकुचितार्थ ही, अर्थात् मन्त्र में केवल "माता" अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये। इस से "मानुषी माता" अर्थ भी मन्त्र में "अदिति" का किया जा सकता है। "मानुषी माता" स्नेह की सूचिका है, अपनी सब सन्तानों के प्रति। इसी प्रकार "अद्रोही मित्र" भी पारस्परिक स्नेह के सूचक हैं। ये दो दृष्टान्त देकर सेनाध्यक्ष के प्रति कहा है कि तू भी स्नेहमय-रक्षामार्ग द्वारा हम प्रजाजनों की ओर आ, [हमारे शासक रूप में आ]।

येनं सोम साहुन्त्यासुंरान् रुन्धयांसि नः।
तेना नो अधिं वोचत ॥२॥

(साहन्त्य सोम) हे शत्रु का पराभव करने वाले सेनाध्यक्ष! (येन) जिस [सैनिक बल द्वारा] तू (असुरान्) असुरों को (नः) हमारे (रन्धयासि) वश में कर देता है, (तेन=तम्) उस बल को (नः) हमारे प्रति (अधिवोचत) अधिकार पूर्वक कह।

[तेन विभक्तिव्यत्ययः। साहन्त्य=सहन्ति+ड्यण्। सहन्तिः=षह अभिभवे (सायण) झिच् (उणा० ३।५०), झोऽन्तः (अष्टा० ७।१।३) द्वारा झ को अन्त् आदेश। "ब्रह्मणस्पति" वेदज्ञ विद्वान् है, अतः विद्वत्ता के कारण उसे अधिकार प्राप्त है कि वह वेदोपदेश दे सके]।

येनं देवा असुंराणामोजांस्यवृंणीध्वम्।
तेना नः शर्मं यच्छत ॥३॥

(देवाः) हे सैनिको! (येन) जिस क्षात्रबल द्वारा (असुराणाम्) प्राण पोषक और धनलोलुप शत्रुओं के (ओजांसि) बलों को (अवृणीध्वम्) तुम ने आवृत कर दिया है, घेर लिया है या निवारित कर दिया है, (तेन) उस सैनिक बल द्वारा (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छत) प्रदान करो।

[(देवा:) "दिवु क्रीडाविजिगीषा" आदि (दिवादि:), विजिगीषु सैनिक। असुराणाम्=असु:=प्राण और वसु[1]। यथा "असुरत्वम् अनवत्त्वम्[2], [व्][3] आदिलुप्तम् (निरुक्त १०।३।३४)। अवृणीध्वम्= वृञ् आवरणे (चुरादि:)। शर्म सुखनाम (निघं० ३।६)]।

सूक्त ८

(१-३)। जमदग्निः । कायात्मा । सुपर्णः, द्यावापृथिवी, सूर्यः । पथ्यापंक्तिः

यथा वृक्षं लिबुंजा समन्तं परिषस्वजे।
एवा परिष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥१॥

(यथा) जिस प्रकार (लिबुजा) लता (समन्तम्) सब ओर से (वृक्षम्) वृक्ष को (परिषस्वजे) आलिङ्गित करती है (एवा) इसी प्रकार (माम्) मुझ को (परिष्वजस्व) तू आलिङ्गित कर, (यथा) ताकि (माम्) मुझे (कामिनी) कामना वाली (असः) तू हो, (यथा) ताकि (मत् अपगाः) मुझ से अलग हो जाने वाली (न असः) न हो।

[मन्त्र में "हे जाये" द्वारा पत्नी को सम्बोधित किया है (सायण)। रुष्ट हुई जाया को मनाने का वर्णन हुआ है]।

यथा सुपर्णः प्र पतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम्।
एवा निहन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥२॥

(यथा) जिस प्रकार (सुपर्णः) गरुड (प्रपतन्) प्रपात करता हुआ (भूम्याम्) पृथिवी पर (पक्षौ) दोनों पंखों को (निहन्ति) गतिरहित कर देता है (एवा) इसी प्रकार [हे पत्नी] (ते) तेरे (मनः) मन को (निहन्मि) मैं गतिरहित कर देता हूं, (यथा) ताकि (माम्) मुझे (कामिनी) चाहने वाली (असः) तू हो, (यथा) ताकि (मत्) मुझ से (अपगाः) अलग हो जाने वाली, छोड़ जाने वाली (न असः) तू न हो।

[गरुड पक्षी अधिक वेगवाला और शक्तिशाली होता है। पृथिवी पर

---

१. पद "अदिति" ४६ (निरुक्त ४।४।२२)।   २. अन प्राणने (अदादि:)।
३. असुरः=वसुरः=वसुमान् "व्" आदिलुप्तम् (निरुक्त)।

प्रपात करने पर वह निज पक्षों को गतिरहित कर देता है, इसी प्रकार पति रुष्ट पत्नी के मन को विचारशून्य करता है ताकि वह पति को छोड़ कर चले जाने को सोच भी न सके। यह पति का, रुष्ट पत्नी के साथ सद्-व्यवहार और प्रेम का परिणाम है]।

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥३॥

(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (सद्यः) शीघ्र (इमे, द्यावापृथिवी) इन द्युलोक और पृथिवी का (परि एति) परिक्रमण कर लेता है, (एवा) इसी प्रकार (ते) तेरे (मनः) मन का (पर्येमि) मैं परिक्रमण करता हूं। "यथा" इत्यादि पूर्ववत्।

[परिक्रमण करना = मन के चारों ओर घेरा डालना, पति के घेरे में रहना, इस घेरे से बाहिर पत्नी को न जाने देना। यह भी पत्नी के साथ सद्-व्यवहार और प्रेम का परिणाम है। इस मन्त्र की व्याख्या में भी सायण ने "योषित्" अर्थात् पत्नी सम्बन्धी सम्बोधन माना है। मन्त्र में, मन्त्र २ के सदृश, सूर्य की भी शीघ्र गति को दर्शाया है, जो कि लगभग १२ घण्टों में महाकाश को पार कर जाता है]।

सूक्त ९

(१-३)। जमदग्निः। कामात्मा। गावः। अनुष्टुभ्।

वाञ्छ मे तन्वं पादौ वाञ्छाक्ष्यौ वाञ्छ सक्थ्यौ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥१॥

(मे) मेरे (तन्वम्) शरीर को, (पादौ) पैरों को, [हे पत्नी !] (वाञ्छ) तू चाह, (अक्ष्यौ) दोनों आंखों को (वाञ्छ) तू चाह, (सक्थ्यौ) दोनों ऊरूओं [thighs] को (वाञ्छ) चाह। (वृषण्यन्त्याः) सेचनसमर्थ मुझ को चाहती हुई के, (ते) अर्थात् तेरी (अक्ष्यौ) दोनों आंखें, (केशाः) और केश (माम् कामेन) मेरे प्रति कामना के कारण (शुष्यन्तु) सूख जांय।

[पति कहता है रुष्ट हुई पत्नी के प्रति, कि विवाह से पूर्व तूने मुझे पसन्द कर लिया था और मेरे शरीर और शरीर के प्रत्येक अङ्ग को तूनें

पर्ख लिया था। अब भी तदनुसार तू मेरे शरीर और शरीर के प्रत्येक अङ्ग को चाह, मेरे किसी अङ्ग को विकृत हुआ जानकर, मुझ से रुष्ट होकर विरक्त न हो। तेरी विरक्ति के कारण, तुझे त्याग कर, मैं कहीं चला गया तो भी मैं परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं कि मुझे स्मरण करती हुई की तेरी आंखें तथा केश सूख जांय। पति के वियोग में दुःख के कारण अतिशय रोती हुई की आंखें सूख जांय, और तैल न लगाने से केश सूख जांय। जिनके परिणामभूत मेरा पुनरागमन हो और हम पुनः सुखपूर्वक सहवास कर सकें। यह अभिप्राय मन्त्र का प्रतीत होता है]। इस अभिप्राय को अगले दो मन्त्रों में स्पष्ट किया है, यथा—

मम॑ त्वा दोषणि॒श्रिषं॑ कृणोमि हृदय॒श्रिष॑म्।
यथा॒ मम॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाया॑सि ॥२॥

(मम) मेरी (दोषणिश्रिषम्) भुजा में आश्रय पाई (त्वा) तुझ को, (हृदयश्रिषम्) मेरे हृदय में आश्रय पाई (कृणोमि) मैं करता हूं, (यथा) जिस प्रकार कि (मम) मेरी (क्रतौ) प्रज्ञा और कर्म में (असः) तू हो जा, और (मम) मेरे (चित्तम् उप) चित्त के समीप (अयसि) तू आ जा।

["क्रतु प्रज्ञानाम", तथा "कर्मनाम" (निघं० ३।९; २।१)। अभिप्राय यह कि तू मेरे विचार और कर्म के अनुकूल वर्ताव कर]।

यासां॒ नाभि॑रा॒रेह॑णं हृ॒दि सं॒वन॑नं कृ॒तम्।
गावो॑ घृ॒तस्य॑ मा॒तरो॒ऽमूं सं वा॑नयन्तु मे ॥३॥

(यासाम्) जिन स्त्रियों की (नाभिः) नाभि अङ्ग (आरेहणम्) कत्थन अर्थात् प्रशंसा योग्य है, और (हृदि) हृदय में (संवननम्) वशीकरण (कृतम्) परमेश्वर ने स्थापित किया है, वे (गावः) गौओं की तरह (घृतस्य) घृत की अर्थात् स्नेहघृत[1] की (मातरः) निर्मात्री हैं, (अमूम्) उस मेरी पत्नी को [गृह की अन्य देवियां] (मे) मेरी (संवानयन्तु) भक्ति में या वशीकरण में करें।

[आरेहणम्=रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु। "रिह" इत्येके

१. घृतस्य=घृतोपलक्षितस्नेहघृतस्य निर्मात्र्यः गाव इव।

(तुदादिः); कत्थन=श्लाघा (भ्वादिः), प्रशंसा । स्त्रियों की नाभि श्लाघा सम्पन्न है, यतः यह सन्तानोत्पादिका है । शिशु माता की नाभि से बन्धे उत्पन्न होते हैं । यथा "नाभ्या संनद्धाः पुत्रा जायन्ते" यह प्रसिद्ध उक्ति है । मन्त्र में गावः पद में उपमावाचक पद विलुप्त है । अभिप्राय है "गावः इव गावः", अर्थात् गौएं जैसे नवजात वत्स के प्रति स्नेहमयी होती हैं उसी प्रकार परस्पर स्नेहमयी पारिवारिक स्त्रियां । यथा "अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या" (अथर्व० ३।३०।१) । अथर्व० १४।२।५३-५८ मन्त्रों में गोधर्मों का प्रवेश वधू में वर्णित कर वधू को गोरूपता दी है, अर्थात् गृहस्थ जीवन में वधू को गोरूप में वर्णित किया है । अतः धर्मसाम्य द्वारा गोपद द्वारा पारिवारिक स्त्रियों का ग्रहण भी वेदानुमोदित है ।

तथा

मन्त्र में गावः पद द्वारा वेदवाक् अभिप्रेत है, "गौः वाङ्नाम" (निघं० १।११) । अतः "गावः संवानयन्तु मे" का अभिप्राय है "वेदवाणियां मेरे लिये पत्नी को सम्यक् भक्तिपरायणा करें" । वन संभक्तौ (भ्वादिः) । विवाह सम्बन्धी मन्त्रों (अथर्व० १४।२) में पति-पत्नी भाव में सम्बद्ध हुए वर-वधू को परस्पर प्रेम में बन्धे रहने के उपदेश दिये हैं । रुष्टापत्नी उन उपदेशों को स्मरण कर पति के प्रति स्नेहभावना परायणा हो,—यह विचार भी मन्त्र में प्रकट किया है ।

सूक्त १०

(१-३) । शन्तातिः । पृथिवी, श्रोत्र आदि मन्त्रोक्त देवताः । द्वैपदम्, १ साम्नी त्रिष्टुप्, २ प्राजापत्या बृहती, ३ साम्नी बृहती ।

पृथि॒व्यै श्रोत्रा॑य॒ वन॒स्पति॑भ्यो॒ऽग्नये॒ऽधि॑पतये॒ स्वाहा॑ ॥१॥

"पृथिवी के लिये, श्रोत्र, के लिये, वनस्पतियों के लिये, अधिपति अग्नि के लिये स्वाहा हो [हविः की आहुतियां हों"] ।

[मन्त्र में पृथिवी आदि का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है, ताकि मन्त्रों में किसी एक के श्रवण द्वारा तत्सम्बन्धी अन्य तत्त्वों का स्मरण हो सके । पृथिवी सम्बन्धी अन्य तत्त्व हैं श्रोत्र, वनस्पतियां, तथा अग्नि । पृथिवी पर ही श्रवणशक्ति सम्पन्न प्राणी रहते हैं । अतः पृथिवी के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध कहा है] ।

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥२॥

"अन्तरिक्ष के लिये, श्वासोच्छ्वासरूप प्राणसम्बन्धी नासिका के लिये, पक्षियों के लिये, अधिपति वायु के लिये स्वाहा हो [हविः को आहुतियां हों]।"

[व्याख्या मन्त्र १ वत्। अन्तरिक्ष के साथ नासिका, पक्षियों, अधिपति वायु का सम्बन्ध है]।

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाऽधिपतये स्वाहा ॥३॥

"द्युलोक के लिये, चक्षु के लिये, नक्षत्रों के लिये, अधिपति सूर्य के लिये स्वाहा हो [हविः की आहुतियां हों]"।

[द्युलोकस्थ सूर्य के प्रकाश के साथ चक्षु का सम्बन्ध है, सूर्य के प्रकाश में चक्षु की दृष्टिशक्ति कार्य करती है। सूर्य का प्रतीयमान परिभ्रमण द्युलोकस्थित नक्षत्रों में होता है, क्योंकि राशिचक्र नक्षत्रों में विद्यमान है। अतः इन सब का परस्पर सम्बन्ध है। तीनों लोकों और तत्स्थ तत्त्वों की शुद्धि के लिये यज्ञों का वर्णन हुआ है]।

षष्ठ काण्ड, प्रथमानुवाक सम्पूर्ण

अनुवाक २

सूक्त ११

(१-३) प्रजापतिः । रेतोदेवता उत मन्त्रोक्त देवता । अनुष्टुभ् ।

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम् ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥१॥

(शमीम्, अश्वत्थः, आरूढः) शमी वृक्ष पर अश्वत्थ वृक्ष आरूढ हुआ, (तत्र) उस कर्म में (पुंसुवनम्) पुमान्-पुत्र का उत्पत्ति कर्म (कृतम्) किया गया। (तद्) वह कर्म (वै) निश्चय से (पुत्रस्य) पुत्र की (वेदनम्) प्राप्ति कराता है, (तत्) उसे (स्त्रीषु) स्त्रियों में (आ भरामसि) हम सम्पादित करते हैं [रेतस् को स्थापित करते हैं, मन्त्र २]

[मन्त्र में गर्भाधान सम्बन्धी कर्म का वर्णन है। शमी द्वारा शान्त प्रकृतिक स्त्री अर्थात् पत्नी का वर्णन है, और अश्वत्थ द्वारा दृढ़ाङ्ग परिपुष्ट पति का। इस परिस्थिति में पुत्र की उत्पत्ति होती है। अश्वत्थः= शक्ति में अश्व के सदृश स्थिति वाला पति। स्त्रीषु और आभरामसि में बहुवचन है। इस द्वारा भिन्न-भिन्न परिवार की नाना पत्नियों और नाना पतियों को सूचित किया है]।

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥२॥

(पुंसि) पुमान् में (वै) निश्चय से (रेतस्) वीर्य (भवति) होता है, (तत्) उसे (स्त्रियाम्) स्त्री में (अनु) विधि के अनुकूल (सिच्यते) सींचा जाता है। (तत्) वह वीर्य (वै) निश्चय से (पुत्रस्य) पुत्र की (वेदनम्) प्राप्ति कराता है (तत्) यह (प्रजापतिः) प्रजाओं के पति परमेश्वर ने (अब्रवीत्) कहा है।

[स्त्रियाम् में एकवचन द्वारा पत्नी की एकता को सूचित कर, तद् द्वारा पति की एकता को सूचित किया है]।

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य्चीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधदिह ॥३॥

(प्रजापतिः) प्रजाओं के पति परमेश्वर ने, (अनुमतिः)पति के अनुकूल मति वाली पत्नी ने, (सिनीवाली) अन्नवाली तथा सुन्दर केशों वाली पत्नी ने, (अचीक्लृपत्) रेतस् का [पुत्ररूप में] निर्माण किया है। (स्त्रैषूयम्) कन्या की उत्पत्ति [प्रजापति ने] (अन्यत्र) भिन्न अवस्था में (दधत्) स्थापित की है, (उ) और (पुमांसम्) पुमान् की उत्पत्ति (इह) यहां (दधत्) स्थापित की है, अर्थात् पति के अश्वत्थ सदृश शक्तिशाली होने पर।

[(१) प्रजापति द्वारा निर्मित नियम "अश्वत्थ और शमी" शब्दों द्वारा कथित नियम, (२) और पत्यनुरक्ता पत्नी, (३) तथा प्रभूत अन्नवाली पत्नी, ये पुत्र तथा कन्या की उत्पत्ति में सामर्थ्य वाले होते हैं। पत्नी यदि पत्यनुरक्ता न हो तो परस्पर प्रेम के अभाव में श्रेष्ठ सन्तानें उत्पन्न नहीं होतीं।

पत्नी के गृह में यदि खाद्य और पेय की यथोचित मात्रा न हो तो माता और सन्तानों का यथेष्ट पालन-पोषण न हो सकने से भी सन्तानें निर्बल हो जाती हैं।

अनुमति और सिनीवाली चन्द्रकला-विशेष नहीं, अपितु देवपत्नियां हैं, दिव्यपुरुषों की पत्नियां हैं, "देवपत्न्यौ" इति नैरुक्ताः (निरुक्त ११।३।३२; पद सिनीवाली २२); सिनम् अन्ननाम (निघं० २।७)। अचीक्लृपत् =कृपू सामर्थ्ये (भ्वादिः)। अन्यत्र =स्त्री के अश्वत्थ-सदृश शक्तिशाली, और पति के शमी आकृतिक अर्थात् निर्बल होने पर]।

सूक्त १२

(१-३)। गरुत्मान्। तक्ष देवता। अनुष्टुभ्।

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम्।
रात्री जगदिवान्यद् हंसात्तेना ते वारये विषम् ॥१॥

(सूर्यः) सूर्य (इव) जैसे (द्याम् परि) द्युलोक के समीप, वैसे (अहीनाम् जनिम्) सांपों की जाति के समीप (आगमम्) मैं [विषवैद्य] आ गया

हूं। (रात्री) तथा रात्रि (इव) जैसे (अन्यत् हंसात्) सूर्य से भिन्न (जगत्) जगत् को [व्याप लेती है वैसे मैंने उसे घेर लिया है] (तेन) उस [हंस] द्वारा (ते) तेरे (विषम्) विष को (वारये) मैं निवारित करता हूं।

[विषवैद्य, विषाविष्ट व्यक्ति से कहता है कि मैंने सांपों की सब जातियों को घेरा हुआ है, तो भी इनके विष से रहित हूं, मुझ पर विश्वास कर, मैं तुझे विष के प्रभाव से मुक्त कर दूंगा। जैसे सूर्य द्युलोक के अन्धकार को दूर करता है, वैसे तेरे निराशान्धकार को मैं दूर कर दूंगा। जैसे रात्री जगत् को व्याप लेती है और हंस अर्थात् सूर्य की नहीं, वैसे विष तुझे व्याप्त नहीं करेगा। उस हंस के द्वारा मैं तेरे विष को निवारित करूंगा।

हंस है सूर्य। "हन्ति" अन्धकारम्, "सनोति" प्रकाशम्; षणु दाने (तनादिः)। सूर्य की प्रातःकाल और सायंकाल की लाल-रश्मियों में रोग-कीटाणुओं के हनन का सामर्थ्य है। यथा "उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि" (अथर्व० २।३२।१)। आदित्य की सप्तरश्मियों में पृथक्-पृथक् क्रिमियों, तथा उनके विषों के हनन करने की शक्ति विद्यमान है। उन रश्मियों के प्रयोग द्वारा भी तेरे विष का मैं निवारण कर दूंगा।

हंसः=सूर्यः (अथर्व० १०।८।११)। तेना=तेन, सूर्येण। सप्तरश्मिः= एकोऽश्वो वहति "सप्तनामा" आदित्यः, सप्तास्मै रश्मयो रसानभि सन्नामयन्ति" (निरुक्त ४।४।२७; ऋक् १।१६४।२)। वर्षर्तु में इन्द्रधनुष् में सात रश्मियां प्रकट होती हैं। एकःअश्वः=एक शुक्ल रश्मिः। वह ही है सप्तनामा=सात रश्मियों में परिणत, रश्मि-सप्तक। मन्त्र में सूर्यरश्मि-चिकित्सा का कथन हुआ है]।

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा।
यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥२॥

(यत्) जो औषध (ब्रह्मभिः) ब्रह्म अर्थात् वेद के वेत्ताओं ने, (यत्) जो (ऋषिभिः) मन्त्रद्रष्टाओं ने, (यत्) जो (देवैः) विद्वानों ने (पुरा) पुरातन काल में (विदितम्) जानी है। (यत्) जो औषध (भूतम्; भव्यम्) भूतकाल में हुई है, और जो भविष्य में होगी [वह है] (आसन्वत् विषम्)

मुख वाला विष, (तेना=तेन) उस मुखवाले विष द्वारा (ते) तेरे [विषम्] विष को (वारये) मैं निवारित करता हूं।

[आसन्वत् विषम्=सर्प के मुख वाला विष, सर्प के मुख में रहने वाला विष। इस प्रकार की विचित्रोक्ति वेद में अन्यत्र भी पाई जाती है, यथा "दन्वती रज्जुः" अर्थात् दान्तों वाली रस्सी=सांप[1] (अथर्व ४।३।२; १९।४७।७)। मन्त्र में सर्पविष द्वारा तद्भिन्न विष के निवारण का वर्णन है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध उक्ति है "विषस्य विषमौषधम्"]।

मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु।
मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥३॥

(मध्वा) उदक द्वारा (पृञ्चे) मैं तेरा सम्पर्क करता हूं, (नद्यः) नदियां (पर्वताः) पर्वतसदृश अन्तरिक्ष में अत्युच्च प्रदेशस्थ मेघ, (गिरयः) छोटे पर्वतों के सदृश अन्तरिक्ष में अल्पोच्च प्रदेश में स्थित मेघ (मधु) उदक रूप हैं। (परुष्णी) बहुतों को स्नान कराने वाली नदी (मधु) उदकरूपा है, (शीपाला) और शयनावस्था से पालने वाली अर्थात् सुरक्षा करने वाली है। [जल समूह तेरे] (आस्ने) मुख के लिये (शम्) सुखरूप और (हृदे) हृदय के लिये (शम्) सुखरूप (अस्तु) हो।

[मन्त्र में सर्प विषाक्त रोगी को सम्बोधित कर कहा है कि - तेरे विष की चिकित्सा के लिये मैं विषवैद्य तेरे साथ उदक का सम्पर्क करता हूं, और विषवैद्य ने भिन्न-भिन्न प्रकार के उदकों का वर्णन मन्त्र द्वारा दर्शाया है। भिन्न-भिन्न प्रकार के उदकों में विष के निवारण की शक्ति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की है। नदी के प्रवाहशील उदक में बैठ कर चिकित्सा करने से शरीरगत विष प्रवाह के साथ प्रवाहित हो जाता है। अन्तरिक्ष के उच्च तथा निचले प्रदेशों के मेघों में भी विष निवारण शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। अतः इन द्विविध प्रकार के मेघों का कथन किया है। परुष्णी है "पुरुष्णी" बहुतों को युगपत् स्नान करा सकने वाली, इरावती [बहूदका] नदी (निरुक्त ९।३।२५)। यह परुष्णी शीपाला है, विष का निवारण करके विषाक्त को शयन करने से बचा देती है। सर्प विषाक्त रोगी में शयन करने की प्रवृत्ति हो जाती है, जो कि

---

१. तथा "दत्वती अरणी (अथर्व ७।१०८।१)। =दान्तों वाली अग्न्युत्पादक लक्कड़ी=सांप।

उस के लिये घातक होती है। जैसे कि कहा है कि "सर्पकटा सोए और विच्छू कटा रोए"। मन्त्र में जलचिकित्सा का वर्णन हुआ है। जल-चिकित्सा के विशेषज्ञ के परामर्श द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के जलों द्वारा जलचिकित्सा करनी चाहिये। जलचिकित्सा से मुख के तथा हृदय के रोग शान्त होकर सुखप्रदान करते हैं। पर्वतः मेघनाम (निघं० १।१०)। गिरिः मेघनाम (निघं० १।१०)। मधु उदकनाम (निघं० १।१२)। शम् सुखनाम (निघं० ३।६)। शोपाला=शीङ् स्वप्ने [शयने] (अदादिः)+ पाल रक्षणे (चुरादिः)]।

सूक्त १३

(१-३)। अथर्वा। (स्वस्त्ययनकामः) मृत्युः। अनुष्टुभ्।

नमो॑ देवव॒धेभ्यो॒ नमो॑ राजव॒धेभ्यः॑।
अथो॒ ये विश्या॑नां व॒धास्तेभ्यो॑ मृत्यो॒ नमो॑ऽस्तु ते ॥१॥

(देववधेभ्यः) [शत्रु के] सैनिकों के वधों के लिये (नमः) वज्रायुध हो, (राजवधेभ्यः) उनके राजाओं के वधों के लिये (नमः) वज्रायुध हो। (अथो) तथा (विश्यानाम्) वैश्यों के (ये वधाः) जो वध हैं (तेभ्यः) उन के लिये (मृत्यो) हे मृत्यु! (ते) वे जो कि तेरे हैं, (नमः) वज्रायुध (अस्तु) हो।

[मन्त्र युद्ध सम्बन्धी है, यथा "जयकामः स्वसेनां परितः प्रतिदिशम् उपस्थानं कुर्यात्", "नमो देववधेभ्यः इत्युपतिष्ठते" (कौशिक सूत्र १४।२५), तथा (सायण)। अतः जय-युद्ध में परकीय सेनाओं उनके राजाओं तथा वैश्यों के वध के लिये वज्रायुध आवश्यक हैं, "नमः वज्रनाम" (निघं० २।२०)। युद्ध में जिनका वध अवश्यंभावी है उन्हें मृत्यु का सम्बन्धी कहा है। "देव" हैं विजिगीषा की भावना वाले परराष्ट्र सैनिक, यथा "दिवु क्रीडाविजिगीषा" आदि (दिवादिः)। युद्ध में सैनिकों, राजवर्ग, तथा वैश्यवर्ग आदि का वध होता ही है, अतः इनका कथन हुआ है]।

नम॑स्ते अधिवा॒काय॑ परावा॒काय॑ ते॒ नमः॑।
सुम॒त्यै मृ॑त्यो ते॒ नमो॑ दुर्म॒त्यै त॑ इ॒दं नमः॑ ॥२॥

(मृत्यो) हे [युद्ध में होने वाली] मृत्यु! (ते) तेरे [स्वरूप के] (अधिवाकाय) अधिकृत वक्ता के लिये (नमः) नमस्कार हो, (ते) तेरे

(परावाकाय) पराविद्या के वक्ता के लिये (नमः) नमस्कार हो। (ते) तेरे (सुमत्यै) सुमति वाले दूत के लिये (नमः) नमस्कार हो, (ते) तेरे (दुर्मत्यै) दुर्मति वाले दूत के लिये (इदम्) यह (नमः) नमस्कार हो।

[सायण के अनुसार मन्त्र में "दूतों" का वर्णन है (१३।२)। 'अधिवाक' तो युद्ध न चाहने वाले राष्ट्र का दूत है, जो कि युद्धेच्छु परराष्ट्र में निज दूतावास का अधिकृताधिकारी है, और "परावाक" है युद्धेच्छु पर-राष्ट्र का दूत, जो कि पराविद्या का जानने वाला शान्तिप्रिय राष्ट्र में निज दूतावास का अधिकृताधिकारी है। युद्धकाल में भी इन दूतों पर प्रहार न करना चाहिये, युद्धकाल में भी ये नमस्कार के योग्य हैं, आदर और सम्मान के योग्य हैं। मन्त्र के इस पूर्वार्ध में पुरुष-दूतों का वर्णन हुआ है। मन्त्र के उत्तरार्ध में स्त्रीदूतों का कथन हुआ है। जो स्त्रीदूत शान्ति-प्रिय राष्ट्र का है उसे सुमति वाला कहा है, और जो स्त्रीदूत युद्धेच्छु राष्ट्र का है उसे दुर्मतिरूप कहा है।

आप्टे कोश में अधिवचनम् का अर्थ है Advocacy। एतदनुसार अधिवाक का अर्थ होगा "Advocate" की योग्यता वाला अधिवक्ता। दूतावासों में दूत Advocates की योग्यता वाले होने चाहियें, यह अभिप्राय है। Ad(अधि)+vocate(वक्ता)]।

नम॑स्ते यातुधाने॑भ्यो नम॑स्ते भेषजेभ्यः॑ ।
नम॑स्ते मृत्यो मूले॑भ्यो ब्राह्मणेभ्य॑ इदं नमः॑ ॥३॥

(मृत्यो) हे मृत्यु! (ते) तेरे (यातुधानेभ्यः) यातुधानों के लिये (नमः) नमस्कार हो, (ते) तेरे (भेषजेभ्यः) भेषजों के लिये (नमः) नमस्कार हो। (ते) तेरे (मूलेभ्यः) मूलों के लिये (नमः) नमस्कार हो, तथा (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मवेत्ताओं के लिये (इदम्, नमः) यह नमस्कार हो।

[सूक्त में यतः युद्ध का वर्णन है, और युद्ध में मृत्युएं अवश्यम्भावी हैं, अतः मृत्यु का सम्बन्ध युद्ध में दर्शाया है। "यातुधानेभ्यः" का अर्थ मन्त्र में "यातनाओं के निधान" अर्थ नहीं, अपितु युद्ध में सेवा के लिये, जाने-आने वाले सेवकों का वर्णन है। यातु=जाने-आने वाले, धान=धारण-पोषण करने वाले। इस अर्थ में यातु पद=यातवः के लिये, अथर्ववेद में प्रयुक्त हुआ है (काण्ड १३। अनुवाक ४। मन्त्र ६ (२७)। "भेषजेभ्यः"= रक्षाकरेभ्यः (सायण), अर्थात् युद्ध में घायल हुओं की सेवा ओषधियों

द्वारा करने वाले, अर्थात् Redcross society वालों के लिये, मूलेभ्यः[1] =पुरुषजाति के मूलभूत बच्चों[1] के लिये "ब्राह्मणेभ्यः" ब्रह्मवेत्ताओं और वेदवेत्ताओं के लिये। इन चार प्रकार के पुरुषों पर वज्रप्रहार युद्ध में न होना चाहिये, ये चारों रक्षा के योग्य हैं। इस सिद्धान्त को नमः अर्थात् नमस्कार द्वारा कथित किया है। यही तभी सम्भव है जब कि इन चारों को युद्धकारी सैनिक विभाग में भर्ती न किया जाय। ब्राह्मणेभ्यः=ब्रह्मवेत्ता मनुष्य युद्धकाल में भी नमस्कार के योग्य हैं, चाहे वे शत्रु के राज्य में भी रहते हों, उन पर प्रहार न होना चाहिये]।

सूक्त १४

(१-३)। बभ्रु पिङ्गलः। बलासः। अनुष्टुभ्।

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम्।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥१॥

[हे वैद्य] (अस्थिस्रंसम्) हड्डी को स्वस्थान से च्युत कर देने वाले, (परुस्रंसम्) जोड़ों को ढीला कर देने वाले, (सर्वम्) सब (बलासम्) बलास रोग को, तथा (आस्थितम्) स्थिर हुए (हृदयामयम्) हृद्रोग को (नाशय) नष्ट कर, तथा (यः) जो (अङ्गेष्ठाः) शरीर के किसी अंग में स्थित (च) और (पर्वसु) जोड़ों में रोग है [उसे नष्ट कर]

[बलास=रोग जो कि शारीरिक बल को नष्ट कर देता है, "बल+असु क्षेपणे" (दिवादिः)। बलासः कासश्वासात्मकश्लेष्मरोगः (सायण)। मन्त्र में नाना रोगों का वर्णन हुआ है। यथा चोट के कारण अस्थि और परु का स्वस्थान से च्युत हो जाना, स्रंसु अवस्रंसने (भ्वादिः), अवस्रंसनम् =Dropping, or falling down, fall (आप्टे); (२) हृदयामय; (३) बलास =श्लेष्मरोग या क्षय; (४) अंगेष्ठाः=Rheumation (वात पीड़ा); (५) पर्वसु=जोड़ों का दर्द, Arthritis (gout, गठिया)]।

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा।
छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव ॥२॥

(बलासिनः) बलासरोग वाले रोगी के (बलासम्) बलास रोग को

1. मूलबलभूतेभ्यः पुरुषेभ्यः (सायण)।

(निः क्षिणोमि) निःशेषतया मैं क्षीण करता हूं, (यथा) जैसे कि (मुष्करम्) चोरी करने वाले चोर का निःशेषतया अर्थात् पूर्णतया क्षय कर दिया जाता है। (अस्य) इस रोग के (बन्धनम्) शरीर के साथ बान्धने वाले (मूलम्) मूलकारण को (छिनद्मि) मैं उच्छिन्न कर देता हूं, (इव) जैसे कि (उर्वार्वाः) ककड़ी का बन्धन कट जाता है।

["उर्वार्वाः" परिपक्व उर्वारु अर्थात् ककड़ी का बन्धन लता के साथ आसानी से स्वयमेव कट जाता है यथा "उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्' (ऋ० ७।५९।१२); इसी प्रकार बलास के बन्धन को मैं (वैद्य) आसानी से काट देता हूं। चोर को चोरी के लिये उग्र दण्ड का विधान हुआ है। उग्रदण्ड के बिना सामाजिक जीवन का परिशोधन नहीं हो सकता]।

निर्बलासेतः प्र पताशुंगः शिंशुको यथा।
अथो इट इव हायनोऽप द्राह्यवीरहा ॥३॥

(बलास) हे बलास रोग ! (इतः) इस शरीर से (निःपत) निकल चला जा, (यथा) जैसे कि (आशुंगः[1]) शीघ्रगामी (शिशुकः) मृग ! (अथो) तथा (इटः) चला गया (हायनः) वर्षकाल (इव) जैसे [फिर नहीं लौटता] वैसे (उप द्राहि) तू शरीर से अलग होकर चला जा और (अवीरहा) इस वीर का हनन न कर। "इटः=इट गतौ (भ्वादिः)"।

सूक्त १५

(१-३)। उद्दालकः। वनस्पतिः। अनुष्टुभ्।

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥१॥

(ओषधीनाम्) ओषधियों में (उत्तमः असि) तू उत्तम [ओषधि] है, (वृक्षाः) वृक्ष (तव) तेरे (उपस्तयः) आश्रय रूप हैं [तू उन पर आरूढ है], (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) उपलक्ष्य करके हमारी

१. "आशुंगः; शिशुकः=शुशुक एतत्संज्ञो मृगः" (सायण)। अथवा शिशुकः अल्पवयस्को मृगः, अन्यो वा प्राणी।

हिंसा करता है, या हमें दास बनाता है (सः) वह (अस्माकम्) हमारे (उपस्तिः[1] अस्तु) आश्रय में स्थित हो, हमारे अधीन हो जाय।

[उपस्तिः=उप+अस्तिः (अस भुवि; अदादिः) अस्तिः तिङन्त-प्रतिरूपक नाम पद। अस्तिः के अकार का लोप। दासति+दसु उपक्षये (दिवादिः)। उत्तमपद पुंलिङ्ग है, अतः ओषधि पद का प्रयोग भी पुंलिङ्ग में हुआ है]।

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥२॥

(सबन्धुः) समान नाभिबन्धन वाला, (च) और (असबन्धुः) परकीय नाभिबन्धन वाला (यः) जो (च) भी (अस्मान्) हमें (अभि दासति) उपलक्ष्य करके हमारा उपक्षय करता है, (इव) इसी प्रकार (तेषाम्) उनमें (अहम्) मैं (उत्तमः) उत्कृष्ट शक्ति वाला (भूयासम्) हो जाऊं, (सा) वह ओषधि जैसे (वृक्षाणाम्) वृक्षों में उत्तम है।

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः।
तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥३॥

(यथा) जैसे (ओषधीनाम् हविषाम्) हविष्य ओषधियों में (सोमः) सोम (उत्तमः) उत्तम (कृतः) विधाता ने किया है, तथा (वृक्षाणाम्) वृक्षों में (तलाशा) तलाश ओषधि उत्तम की गई है, (इव) इसो प्रकार (अहम्) मैं (उत्तमः भूयासम्) [सबन्धुओं और असबन्धुओं में] उत्तम हो जाऊं।

[तलाशा स्त्रीलिङ्ग एक वचन। सायण ने "तलाशा" का अर्थ "पलाश" वृक्ष किया है। "तलाशा" [स्त्रीलिङ्ग] ओषधि है (मन्त्र १)। तलाशा=तल (प्रतिष्ठायाम्, चुरादिः)+आ (व्याप्य),+शीङ् (स्वप्ने; अदादिः)+डः (प्रत्यय औणादिकः)+टाप् [स्त्रियाम्] वृक्षों को निज आधाररूप करके और उन्हें व्याप्त करके, शयन करने वाली ओषधि। वृक्ष और ओषधियां हैं "ऊर्ध्वस्वप्नाः" (अथर्व० ६।४४।१) जो कि ऊर्ध्व दिशा की ओर बढ़ते हैं और स्वप्नावस्था में होते हैं, शयन करते हैं]।

---

१. उपस्तिः=उपासकः, उपक्षीणः; (सायण), उप+अस् (भुवि), या आस उपवेशने (अदादिः), या असु क्षेपणे (दिवादिः)।

सूक्त १६

(१-४) । शौनकः । चन्द्रमाः, मन्त्रोक्तदेवताः । अनुष्टुभ्; १ निचृत्त्रिपदा गायत्री; ३ बृहतीगर्भा ककुम्मत्यनुष्टुभ्; ४ त्रिपदा प्रतिष्ठा ।

आवयो अनावयो रसस्त उग्र आवयो ।
आ ते करम्भमद्मसि ॥१॥

(आवयः) [हे परमेश्वर ! तू प्रलयकाल में सृष्टि का] भक्षण[1] कर लेता है, (अनावयः) [और सृष्टिकाल में तू सृष्टि का] भक्षण नहीं करता । (आवयः) हे भक्षण करने वाले ! प्रलय काल में (ते) तेरा (उग्रः रसः) उद्गीर्ण आनन्दरस[2] रहता है, (ते) तेरे (करम्भम्) हाथ में दीप्त हुए उस रस[2] का (आ अद्मसि) हम पूर्णतया भोग करते हैं ।

[सूक्त १६ में ४ मन्त्र हैं । समग्र सूक्त का अभिप्राय अत्यन्त अस्पष्ट है । कौशिक सूत्रों और तदनुसार सायणभाष्य में सूक्त का विनियोग अक्षिरोग, तद्भैषज्यरूप सर्षपतैल आदि में किया है, परन्तु समग्र सूक्त में इस का निर्देशक कोई पद नहीं । अपितु समग्र सूक्त अध्यात्म विषयप्रतिपादक है । प्रलय काल में परमेश्वर के हाथ में मानो उसका उग्र आनन्दरस अवशिष्ट रहता है, जिसका कि भक्षण अर्थात् आस्वादन मुक्तात्माएं करती हैं । वेद की वर्णन शैली कवितामय प्रायः होती है अतः उसके "कर" अर्थात् हाथ का वर्णन भी हुआ है । वस्तुतः वह "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" है] ।

विहह्लो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता ।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥२॥

[हे जीवात्मन् !] (विहह्लः[3]) विशेष आह्लाद वाला [परमेश्वर] (ते) तेरा (पिता) पिता है, (मदावती) मदमस्त कर देने वाली [प्रकृति] (ते माता) तेरी माता है । (सः) वह तू (हिन) स्वयम् अपनी वृद्धि कर,

---

१. इसलिये परमेश्वर "अन्नाद" है ।

२. रसो वै सः । रसं ह्येष लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति (तै० उप० ब्रह्मानन्द वल्ली ७) ।

३. विहह्लः=वि+ह्लादी सुखे च (भ्वादिः) । विहह्लः=वि+ह्ल (यङ्-लुक्)+डः (औणादिक), डित्वात् टि लोपः ।

(त्वम्, असि) तू तो [प्रकृति से][1] पृथक् है, (यस्त्वम्) जो तू ने कि (आत्मानम्) निज आत्म-स्वरूप को (आवयः) भक्षित सा कर लिया है, भुला सा दिया हुआ है।

[परमेश्वर विशेषेण सुखस्वरूप है, प्रकृति जीवात्मा को मदमस्त कर देती है, तब वह सुखदायक पिता से विमुख हो जाता है। इसलिये उसे कहा है कि तू प्रकृति के मद का त्याग कर और (हिन) वृद्धि को प्राप्त हो। तू तो प्रकृति से पृथक् है, चाहे तेरा शरीर प्रकृतिजन्य है। तूने निज आत्म-स्वरूप को भुला दिया है। आवयः=आवयतिः अतिकर्मा (सायण), आ+वी (गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसन'खादनेषु' (अदादिः) "नाम" पद प्रसिद्धार्थक। हिन=हि गतौ वृद्धौ च (स्वादिः)।

तौविलिकेऽवेलयावायमैलव ऐलयीत्।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥३॥

(तौविलिके) हे हिंसाकारिणी प्रकृति ! (अवेलय=अव, इलय) तू अवाङ्-मुख होकर क्षिप्त हो जा, हट जा, (अयम्) यह (ऐलवः) प्रेरित हुआ जीवात्मा (अव, ऐलयीत्) तेरे स्वरूप को अवगत करके तुझ से विमुख प्रेरित हो चुका है। (च) तथा (बभ्रुः) शरीर का भरण-पोषण करने वाला जीवात्मा (च) और (बभ्रुकर्णः) शरीर का भरण-पोषण करने वाला कर्ण आदि इन्द्रियसमूह दोनों ही [तुझ से विमुख हो चुके हैं, (अपेहि) अतः तू अपगत हो जा, (निराल)तू निश्चयेन निवारित[2] हो जा।

[तौविलिका=तुर्वी हिंसायाम् (भ्वादिः)+ठञ् (वृद्धि ञित् होने से; और "ठ" को इक् आदेश);" "र्" को "ल्" रलयोरभेदः, रकार और वकार वर्णों का व्यत्यास। अवेलय=अव+इल (क्षेपणे, तुदादिः)। ऐलवः, ऐलयीत् =इल प्रेरणे (चुरादिः)। निराल =निर्+आ+अल वारणे (भ्वादिः)। अभिप्राय यह कि जीवात्मा ने प्रकृति का स्वरूप जब जान लिया कि प्रकृति हिंसाकारिणी है, तब वह प्रकृति से विमुख हो

१. यथा "सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानो असि [जीवात्मा के लिये] (अथर्व० २।११।४)।

२. अल भूषणपर्याप्ति "वारणेषु" (भ्वादिः)। निराल=निर्+आ+अल (वारणे)।

जाता है, और इन्द्रियसमूह भी प्रकृतिप्रदत्त भोगों से विमुख हो कर और अधिक भोग नहीं चाहता]।

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा।
नीलागलसाला ॥४॥

(अलसाला, असि, पूर्वा) हे प्रकृति! क्रम में पहली तू है, भूषण के सदृश शोभायमाना, चमकीलो है; (सिलाञ्जाला, असि, उत्तरा) तदुत्तर तू बन्धनकारिणी, गतिशीला और जालरूपा है; [तदुत्तर तू] (नीलागल-साला) नीलवर्णवाली, गत्यभाववाली हुई शोभायमाना होती है।

[मन्त्र में "मदावती" (मन्त्र ३) में कथित प्रकृति का ही वर्णन (मन्त्र ४) में हुआ है। प्रकृति के घटक अवयवों का क्रम है, सत्त्व, रजस्, तमस्। इन्हीं घटकों के क्रम का वर्णन मन्त्र में हुआ है। अलसाला=अलरूपेण शालते इति, जो कि भूषण के रूप में चमकती है वह प्रकृति। अल भूषण-पर्याप्तिवारणेषु (भ्वादिः)। सत्त्व है भूषण के सदृश चमकीला अर्थात् प्रकाशक "सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्" (सांख्यसिद्धान्तकारिका)। सिला-ञ्जाला=षिञ् बन्धने+ल (मत्वर्थीय), [यथा मधु, मधुर, मधुल]+ अम गतौ (भ्वादिः)+जाला। अर्थात् यह द्वितीयरूपा प्रकृति है, यह बन्धनकारिणी, गतिशीला, और जालरूपा है। यह रूप प्रकृति का, जीवात्मा को बन्धन में बान्धता है। यथा "रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठाः" (अथर्व ८।२।१)। यह "रजस्" रूपा प्रकृति है, जो कि शरीर के जाल में जीवात्मा को बान्धती है। नीलागलसाला= नील अर्थात् कृष्ण+अग+ल (गतिरहित वाला)+साला (शालते इति); एतद् रूपा प्रकृति, तमोरूपा है। यह कृष्णा है। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (श्वेता उप० ४।५)। गाढ़ा नील, कृष्ण हो जाता है। एतद्रूपा प्रकृति "अग+ला" अर्थात् गत्य-भाव रूप वाली हुई "साला" शालते। यह तमोरूपा है। इस प्रकार मन्त्र ४ में क्रमशः सत्त्व, रजस्, तमस् रूपा प्रकृति का वर्णन हुआ है]।

सूक्त १७

(१-४)। अथर्वा। गर्भदृंहणम्। अनुष्टुभ्।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥१॥

(यथा, इयम्, मही पृथिवी) जैसे यह महती या महिमा वाली पृथिवी (भूतानाम्) भूतों की उत्पत्ति के लिये (गर्भं आदधे) गर्भाधान करती है, (एव) इसी प्रकार [हे पत्नी] (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (ध्रियताम्) धृत हो, स्थित हो, (अनुसूतुम्) उत्पत्ति विधि के अनुसार (सवितवे) पैदा होने के लिये।

["भूत" शब्द के दो अर्थ हैं, भूत अर्थात् प्राणी, जैसे पञ्च महायज्ञों में "भूतयज्ञः" तथा पञ्च महाभूतों में "भूत" शब्द। पृथिवी जब सूर्य से फट कर अलग हुई तब इस पर कोई प्राणी तथा कालान्तर में प्राणी पृथिवी के गर्भ से ही पैदा हुए। इसी प्रकार पृथिवी सम्बन्धी पञ्च महाभूत भी पृथिवी के गर्भ से पैदा हुए। पार्थिव पदार्थ अप [जल], तेज [पार्थिवाग्नि], तथा वायुमण्डल भी पृथिवी से ही पैदा हुए]।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन्।
एवा तं ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥२॥

(यथा) जैसे (इयम्, मही, पृथिवी) इस महती पृथिबी ने (इमान्, वनस्पतीन्) इन वनस्पतियों को [गर्भरूप में] (दाधार) धारण किया (एवा ते, इत्यादि) इसी प्रकार [हे पत्नी] तेरा गर्भ, इत्यादि, पूर्ववत्।

[पृथिवी बीजरूप में गर्भ धारण करती है, और उससे नियत समय पर वनस्पतियां पैदा होती हैं, इसी प्रकार [हे पत्नी ! तू पूर्ववत्]।

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन्।
एवा तं ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥३॥

(यथा) जैसे (इयम्, मही, पृथिवी) इस महती पृथिवी ने (पर्वतान्, गिरीन्) पर्वतों और पर्वतीय प्रान्तों को [गर्भरूप में] (दाधार) धारण किया, (एवा ते, इत्यादि) इसी प्रकार [हे पत्नी !] तेरा गर्भ इत्यादि, पूर्ववत्।

[पर्वतों और गिरियों का पूर्वरूप पृथिवी के गर्भ में पिघला हुआ तरल पदार्थ होता है जिसे मैग्मा [magma] कहते हैं। यह पर्वतों और गिरियों का पूर्वरूप है, जो कि पर्वतों और गिरियों के रूप में पृथिवी को फाड़ कर बाहर आता है। "मैग्मा" कीचड़, धुआं, उष्णवाष्प, गैसें, लावा, तथा चट्टानी पदार्थों का समूह होता है]।

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥४॥

(यथा) जिस प्रकार (इयम्, मही, पृथिवी) इस महती पृथिवी नें (विष्ठितम्) विविध रूपों और विविध स्थानों में स्थित (जगत्) जङ्गम [तथा स्थावर] वस्तुओं को (दाधार) धारण किया हुआ है, (एवा= एवम्) इसी प्रकार (ते गर्भः) हे पत्नी ! तेरा गर्भ (ध्रियताम्) धृत हो, स्थित हो, (अनु सूतुम्) उत्पत्तिविधि के अनुसार (सवितवे) पैदा होने के लिये ।

सूक्त १८

(१-३) अथर्वा । ईर्ष्याविनाशनम् । अनुष्टुभ् ।

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम् ।
अग्निं हृदय्यं१ शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥१॥

(ईर्ष्यायाः) ईर्ष्या के (प्रथमाम्) प्राथमिक (ध्राज्रिम्)वेग को, (उत) तथा (प्रथमस्याः) प्रथमवेग के (अपराम्) उत्तरोत्तर वेग को (अग्निम्) अग्निरूपी और (हृदय्यम् शोकम्) हृदयसन्तान रूपी (ते तम्) तेरी उस [ईर्ष्या रूपी अग्नि को] (निर्वापयामसि) हम शान्त करते हैं।

[सद्-गुरु लोग यत्न करते हैं कि शिष्य में यदि ईर्ष्या को अग्नि प्रकट हुई है तो उसे शान्त कर दें, ताकि ईर्ष्या के वेग शिष्य में प्रकट हो कर उस के हृदय को सन्तप्त न करते रहें ।

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।
यथोत मम्रुषो मनं एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥२॥

(यथा) जैसे (भूमिः) भूमि (मृतमनाः) मरे मन वाली है, (मृतात्) मृत की अपेक्षा भी (मृतमनस्तरा) अतिशयरूप में मरे मन वाली है, (यथा उत) और जैसे (मम्रुषः) मर गये पुरुष का (मनः) मन होता है, (एव) इसी प्रकार (ईर्ष्योः) ईर्ष्यालु का (मनः) मन (मृतम्) मत हो जाता है, उसकी मनन शक्ति मर जाती है।

[चलते-फिरते भूमि पर पादप्रहार होते, कृषि आदि द्वारा इस के शरीर को चीरा-फाड़ा जाता, इस पर मलमूत्र का त्याग किया जाता, परन्तु भूमि

प्रतिक्रिया नहीं करती, क्योंकि यह मानो मृतमना है, मृत के शरीर की अपेक्षा भी अनुभूति तथा विचार से अधिक शून्या है। मृत का शरीर तो किसी समय अनुभूति और विचार सहित था, परन्तु भूमि तो सदैव अनुभूति आदि से रहित रही है। ईर्ष्यालु की ऐसी अवस्था उस के जीवित रहते ही हो जाती है, वह कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार या विवेक नहीं कर सकता]।

अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥३॥

(ते) तेरे (हृदि) हृदय में (श्रितम्) आश्रय पाया हुआ (यत्) जो (अदः) वह (पतयिष्णुकम्) विषयों के प्रति उड़ने वाला (मनस्कम्) अल्पमन है, (ततः) उस मन से (ते ईर्ष्याम्) तेरी ईर्ष्या को (निर् मुञ्चामि) मैं निःशेषरूप में पृथक् कर देता हूं, (दृतेः) लुहार की धौंकनी से (इव) जैसे (ऊष्माणम्) ग्रीष्म वायु को पृथक् किया जाता है, धौंकनी से (निर्) निकाल दिया जाता है। दृति=चमड़े की थैली।

सूक्त १९

(१-३)। शन्तातिः। नाना देवताः, तथा चन्द्रमाः। गायत्री; १ अनुष्टुभ्।

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥१॥

(देवजनाः) साध्य अर्थात् साधना सम्पन्न जन, तथा ऋषिजन (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें, (मनवः) मनस्वी-जन (धिया) बुद्धि तथा कर्म द्वारा (पुनन्तु) पवित्र करें। (विश्वा भूतानि) सब भूत (पुनन्तु) मुझे पवित्र करें, (पवमानः) पवित्र करने वाला परमेश्वर (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे।

[देवजनाः="देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये" (यजु० ३१।९)। मन्त्र में आध्यात्मिक ज्ञान तथा तदनुकूल कर्म द्वारा आत्मिक पवित्रता कही है। मनवः द्वारा मानसिक पवित्रता कही है। भूतानि द्वारा शारीरिक पवित्रता, और पवमान द्वारा सर्वतोमुखी पवित्रता कही है। भूतानि द्वारा

पृथिवी, आपः, तेज, वायु, आकाश का कथन हुआ है । ये पांचों भूत शोधक हैं । पवमान द्वारा वायु का ग्रहण नहीं, वायु "भूत" है, अतः वह "विश्वा भूतानि" के अन्तर्गत है । धिया=धीः कर्मनाम: प्रज्ञानाम (निघं० २।१;३।९)] ।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥२॥

(पवमानः) पवित्र करने वाला परमेश्वर (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे (क्रत्वे) पवित्र कर्म करने के लिये, पवित्र प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये, (दक्षाय) वृद्धि के लिये, (जीवसे) पवित्र जीवन के लिये, (अथो) और (अरिष्टतातये) अहिंसा के विस्तार के लिये ।

[क्रतु=कर्मनाम; प्रज्ञानाम (निघं० २।१;३।९) । दक्षाय=दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः) । अरिष्ट=रिष हिंसार्थः, तदभावः (भ्वादिः), तस्य तातिः विस्तारः (तनु विस्तारे, तनादिः), अथवा "तातिः"=प्रत्ययः, करणार्थे ("शिवशमरिष्टस्य करे", अष्टा० ४।४।१४३)] अधिक पवित्रता के लिये पुनः परमेश्वर से प्रार्थना की गई है ।

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च ।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥३॥

(सवितः) हे प्रेरक ! (देव) हे देव ! (पवित्रेण) पवित्र वेदज्ञान द्वारा (च) और (सवेन) आप परमेश्वर की प्रेरणा द्वारा, (उभाभ्याम्) इन दोनों द्वारा, (अस्मान्) हमें (पुनीहि) पवित्र कर, (चक्षसे) ताकि हम तेरा दर्शन कर सकें ।

[वेदों के स्वाध्याय द्वारा निज जीवन को पवित्र कर, तथा परमेश्वर की प्रेरणा को प्राप्त कर, उपासक परमेश्वर का दर्शन कर लेता है] ।

सूक्त २०

(१-३) । भृग्वङ्गिराः । यक्ष्मनाशनम् । १ अतिजगती; २ ककुम्मती प्रस्तारपंक्तिः; ३ सतः पंक्तिः ।

अ॒ग्नेरि॑वास्य॒ दह॑त एति शु॒ष्मिण॑ उ॒तेव॑ म॒त्तो वि॒लप॒न्नपा॑यति ।
अ॒न्यम॒स्मदि॑च्छतु॒ कं चि॑दव्र॒तस्तपु॑र्वधाय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑ ॥१॥

(दहतः) दहन करने वाली (अग्नेः इव) अग्नि के दाह के सदृश, (अस्य शुष्मिणः) सुखा देने वाले इस [ज्वर का दाह] (एति) आता है [शरीर को व्याप्त कर लेता है] (उत) तथा (मत्तः इव) उन्मत्त व्यक्ति की तरह [ज्वरार्त्त व्यक्ति] (विलपन्) विविध प्रलाप करता हुआ (अप एति) इधर-उधर जाता-आता है । (अव्रतः) ज्वर कर्मरहित कर देने वाला है, यह ज्वर (अस्मद् अन्यम्) हम से भिन्न (कंचित्) किसी को (इच्छतु) चाहे, (तपुर्वधाय) शरीर को तपा देना जिस का घातुक आयुध है उस (तक्मने) पित्तज्वर के लिये (नमः अस्तु) नमः हो ।

[शुष्मिणः = शुष्म बलनाम (निघं० २।९)। पित्तज्वर शोषक है, और प्रबल वेग के साथ आक्रमण करता है । यह रक्त को सुखा देता है । तक्मने = तकि कृच्छ्रजीवने (भ्वादिः), यह जीवन को कष्टमय कर देता है। अव्रतः = कर्महीन कर देता है "व्रतम् कर्मनाम" (निघं० २।१) । अस्मत् = बुद्धि और कर्मों में पवित्र जीवन वाले (अथर्व० ६।१९।१-३) । अन्यम् = अपवित्र जीवन वाले को । 'नमः' के दो अर्थ अभिप्रेत हैं अन्न और वज्र (निरुक्त २।७;२।२०) । पाच्य अन्न के सेवन और औषधवज्र से तक्मा नष्ट हो जाता है । विनियोगकारों ने सूक्त का देवता "यक्ष्मनाशन" कहा है । सम्भवतः दीर्घकाल का पित्तज्वर 'यक्ष्म" में परिणत हो जाता हो, रक्त के सूख जाने से कमजोरी के कारण यक्ष्म आक्रमण करता हो] ।

नमो॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॒ नमो॒ राज्ञे॒ वरु॑णाय॒ त्विषी॑मते ।
नमो॑ दि॒वे नमः॑ पृथि॒व्यै नम॒ ओष॑धीभ्यः ॥२॥

(रुद्राय) पाप के फलरूप में रुलाने वाले परमेश्वर के लिये (नमः) नमस्कार हो, (तक्मने) जीवन को कष्टमय करने वाले ज्वर के लिये (नमः) पथ्यान्न तथा औषध रूपी वज्र (अस्तु) हो, (त्विषीमते) विद्युत्

की दीप्तिवाले, (राज्ञे) राजा (वरुणाय)मेघ के लिये (नमः) अन्नाहुतियां हों, (दिवे) द्युलोक के लिये (नमः) अन्नाहुतियां हों, (पृथिव्यै) पृथिवी की शुद्धि के लिये (नमः) अन्नाहुतियां हों, (ओषधीभ्यः) ओषधियों से (नमः) अन्न की प्राप्ति हो।

[मन्त्र में "नमः पर्यन्त" प्रत्येक वाक्य है जो कि स्वतन्त्र अर्थ का ज्ञापक है। प्रत्येक वाक्य अन्य वाक्य के साथ सामान्य "नमः" पद द्वारा सम्बद्ध है। अतः प्रत्येक वाक्य का अर्थ बुद्धिग्राह्य किया है। "नमः" का अर्थ अन्न भी है (निघं २ ७)। अन्न का अभिप्राय केवल प्राणी द्वारा खाद्य अन्न ही नहीं अपितु यज्ञाग्नि द्वारा खाद्य अन्न भी है, अतः इस अन्न को हम यज्ञिय-सामग्री भी कह सकते हैं जो कि ओषधियों से प्राप्त होती है। वरुण का अर्थ मेघ किया है, जो कि अन्नाभाव से उत्पन्न कष्ट का वारण करता है, अतः यह सब प्राणियों का राजा है। इस में दीप्ति है मेघीय विद्युत्। वरुण है मेघ, एतदर्थं देखो निरुक्त (१०।१।५) में वरुण पद की व्याख्या[1]]।

अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि।
तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने ॥३॥

(अयम्, यः) यह जो तू (अभिशोचयिष्णुः) शरीर के सब ओर उपताप पैदा करने वाला, (विश्वा रूपाणि) शरीर के सब रूपों को (हरिता =हरितानि) हरे-पीले (कृणोषि)कर देता है, (तस्मै) उस(अरुणाय) लाल और(बभ्रवे) भूरे (वन्याय) वनोद्भूत (ते तक्मने) तुझ पित्तज्वर के लिये (नमः) पथ्यान्न तथा औषध-वज्र प्रहार (कृणोमि) मैं करता हूं।

[पित्तज्वर में पित्त के बिगड़ जाने के कारण शरीर हरा-पीला, मुख-लाल, कभी भूरा, इन भिन्न-भिन्न वर्णों का हो जाता है। वन्य ज्वर उग्र-रूप होता है]।

वैदिक मान्यतानुसार पिण्ड अथवा ब्रह्माण्ड में समानता है, "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" यह उक्ति प्रसिद्ध है। पिण्ड है जीवात्मा का देह,

---

१. व्याख्या के लिये निरुक्तकार ने "नीचीनवारं वरुणः" मन्त्र (ऋ० ५।८५।३) उपस्थित किया है जिस में वृष्टि का भी वर्णन है, और वरुण को राजा भी कहा है। साथ ही वरुण अन्तरिक्षस्थानी देवता भी है।

और ब्रह्माण्ड है परम-आत्मा का देह । मन्त्र १ में परम-आत्मा को रुद्र कहा है । जैसे पिण्ड और पिण्ड के अवयवों का शासन, जीवात्मा द्वारा होता है, वैसे ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के अवयवों का शासन रुद्र अर्थात् पापों के फलरूप में रुलाने वाले परम-आत्मा द्वारा होता है । जैसे जीवित देह-पिण्ड और पिण्ड के अवयवों के प्रति सत्कार और नमस्कार किया जाता है, वैसे परम-आत्मा के ब्रह्माण्ड-देह, और तद्घटक अवयवों के प्रति सत्कार और नमस्कार विधान मन्त्रों में प्रायः पाया जाता है । परम-आत्मा का वर्णन इसलिये पुरुष-रूप में भी होता है । इस पुरुष के शरीरावयवों का भी वर्णन यजुर्वेद के पुरुष सूक्त ३१ में हुआ है (३१।१०,१३) यद्यपि यह वर्णन काल्पनिक हुआ है, यथा "व्यकल्पयन् अकल्पयन्" (यजु. (३१।१०,१३) । तथापि यह सप्रयोजन और सार्थक है, यह दर्शाने के लिये कि जैसे जीवित मनुष्य का देह सात्मक है, निरात्मक नहीं, वैसे परम-आत्मा का ब्रह्माण्डरूपी देह भी सात्मक है, निरात्मक नहीं । इस दृष्टि से ब्रह्माण्ड के अवयवों के प्रति "नमः" अर्थात् नमस्कारों का कथन भी उचित ही प्रतीत होता है ।

काण्ड ६ का द्वितीय अनुवाक सम्पूर्ण ।

—०००—

अनुवाक ३

सूक्त २१

(१-३)। शन्तातिः। चन्द्रमाः। अनुष्टुभ्।

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥१॥

(इमाः) ये (याः) जो (तिस्रः पृथिवीः) तीन पृथिवियां हैं (तासाम्) उन में से (ह) निश्चय से (भूमिः) समतल भूमि (उत्तमा) उत्तम है, (तासाम्) उन तीनों की (त्वचः अधिः) त्वचा से (अहम्) मैंने (भेषजम्) चिकित्सायोग्य औषध का (सम्, उ, जग्रभम्) संग्रह किया है।

[पृथिवीः तिस्रः = पर्वत, गिरि (अथर्व १।१२।३) तथा भूमिः। या अधित्यका[1], उपत्यका, तथा समतल प्रदेश। उनमें से भूमि अर्थात् समतल प्रदेश उत्तम है। इन तीनों की त्वचा अर्थात् पृष्ठभाग से ओषधि का ग्रहण किया जाता है। समतल भूमि से ओषधि का संग्रह प्रभूतमात्रा में होता है, अतः यह उत्तम है]।

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्।
सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥२॥

हे भेषज! तू (भेषजानाम्) भेषजों में (श्रेष्ठम्, असि) श्रेष्ठ है, (वीरुधानाम्) विरोहण करने वाली लता-वनस्पतियों में तू (वसिष्ठम्) वसुवत्तम अर्थात् श्रेष्ठ सम्पत् रूप है। (यामेषु) रात और दिन के कालों में तू (सोमः) चन्द्रमा और (भगः इव) सूर्य के सदृश है, (देवेषु) देवों में (यथा) जैसे (वरुणः) वरणीय परमेश्वर सर्वोत्तम है, [वैसे भेषजों में तू सर्वोत्तम भेषज है]।

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥३॥

---

१. अधित्यका = Table-land, High land. उपत्यका = A land at the foot of a mountain.

हे ओषधियो ! तुम (रेवतीः) बहुमूल्य वाली हो, (अनाधृषः) अपराभवनीय शक्ति सम्पन्ना हो, (सिषासवः) तुम लाभ देना चाहती हो, (सिषासथ) तुम लाभ प्रदान करो। (उत) तथा (स्थ) तुम हो (केशदृंहणीः) केशों को दृढ़ करने वाली (अथो ह) और (केशवर्धनीः) केशों को बढ़ाने वाली।

[रेवतीः = रयिमत्यः । अनाधृषः = अन्+आ+धृषः; धृष प्रसहने (चुरादिः) । सिषासवः षणु दाने (तनादिः)+सन् (इच्छायाम्)]।

सूक्त २२

(१-३)। शन्तातिः। आदित्यरश्मयः देवताः, मरुतः। त्रिष्टुभ्; चतुष्पदा भुरिग् जगती।

कृष्णं नियानं हर॑यः सुपर्णा अपो वसा॑ना दिवमुत्पतन्ति।
त आव॑वृत्रन्त्सद॑नादृतस्यादिद् घृतेन॑ पृथिवीं व्यू॑दुः ॥१॥

(सुपर्णाः) उत्तम वर्णों वाले पक्षियों के सदृश उड़ने वाली, (हरयः) जल का हरण करने वाली, [आदित्य रश्मियां] (अपः वसानाः) जल को धारण करती हुई, (कृष्णम्, नियानम्) काले निचले मार्ग को प्राप्त कर, (दिवम्) द्युतिमान्-आदित्य की ओर (उत् पतन्ति) ऊपर को उड़ जाती हैं। (ते) वे (ऋतस्य) तत्पश्चात् उदक के (सदनात्) घर [द्युलोक] से (आववृत्रन्) लौट आती हैं, (आत् इत्) तदनन्तर ही (घृतेन) मानो घृत द्वारा या जल द्वारा (पृथिवीम्) पृथिवी को (व्यूदुः) विशेषरूप में आर्द्र करती हैं।

[काला-निचला मार्ग है अन्तरिक्ष। अन्तरिक्ष आदित्य से नीचे है। हमारे सौर-परिवार में आदित्य सर्वोच्च है, अतः जलभरी आदित्यरश्मियों की उड़ान आदित्य की ओर कही है। आदित्य उदक भरी रश्मियों का सदन है। ऋतम् उदकनाम (निघं० १।१२); घृतम् उदकनाम (निघं० १।१२)। घृत का प्रसिद्ध अर्थ है घी। इस की प्राप्ति भी वर्षाधीन है। इसलिये वर्षाजल को घृत कहा है]।

पय॑स्वतीः कृणुथाप ओष॑धीः शिवा यदेज॑था मरुतो रुक्मवक्षसः।
ऊर्जं च तत्र॑ सुमतिं च॑ पिन्वत यत्रा॑ नरो मरुतः सिञ्चथा मधु॑ ॥२॥

(मरुतः) हे मानसून वायुओ ! (रुक्मवक्षसः) सुवर्ण सदृश चमकीली विद्युत् को छाती में धारण करती हुई तुम (यद्) जो (एजथ) चलती हो, तो (अपः) क्षीण हुए जलों को (पयस्वतीः) प्रभूत जल समेत, और (ओषधीः) ओषधियों को (शिवाः) सुखमयी तथा कल्याण करने वाली (कृणुथ) कर देती हो। (तत्र) वहां (ऊर्जम्) बलप्रद और प्राणप्रद अन्न को, (च) और (सुमतिम्) सुमति को (पिन्वत) परिपुष्ट कर देती हो (यत्र) जहां कि (मरुतः) हे मानसून वायुओ ! तुम (मधु) मधुर जल (सिञ्चथ) सींचती हो, (नरः) जैसे कि किसान-पुरुष निज क्षेत्रों को सींचते हैं। [शिवम् सुखनाम (निघं० ३।६)]।

उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ॥३॥

(उदप्रुतः) उदक से आप्लुत अर्थात् भरी हुई (मरुतः) हे मानसून वायुओ ! (ताँ=ताम्) उसे (इयर्त) प्रेरित करो (या वृष्टिः) जो वृष्टि कि (विश्वाः निवतः) सब निम्नगामिनी नदियों को (पृणाति) पूरित कर दे। और जो (ग्लहा) मानसून द्वारा गृहीत की गई, न बरसाई गयी वृष्टि (एजाति) किसानों को कम्पा देती है तथा (इव) जैसे (तुन्ना) व्यथित हुई (कन्या) कन्या, तथा (इव) जैसे (पत्या) पति द्वारा (तुन्ना) व्यथित हुई (जाया) पतिसम्भुक्ता पत्नी (एरुम्) प्रेषक पिता को (तुन्दाना) व्यथित करती हुई होती है।

[इयर्त=ऋ गतौ, लोट्, जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः, "अर्तिपिपर्त्योश्च" (अष्टा० ७।४।७७) द्वारा अभ्यास को इकार। ग्लहा=गृहू ग्रहणे। ग्लह च (भ्वादिः)। मानसून द्वारा गृहीत हुई वृष्टि। एरुम्=ईर् (गतौ, चुरादिः)+उ (औणादिक १।७।२१), णिजर्थ अन्तर्भावित=गमन कराने वाला, निजकन्या को वैवाहिक विधिपूर्वक, पतिगृह में भेजनेवाला पिता]।

कन्या तथा जाया=इस सम्बन्ध में मनूक्त श्लोक स्मरणीय है। यथा-

सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा।
वैवाहिकेन विधिना पुनः संस्कारमर्हति ॥

सा पुत्री-कन्या यदि अक्षतयोनि हो, या पतिगृह जा कर वापिस आ गई हो, तो विवाह की विधि से वह "पुनः" विवाहसंस्कार के योग्य

होती है। "पुनः" शब्द द्वारा सूचित होता है अक्षतयोनि का तथा गत-प्रत्यागता [क्षतयोनि] का पहिले विवाह हो चुका है। मन्त्रगत "तुन्ना" पद यह दर्शाता है कि अक्षत योनि का कन्यात्व अर्थात् कुमारीपन पूर्ववत् यथावस्थित है, परन्तु पतिगृह द्वारा व्यथित हुई वह पितृगृह में आ गई है। इसी प्रकार जाया भी पति द्वारा "तुन्ना" होकर पितृगृह लौट आई है। इस द्वारा पिता तो व्यथित होगा ही, (तुन्दाना)। पति द्वारा जाया के धकेले जाने का वर्णन अथर्ववेद में अन्यत्र भी हुआ है। यथा "जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु" (१०।१।३)]

सूक्त २३

(१-३)। शन्तातिः। आपः। अनुष्टुभ्; २ त्रिपदा गायत्री; ३ परोष्णिक्।

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः।
वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये ॥१॥

(सस्रुषीः) प्रवाहित होती हुईं, (तदपसः) वह प्रवाहित होना जिन का कर्म है, (दिवा नक्तं च) दिन और रात (सस्रुषीः) प्रवाहित होती हुईं (देवीः अपः) [दिव्य नदियों] के जलों को (अहम्) मैं (वरेण्यक्रतुः) श्रेष्ठ-यज्ञिय कर्मों वाला (उप) समीप (ह्वये) बुलाता हूं।

[सस्रुषीः=सृ लिटि क्वसुः (सायण)। तदपसः=तत् प्रवहणम्, अपः कर्म, यासां ता आपः। क्रतुः=यज्ञिय कर्म, कृष्यादि। उपह्वये=कुल्या द्वारा। यज्ञिय कर्म कृष्यादि=राष्ट्रयज्ञ के लिये]।

ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये।
सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥२॥

(कर्मण्याः) कर्मों के साधक (आपः) जल (ओताः) कर्मों में ओत-प्रोत हैं, [ये जल] (इतः) यहां से (मुञ्चन्तु) वाञ्छनीय जल को मुक्त करें, त्यागें, (प्रणीतये) शीघ्र ले जाने के लिये। और (सद्यः) शीघ्र (एतवे) गति के लिये (कृण्वन्तु) इन्हें करें।

[मन्त्र वर्णन कवितामय है। नदी के मुख्य जलों से कहा है कि तुम निज एक हिस्से को कुल्या अर्थात् छोटी नहर के रूप में मुक्त करो ताकि

हम उसे प्रकृष्ट गति के साथ अपने स्थान तक ले जांय, और हमारी सहायता करो कि शीघ्र ही जल हमें प्राप्त हो जाय। एतवे=इण् गतौ, गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च। एतवे=इण्+तवेन्। प्रवाही मुख्य जलों के प्रति आत्मीय अङ्गभूत जलों को मुक्त करने की अभिलाषा प्रकट की है। "दीप्यते, सुषुम्णः सूर्यरश्मिः"।

[मन्त्र में छोटी या बड़ी कुल्या का वर्णन है। अन्यत्र कुल्या का वर्णन यथा (अथर्व० ११।३।१३; १८।३।७२; ४।५।७; २०.१७।७; ५।१६।३)]।

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥३॥

(सवितुः देवस्य) प्रेरक परमेश्वर-देव की (सवे) प्रेरणा में (मानुषाः) मनुष्य (कर्म कृण्वन्तु) [कृषि कर्म आदि] कर्म करें, तब (ओषधीः) ओषधियां (अपः) जलों को [प्राप्त कर] (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति दायक और (शिवाः) कल्याणकारिणी (भवन्तु) होती हैं, या हों।

[मनुष्य जब परमेश्वर की प्रेरणानुसार कृषि कर्म आदि करते हैं, तब वर्षा ठीक प्रकार से होती, और ओषधियां जल प्राप्त कर रसवती होती, और हमारे लिये शम् और शिवरूपा होती हैं]।

सूक्त २४

(१-३) शन्तातिः । आपः । अनुष्टुभ् ।

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्द्योत भेषजम् ॥१॥

(हिमवतः) हिम वाले पर्वत से (प्र स्रवन्ति) प्रवाहित होती हैं, (सिन्धौ) समुद्र में (समह) आदर पूर्वक या सोत्सव अर्थात् हर्ष पूर्वक (संगमः) उन का संगम होता है, ऐसे (आपः) जल या जलवाली नदियां, (देवीः) जो कि दिव्यगुणों वाली हैं, (मह्यम्) मुझे (हृद् द्योत भेषजम्) हृदय की दाह की ओषधि (ददन्) देती हैं।

[हिमवाले पर्वत से प्रवाहित होती हुई नदियां दिव्य अर्थात् स्वच्छ जल वाली होती हैं, उन मे बैठकर जलचिकित्सा द्वारा हृदयरोग शान्त होते हैं। मन्त्र ३ में सिन्धु को पति और नदियों को पत्नी कहा है। पति-पत्नी का संगम सादर, हर्षपूर्वक होता ही है] ।

यन्मे॑ अ॒क्ष्योरा॑दि॒द्योत॒ पार्ष्ण्यो॑: प्रप॑दोश्च॒ यत् ।
आप॒स्तत् सर्वं॒ निष्क॑रन् भि॒षजां॒ सुभि॑षक्तमाः ॥२॥

(यत्) जिस रोग ने (मे) मेरी (अक्ष्योः) दोनों आंखों को (आदिद्योत) दाह युक्त किया है (यत्) और जिसने (पार्ष्ण्योः) दोनों एड़ियों (प्रपदोश्च) दोनों पादों के अग्रभागों को दाह युक्त किया है, (तत् सर्वम्) उस सब दाह की (आपः) जल (निष्करन्) निर्गत कर देते हैं, अङ्गों से निकाल देते हैं, जो जल कि (भिषजाम्) चिकित्सकों में (सुभिषक्तमाः) उत्तम चिकित्सक हैं।

[आपः द्वारा जल चिकित्सा का वर्णन हुआ है]

सिन्धु॑पत्नीः सिन्धु॑राज्ञीः सर्वा॒ या न॒द्य१॒॑स्थन॑ ।
द॒त्त न॒स्तस्य॑ भेष॒जं तेना॑ वो भुनजामहे ॥३॥

(सिन्धुपत्नीः) सिन्धु जिन का पति है, (सिन्धुराज्ञीः) सिन्धु जिन का राजा है ऐसी (याः सर्वाः) जो सब (नद्यः) नदियां (स्थन) तुम हो, वे तुम (नः) हमें (तस्य) उस रोग सम्बन्धी (भेषजम्) औषध (दत्त) प्रदान करो, (वः) तुम्हारी (तेन) उस औषध द्वारा (भुनजामहे) हम निज पालन करें।

[सिन्धु का अभिप्राय है समुद्र, न कि सिन्ध नदी। कविता में जल-चिकित्सा द्वारा रोगनिवर्त्तक "आपः औषध" का कथन है। भुनजामहे= भुज पालनाभ्यवहारयोः (रुधादिः)] ।

सूक्त २६

(१—३) । शुनःशेपः । मन्याविनाशनम् । अनुष्टुभ् ।

पञ्च॑ च॒ याः प॑ञ्चा॒शच्च॑ सं॒यन्ति॒ मन्या॑ अ॒भि ।
इ॒तस्ताः सर्वा॑ नश्यन्तु वा॒का अ॑प॒चिता॑मिव ॥१॥

(याः) जो (पञ्च) पांच (च) और (पञ्चाशत् च) पचास (मन्याः)

छोटी ग्रन्थियां, (अभि) गर्दन के सामने की ओर (संयन्ति) परस्पर साथ-साथ लगी हुई हैं, (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) इस प्रयोग से (नश्यन्तु) नष्ट हो जांय, (अपचिताम्) सत्कर्मों में अपचय, अर्थात् ह्रास वालों के (वाकाः) वचन या कथन (इव) जैसे (नश्यन्तु) नष्ट हो जाते हैं [सत्य न होने के कारण स्थिरता प्राप्त नहीं करते यतः वे अविश्वसनीय होते हैं]।

[सायण ने 'मन्या' का अर्थ गण्डमाला किया है। छोटी-छोटी ये ग्रन्थियां परस्पर मिलकर गण्डमाला हो जाती हैं]।

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥२॥

(याः) जो (सप्त च) सात और (सप्ततिः च) सत्तर (ग्रैव्याः) ग्रीवा की ग्रन्थियां (अभि) ग्रीवा के पीछे की ओर (संयन्ति) परस्पर साथ-साथ लगी हुई हैं (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) इस प्रयोग से (नश्यन्तु) नष्ट हो जांय (वाका अपचितामिव) पूर्ववत् ।

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥३॥

(नव च) नौ और (नवतिः च) नब्बे (याः) जो (स्कन्ध्याः) कन्धे की ग्रन्थियां (अभि) कन्धे के चारों ओर (संयन्ति) परस्पर साथ-साथ लगी हुई हैं, (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) इस प्रयोग से (नश्यन्तु) नष्ट हो जांय (वाका अपचितामिव) पूर्ववत् ।

[नश्यन्तु = नश = णश अदर्शने (दिवादिः), अदृष्ट हो जांय, सूखकर पूर्ववत् सूक्ष्मरूप हो जांय]

सूक्त २६

(१-३) । ब्रह्मा । पाप्मा । अनुष्टुभ् ।

अव मा पाप्मन्सृज वशी सन् मृडयासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविहुतम् ॥१॥

(पाप्मन्) हे पाप ! (मा) मुझे (अवसृज) छोड़ दे, (वशी सन्) वश में हुआ तू (नः) हमें (मृडयासि) सुखी कर (मा) मुझे (पाप्मन्) हे

पाप ! (भद्रस्य) कल्याणी और सुखी (लोके) समाज में (अविह्रुतम्) कुटिल कर्मों से रहित करके (आधेहि) स्थापित कर ।

[मा, नः=अस्मदो द्वयोश्च (अष्टा० १।२।५६) द्वारा एकवचन के स्थान में बहुवचन । पाप जब वशीभूत हो जाता है, तब व्यक्ति कुटिलकर्म नहीं करता और कल्याणी तथा सुखी सामाजिक जीवन व्यतीत करता है । अविह्रुतम्=अ+वि+ह्वृ कौटिल्ये । मान्त्रिक कथन में कविता में पाप सम्बोधित हुआ है] ।

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥२॥

(पाप्मन्) हे पाप ! (यः) जो तू (नः) हमें (न जहासि) न त्यागता, तो (वयम्) हम (तम्, उ, त्वा) उस तुझ को (जहिमः) त्याग देते हैं । (पथाम्) सत्पथों के (अनु) निरन्तर (व्यावर्तने) त्यागने पर, (अन्यम्) पापत्यागियों से भिन्न को (पाप्मा) पाप (अनु) निरन्तर (पद्यताम्) प्राप्त हो ।

["वयम्" द्वारा यह सूचित किया है कि हम सत्पथ पर चलते हुए, पारस्परिक सम्मिलित प्रयत्न द्वारा पाप का परित्याग कर देते हैं । जहासि, जहिमः=ओहाक् त्यागे (जुहोत्यादिः) । मन्त्र में यह दर्शाया है कि प्रयत्न करने पर व्यक्ति पाप को त्याग देता है] ।

अन्यत्रास्मन् न्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।
यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥३॥

(सहस्राक्षः) हजारों का क्षय करने वाला, (अमर्त्यः) न मारा जाने वाला पाप, (अस्मत् अन्यत्र) हम से भिन्न व्यक्ति में (न्युच्यतु = नि उच्यतु) नितराम् समवाय सम्बन्ध में चिपटा रहे । (यम्) जिस पापी के साथ (द्वेषाम) हम प्रीति नहीं करते (तम्) उसे (ऋच्छतु) प्राप्त हो, (यम् उ) जिस के साथ ही (द्विष्मः) हम प्यार नहीं करते (तम् इत्) उसे ही (जहि) हे पाप तू नष्ट कर. उस का ही हनन कर ।

[सहस्राक्षः=सहस्र+आ+क्षः (क्षि क्षये, भ्वादिः) । पापवृत्तियां कठिनाई से क्षीण होती हैं अतः इन्हें अमर्त्य कहा है । मन्त्र में अप्रीति करने

का वहुत्व है, और अप्रिय का एकत्व । सामाजिक जीवन में समाज, जिस पापी को समाज में रहने से आपत्तिजनक समझे उसे मृत्युदण्ड दे सकता है । मानो पाप ही पापी का हनन कर रहा है] ।

सूक्त २७

(१-३) भृगुः । यमः निर्ऋतिः । जगती: २ त्रिष्टुभ् ।

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम ।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१॥

(देवाः) हे राष्ट्र के दिव्य अधिकारियो ! (इषितः) परराष्ट्र द्वारा प्रेषित हुआ (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्ति का (दूतः) उपतापी प्रतिनिधि (कपोतः) वायुयान (यद् इच्छन्) जो कुछ चाहता हुआ (इदम्, आजगाम) इस हमारे राष्ट्र में आया है (तस्मै) उस के लिये (अर्चाम) हम अर्चना करते हैं, और (निष्कृतिम्) हर्जाना (कृणवाम) भेंट करते हैं, ताकि (नः) हमारे (द्विपदे) दोपाए प्रजाजन के लिये (शम्, अस्तु) सुख-शान्ति हो, (चतुष्पदे) चौपायों के लिये (शम्) सुख-शान्ति हो । [दूतः=दुदु उपतापे (स्वादिः)]।

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः ।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥२॥

(देवाः) हे राष्ट्र के दिव्य अधिकारियो ! (इषितः) परराष्ट्र द्वारा प्रेषित (कपोतः) वायुयान (शकुनः) जो कि शक्तिशाली है, (नः गृहम्) और हमारे राष्ट्र-गृह के प्रति प्रेषित है, (शिवः) कल्याणकारी, (अनागाः) और निष्पापरूप (अस्तु) हो । (विप्रः) मेधावी (अग्निः) परराष्ट्र का प्रधानमन्त्री (नः) हमारी (हविः) "कर" रूप में प्रदत्त हवि का (जुषताम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करे, और (हेतिः) आयुधरूप, (पक्षिणी) पक्षी के आकृति वाला अल्पकाय वायुयान (नः परिवृणक्तु) हमें छोड़ जाय ।

[शक्तिशाली राष्ट्र का अधीनस्थ राष्ट्र, जो कि करदीकृत है, वह निर्धारित समयानुसार कर प्रदान नहीं कर सका । उसे सचेत करने के लिये सशस्त्र वायुयान प्रेषित हुआ है, और नियत कर लेकर वह वापिस चला गया है (कपोत=क (wind, Air; आप्टे),+पोत (यान) । वैदिक

साहित्य में "कर" को हवि कहा है, ताकि राष्ट्र को यज्ञ समझ कर उसकेप्रति स्वेच्छा पूर्वक हविः रूप में "कर" दिया जाया करे। यथा "हविर्नः सजाताः' (अथर्व० ३।४।३), तथा "प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्" (रघुवंश में "कर" को बलि कहा है। इस द्वारा राष्ट्र को बलिवैश्व देवयज्ञ कह कर राष्ट्रयज्ञ की धार्मिकता सूचित की है। "पक्षिणी-वायुयान, हेलीकोप्टर" सदृश अल्पकाय है। उड़ते समय यह दो पंखों वाली पक्षिणी की आकृति वाला दीखता है। सायण ने कपोत द्वारा कबूतर पक्षी माना है, तथा पक्षिणी द्वारा पक्षोपेता कपोताख्या हेतिः हननसाधनम् आयुधम् कहा है]।

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत् कपोतः

(हेतिः) प्रेषित हुआ वज्ररूप, (पक्षिणी) अल्प पक्षी की आकृतिवाला वायुयान (अस्मान्) हमें (न) नहीं (दभाति) हिंसित करता है, (आष्ट्री) ऋषि अर्थात् आयुधरूप वायुयान (अग्निधाने) युद्धाग्नि के निधान रूप संग्राम भूमि में (पदम्) निज चरण को (न) नहीं (कृणुते) स्थापित करता है। (नः) वह हमारी (गोभ्यः) गौओं के लिये (उत) तथा (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (शिवः) कल्याणकारी (अस्तु) हो, (देवाः) हे दिव्य अधिकारियो! (कपोतः) वायुयान (इह) यहां अर्थात् हमारे राष्ट्र में (नः) हमें (मा हिंसीत्) न हिंसित करे।

[हेतिः—हि गतौ (स्वादिः), प्रेषित अस्त्ररूप। हेतिः वज्रनाम (निघं. २।२०)। पक्षिणी=अल्पकाय वाला वायुयान, दो पक्षों को फैलाए, उड़ते हुए पक्षी के समान प्रतीत होता है। यह शक्तिशाली परराष्ट्र का वायुयान है जिसमें परराष्ट्र का दूत है, जोकि दूत्यकर्म के लिये हमारे राष्ट्र में आया है, न कि हमारी हिंसा के लिये। ऐसी भावना मन्त्र में प्रकट की है। वायुयान जब भूमि पर उतरते हैं तो निज स्थान में उन्हें ले जाने के लिये उन के पद अर्थात् चरण भी होते हैं। अधिकारियों से कहा है कि तुम इस प्रकार वायुयान के अधिकारियों के साथ वर्ताव करो ताकि वे युद्ध न करने पाएं। आष्ट्री=ऋष्टिः आयुधम्। यथा "शतमृष्टीरयस्मयोः" (अथर्व० ४।३७।८)। आष्ट्री पद ऋष्टि का ताद्धित प्रयोग प्रतीत होता है]।

सूक्त २८

(१-३) । भृगुः । यमः निर्ऋतिः । त्रिष्टुभ्; २ अनुष्टुभ्, ३ जगती ।

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः ।
संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः ॥१॥

[हे जलीय-यान के चलाने वालो !] (ऋचा) ऋक्-प्रोक्त विधि द्वारा (प्रणोदम्) प्रकृष्टतया प्रेरणीय (कपोतम्) जलीय-यान को (नुदत) प्रेरित करो, चलाओ, (इषम्) अभीष्ट अन्न को प्राप्त कर (मदन्तः) तृप्त तथा हर्षित होते हुए (गाम्, परि=परितः) पृथिवी के सब ओर (नयामः) इस [कपोत को] हम ले जाते हैं, (दुरिता=दुरितानि) दुष्परिणापी (पदानि) पदन्यासों को (संलोभयन्तः) संलुप्त करते हुए । ताकि (पथिष्ठः) पथ में स्थित हुआ [कपोत] (नः) हमारे लिये (ऊर्जम्) बलप्रद तथा प्राणप्रद अन्न को (हित्वा) हमारे राष्ट्र में छोड़कर (प्र पदात्) शीघ्र पुनः [अन्न प्राप्ति के लिये] चला जाय ।

[सूक्त २७ और २८ पृथक्-पृथक् पठित हैं, चाहे विषय कपोत ही है । इसलिये इन भिन्न सूक्तों में कपोत का अभिप्राय भी भिन्न-भिन्न है । सूक्त २७ में "पक्षिणी" द्वारा कपोत को अल्पकाय तथा वायुयान रूप कहा है । सूक्त २८ में कपोत अन्नसंग्रह करने के लिये पृथिवी के सब ओर ले जाया जाता है । अतः यह जलीययान है । कपोत=क (जल)+पोत(यान) । नुदत=णु प्रेरणे (तुदादिः) । इषम् अन्ननाम (निघं. २।७) । गौः पृथिवी-नाम (निघं. १।१)। मदन्तः=मद तृप्तियोगे; मदी हर्षे (चुरादिः; भ्वादिः) संलोभयन्तः=जलीय-यान को दुर्गम मार्गों से बचाते हुए । प्रपदात्=प्र+पद (गतौ, दिवादिः) । ऊर्जम्=ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः)] ।

परीमे३ऽग्निमर्षत परीमे गामनेषत ।
देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥२॥

(इमे) ये जो [कपोत संचालक, मन्त्र १](अग्निम्) यज्ञिय अग्नि को (परि=परितः)पृथिवी के सब ओर (अर्षत) ले गये हैं,(इमे) ये जो (गाम् परि=परितः) पृथिवी के सब ओर [कपोत=जलीय-यान को] (अनेषत) ले गये हैं । (देवेषु) भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के दिव्य अधिकारियों में इन्होंने जो (श्रवः) निज यश (अक्रत) फैलाया है, (इमान्) इन्हें (कः) कौन (आदधर्षति) पराभूत करेगा ।

[यज्ञिय-अग्नि वैदिक संस्कृति की प्रतीक है। यह रोगनाशक, स्वास्थ्य और जीवन को बढ़ाती है। जो इस का प्रकार पृथिवी भर में करते; निज जालीय-यानों का पृथिवी के सब ओर निर्भय हो कर यातायात करते; अन्नसंग्रह करते; पृथिवी के राष्ट्रों में यश प्राप्त करते; उनका कोई नहीं धर्षण कर सकता, न कोई उन्हें पराभूत कर सकता। ञिधृषा प्रागल्भ्ये (स्वादिः), गल्भ धार्ष्ट्ये (भ्वादिः)। धृष प्रसहने (चुरादिः), प्रसहनम् = पराभवः]।

यः प्र॑थ॒मः प्र॒वत॑मास॒साद॑ ब॒हुभ्यः॒ पन्था॑मनु पस्पशा॒नः।
यो॒३॑स्येशे॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पद॒स्तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑ ॥३॥

(यः) जो (प्रथमः) अनादि परमेश्वर (प्रवतम्) प्रकृष्ट-पथ पर (आससाद) आरूढ हुआ-हुआ है, जो (बहुभ्यः) बहुतों के लिये (पन्थाम्) प्रकृष्ट पथ को (अनु) निरन्तर (पस्पशानः) दर्शा रहा है। (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दोपाए मनुष्य का, (यः) जो (चतुष्पदः) चौपाए पशु का (ईशे) अधीश्वर है, शासक है (तस्मै यमाय) उस नियन्ता के प्रति, (मृत्यवे) मृत्यु नामक के प्रति (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

[प्रवतम् = "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" (अष्टा. ५।१।११८) द्वारा योग्य धात्वर्थ जाना जाता है, वतिः का कोई अर्थ नहीं रहता। यथा उद्वतः—उद्गतात्; निवतः = निगतात्। परमेश्वर सदा प्रकृष्टपथ अर्थात् सत्पथ पर आरूढ है—यह वेदों द्वारा ज्ञात होता है, यथा "अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मनः" (अथर्व० १०।७।४०), मन्त्र में "स्कम्भ" पद द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है, परमेश्वर तमोगुण से रहित है, अतः वह पाप से हटा हुआ है। इस कथन द्वारा वेदमन्त्र में मनुष्यों को जीवनपथ दर्शाया है कि "तमोमार्ग को त्याग दो तो तुम पापपथ से व्यावृत्त हो जाओगे। समग्र वेद द्वारा परमेश्वर जीवन के लिये सत्पथ दर्शा रहा है। परमेश्वर नियन्ता है, इसलिये वह यम है, वह ही कर्मानुसार जन्म-मृत्यु का प्रदाता है अतः वह मृत्यु है। यथा —"स एव मृत्युः सो३ मृतं सो३ भ्वं स रक्षः" (अथर्व० १३। सूक्त ६। अनुवाक ४। मन्त्र ४(२५)। परमेश्वर द्वारा प्रदर्शित सत्पथ पर चलने पर, और उसके प्रति सदा नमस्कार करने पर, कपोत अर्थात् वायुयान तथा जलीययान सदा उपकारी होते हैं, कभी युद्ध की ओर प्रवृत्त नहीं होते—यह दर्शाने के लिये यह मन्त्र (३) पठित हुआ है]।

सूक्त २९

(१-३)। भृगुः। यमः निर्ऋतिः। बृहती; १,२ विराड् गायत्री; ३ त्र्यवसाना सप्तपदा विराडष्टिः।

अमून् हेतिः पतत्रिणी न्येऽतु यदुलूको वदति मोघमेतत्।
यद् वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति ॥१॥

(पतत्रिणी) पंखों वाली पक्षिणी के सदृश अल्पकाय (हेतिः) अस्त्र रूप हमारा वायुयान, (अमून्) उन [शत्रुओं की ओर] (न्येतु) नितरां जाय, (यत्) यह जो (उलूकः) उल्लू (वदति) कहता है, (एतत्) यह (मोघम्) व्यर्थ है, अज्ञान विजृम्भित है। (यद् वा) अथवा [जो यह कहता है] कि (कपोतः) हमारा वायुयान (अग्नौ) युद्धाग्नि में (पदम्, कृणोति) पैर पसार रहा है [यह भी व्यर्थ है]।

[उलूक का अभिप्राय उल्लू-पक्षी नहीं, अपितु वह मनुष्य है जो कि इस प्रकार का कथन करता है। अज्ञानी और बेवकूफ को उल्लू कहते भी हैं। मोघम्=मुह वैचित्ये (दिवादिः), चितिशून्यता, संज्ञानराहित्य; चिती संज्ञाने (भ्वादिः)]।

यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः।
कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु ॥२॥

(निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ति! (ते) तेरे (यौ) जो दो (दूतौ) उपतापी दूत (प्रहितौ) शत्रु द्वारा प्रेषित, (वा) या (अप्रहितौ) स्वयमागत हुए, (नः) हमारे (इदम्) इस (गृहम्) घर अर्थात् राष्ट्र के प्रति (एतः) आए हैं, उन (कपोतोलूकाभ्याम्) वायुयान और उस के सञ्चालक के लिये (तद्) वह हमारा राष्ट्र (अपदम्) अनाश्रयभूत (अस्तु) हो। अपदम्=अ+पद गतौ=आने-जाने का स्थान न हो।

[कृच्छ्रापत्ति है युद्धावस्था। इस अवस्था के कारण शत्रुराष्ट्र द्वारा भेजे गए, या स्वयमेव भेद लेने के लिए आए, वायुयान और उसके सञ्चालक को निज राष्ट्र में आश्रय न देना चाहिये। वायुयान के सञ्चालक को

उल्लू कहा है। क्योंकि हमारी शक्ति को जाने विना वह हमारे राष्ट्र में आया है। हमारी शक्ति का कथन (मन्त्र ३) में हुआ है। निर्ऋतिः= निरम्णात्, ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः (निरुक्त २।२।८)। दूतौ=टु दु उपतापे (स्वादिः)।

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा संसद्यात्।
पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम्।
यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान्॥३॥

[हे परराष्ट्र के दूत] (अवैरहत्याय) अवैर अर्थात् वैर के अभाव अर्थात् मैत्री की प्राप्ति के लिये, (इदम्) इस हमारे राष्ट्र में तू (आ पपत्यात्) उड़कर आया कर, (सुवीरतायै) तथा निज सुवीरता के प्रदर्शन के लिये (इदम्) इस वायुयान पर (आससद्यात्) तू आ बैठाकर। (पराचीम्) पूर्वकाल से आई (संवतम्) पारस्परिक हमारी संगति अर्थात् मेल को लक्ष्य कर के (पराङ् एव) दूर-दूर के प्रदेशों में (परावद) तू कहा कर। (यथा) जिससे कि (यमस्य) नियन्ता राजा के (गृहे) राष्ट्र में या घर-घर में (त्वा) तुझे प्रजाजन (अरसम्) रसहीन (प्रति चाकशान्) देखें, तथा (आ भूकम्) सर्वत्र सत्तावान् (प्रतिचाकशान्) देखें।

[हत्याय=प्राप्ति के लिये। हन् हिंसागत्योः (अदादिः), यहां गति अर्थ अभिप्रेत है। गति के ३ अर्थ होते हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति। प्राप्ति अर्थ संगत है। आपपत्यात्=कपोत अल्पकाय वायुयान द्वारा शीघ्र आ जाना। अरसम् शक्तिशाली परराष्ट्र दूत का रस है शौर्य। जब पर-राष्ट्र के दूत सेनापति को युद्ध न करना रहे तो मानो सेनापति शौर्य से विहीन हो गया, और सर्वत्र वह सत्तासम्पन्न दीखने लगा। आभूकम्=आ सर्वत्र, भू सत्तायाम्]।

सूक्त ३०

(१-३)। उपरिबभ्रवः। शमी। जगती; २ अनुष्टुभ्; चतुष्पदा ककुम्मती अनुष्टुभ्।

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः॥

(देवाः) प्राकृत दिव्य तत्त्वों ने (मधुना) माधुर्य अथवा मधुर-जल से (इमम्) इस (संयुतम्) मिश्रित (यवम्) यवान्न को (मणौ) मणिरूप (सरस्वत्यामधि) सरस्वती में (अवचर्कृषुः) कृषि द्वारा प्राप्त किया। (शतक्रतुः) सैंकड़ों कर्मों वाला (इन्द्रः) सूर्य (सीरपतिः) हल का पति अर्थात् हल जोतने वाला (आसीत्) था, (सुदानवः) उत्तम जल के दाता (मरुतः) मानसून वायुएं (कीनाशाः) किसान (आसन्) थे।

[सरस्वत्यामधि=जलवाली नदी के समीप की भूमि में। सरस्वती सामान्य नदी है जिस में कि प्रभूत जल है, सरस्वती=(जल)+वती। यह ऐतिहासिक सरस्वती नदी नहीं। खाने में यव मधुर रसवाला है अतः वह मधु मिश्रित है, अथवा सरस्वती के मधुर जल से मिश्रित है, (मधु उदकनाम, निघं. १।१२)। सरस्वती के समीप की भूमि सु-उपजाऊ है, अकृष्टपच्या है, अतः इस में हल जोतने की आवश्यकता नहीं, प्राकृतिक तत्त्वों की शक्तियों द्वारा ही कृष्यन्न प्राप्त हो जाता है, अतः सूर्य को हल चलाने वाला कहा है। न इसमें कूपादि द्वारा जल सींचा जाता है। वर्षा द्वारा ही जल सींचा जाता है, अतः मानसून वायुएं ही कीनाश हैं, मानुष किसान नहीं हैं। कीनाशाः=कीशानाः=किसान। सरस्वती नदी यवादि रूपी धन प्राप्त कराती है अतः मणि[1] रूपा है। मन्त्र का प्रतिपाद्य देवता "शमी" है, शान्तिप्रद उदकप्रदात्री सरस्वती है]।

यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।
आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥२॥

[शमी अर्थात् शान्त स्वभाव वाली स्त्री] (यः) जो (ते) तेरा (मदः) मादक स्वरूप है, (येन) जिस द्वारा (अवकेशः) जो मुण्डित केशों वाला और (विकेशः) विकीर्ण केशों वाला है उस (पुरुषम्) पुरुष को भी तू (अभिहस्यम्) हास्यास्पद (कृणोषि) कर देती है; इसलिये (त्वत् आरात्) तेरे समीपवर्ती जो (अन्या वनानि) और संभोग याचक हैं उन को (वृक्षि) मैं छिन्न भिन्न कर देता हूं, (शमि) हे शान्त प्रकृति वाली! (त्वम्) तू (शतवल्शा) सैंकड़ों शाखा वाली लता के सदृश (विरोह) विविध रूप में बढ़।

---

१. मणि=money; अर्थात् धनरूपा।

[शमी द्वारा शान्त स्वभाव वाली गृहिणी का भी वर्णन होता है (अथर्व ६।११।१)। अवकेश है संन्यासी, और विकर्णकेश है मुनि, सम्भवतः वानप्रस्थी। पूर्णसंयमी न होने की अवस्था में ये भी ऐन्द्रियिक भोग के वशीभूत हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में संभोग-याचकों का छेदन आवश्यक हीं होता है। वनानि=वनु याचने (तनादिः)। ऐसे लोग अवाञ्छनीय वनों के सदृश उच्छिन्न करने योग्य होते हैं। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में कहा है कि "बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति" (मनु० २।२१५)]

अथवा

मन्त्र (३) से ज्ञात होता है कि शमी-लता या वृक्ष केशवर्धक है। यह केशवर्धन भी एक प्रकार का मद है जिसका सम्बन्ध शमी के साथ है। केशों को बढ़ा कर यदि पुरुष अवकेश हो जाता है, अर्थात् केशों को नीचे की ओर लटकाए रखता है, या विकेश रूप में केशों को विकीर्ण रूप में रखता है तो सर्वसाधारण की दृष्टि में वह उपहास-योग्य हो जाता है। वैदिक दृष्टि में मुण्डित केशों वाला मुख शोभा योग्य होता है। यथा—

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ (अथर्व० ८।२।१७)

[मन्त्र उपनयन-कर्म सम्बन्धी है]।

बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि।
मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥३॥

(बृहत्पलाशे) बड़े या बहुत पत्तों वाली, (सुभगे) सौभाग्यकारिणी, (वर्षवृद्धे) वर्षा द्वारा बढ़ने वाली, (ऋतावरि) यज्ञकर्म वाली (शमि) हे शमी! (केशेभ्यः) हमारे केशों के लिये (मृड) सुखकारी हो, (इव) जैसे (माता पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये सुखकारी होती है।

[मन्त्र में शमी के सब विशेषण स्त्रीलिङ्ग में हैं, इन से प्रतीत होता है कि शमी लतारूप है। केशों के लिये शमी का सुखकारी होने का केवल यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि हम खल्वाट न हों, गञ्जे न हों। क्योंकि मन्त्र (२) में अवकेश और विकेश पुरुष को उपहास-योग्य कहा है। ऋत=यज्ञ (सायण) ऋतावरी=ऋत+वनिप्+र+ङीप् ("छन्दसी वनिपौ", अष्टा० ५।२।१०९; तथा "वनो र च", अष्टा० ४।१।७)। मन्त्र के ऋषि हैं "उपरि-

वभ्रवः" ऊपर अर्थात् ऊपर के लोकों में स्थित भरण-पोषण करने वाले, इन्द्र और मरुतः (मन्त्र १) । शमी शब्द द्व्यर्थक है । अतः इन दोनों का वर्णन मन्त्र २, ३ में हुआ है] ।

सूक्त ३१

(१-३) । उपरिबभ्रवः । गौः । गायत्री ।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥

(अयम्) यह (गौः) पृथिवीलोक, (पृश्निः) जो कि नाना वर्णी है (आ अक्रमीत्) सूर्य के चारों ओर परिक्रमा कर रहा है, (पुरः) पश्चिम से पूर्व की ओर; (मातरम् असदत्) अन्तरिक्ष में स्थित हुआ, (च) और (स्वः) उत्तप्त (पितरम्) पितृरूप सूर्य के प्रति (प्रयन्) प्रयाण करता हुआ ।

[गौः पृथिवीनाम (निघं. १।१) । पृश्निः=[प्राष्टवर्णः] भूमिरिति (सायण ऋ० १।२३।१०), पृथिवीलोक नानारूपों से रञ्जित है अतः प्राष्टवर्णः । मातरम्=अन्तरिक्षम्, यथा मातरिश्वा=वायुः, यह मातृभूत अन्तरिक्ष में गति करती है, और बढ़ती है, फैलती है । यथा "मातरिश्वा वायुः, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आशु अनितीति वा"[1] (निरुक्त ७।७।२६) । पितरम्=पृथिवी लोक सूर्य से पैदा हुआ है । अतः सूर्य पृथिवी का पिता है । स्वः=स्वृ उपतापे (भ्वादिः) । आ+अक्रमीत् (क्रमु पादविक्षेपे भ्वादिः), पादविक्षेप=पाद बढ़ाना, चलना । अक्रमीत् भूतकाल का प्रयोग है । इस द्वारा यह दर्शाया है कि पृथिवीलोक जब से पिता से पैदा हुआ है तभी से पिता की ओर वह पाद बढ़ा रहा है] ।

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः ।
व्यख्यन्महिषः स्वः ॥२॥

(महिषः) महान्, (स्वः) उत्तप्त सूर्य (व्यख्यत्) विविध ग्रह-उपग्रह आदि को प्रकाशित कर रहा है, (अस्य) इस सूर्य की (रोचना) दीप्ति

---

१. अनिति गतिकर्मा (निघं० २।१४) ।

अर्थात् प्रकाश (अन्तः) पृथिवीलोक के भीतर (चरति) विचरती है, (प्राणात्, अपानतः) और अपान क्रिया के पश्चात् प्राण क्रिया करती है।

[व्यख्यत् = विविध लोकों को प्रख्यात कर रही है। रात्री में सूर्य के प्रकाश का न होना, अपान क्रिया है, तत्पश्चात् दिन में सूर्य के प्रकाश का पुनः आ जाना प्राणक्रिया है। प्रलयावस्था में अन्धकार था, सूर्य के प्रकाश का अभाव था, यह अपानक्रिया थी, तत्पश्चात् सर्जन काल में सूर्य के पैदा हो जाने से पृथिवी आदि में सूर्य के प्रकाश का प्रवेश होना प्राणक्रिया हुई। सूर्य का प्रकाश ही चन्द्रमा को भी प्रदीप्त करता है]।

त्रिंशद्धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत्।
प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥३॥

(प्रतिवस्तोः) प्रतिदिन (वाक्) वाणी (त्रिंशत्) तीस (धामा= धामानि) स्थानों में (विराजति) विराजमान रहती है, प्रदीप्त होती रहती है, (पतङ्गः) पतङ्ग के सदृश उड़ने वाला सूर्य (अशिश्रियत्) वाक् का आश्रय है। (अहः) दिन (द्युभिः) द्युतिमान् सौर-रश्मियों द्वारा (अशिश्रियत्) आश्रय पाता है।

[वस्तोः अहर्नाम (निघण्टु १।९)। धामा=धामानि, स्थानानि (निरुक्त "धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति" ९।३।२७)। राजति = राजृ दीप्तौ (भ्वादिः)। ३० धाम हैं, ३० मुहूर्त। अहोरात्र में ३० मुहूर्त होते हैं। इक मुहूर्त में ४८ मिनिट, अतः ३० मुहूर्तों में १४४० मिनिट् अर्थात् २४ घण्टे, एक अहोरात्र। इस अहोरात्र को मन्त्र में "अहः" द्वारा निर्दिष्ट किया है। प्रत्येक मुहूर्त काल की व्याप्ति, दिन के जितने भाग में होती है उसे एक "धाम" कहा है। इस प्रकार ३० मुहूर्तों के ३० धाम होते हैं। वाक् है मनुष्यों तथा पशु पक्षियों की ध्वनियां। ये पृथिवी के ३० धामों की दृष्टि से कहीं न कहीं सदा विराजमान रहती ही हैं। इन का आश्रय है सूर्य। सूर्य भी ३० मुहूर्तों की दृष्टि से ३० धामों में कहीं न कहीं चमकता ही रहता है। "अहः" के भी दो रूप हैं, अहश्च कृष्णम्, अहर्जुनं च" (ऋ० ६।९।१)। अहः कृष्णम् = रात्री; अहः अर्जुनम् = दिन। रात्री और दिन = अहः]।

काण्ड ६, अनुवाक ३ सम्पूर्ण

अनुवाक ४

सूक्त ३२

(१-३)। १, २ चातनः, ३ अथर्वा। १ अग्निः। २ रुद्रः, ३ मित्रावरुणौ त्रिष्टुभ्; २ प्रस्तारपंक्तिः।

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद् यातुधानक्षयणं घृतेन।
आराद्रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि ॥१॥

(अन्तः) जीवन के भीतर, (दावे) दावाग्नि के सदृश ईर्ष्या आदि अग्नियों के प्रदीप्त हो जाने पर, (एतत्) इस (यातुधानक्षयणम्) यातना देने वाले कुसंस्कारों का क्षय करने वाले मनरूपी हवि को (सु) उत्तम विधि से, (घृतेन) निजशक्ति के अनुसार,(जुहुत) परमेश्वराग्नि में आहुति-रूप में समर्पित कर दो। (अग्ने) हे परमेश्वराग्नि (त्वम्) तू (आराद्) हमारे समीप के (रक्षांसि) राक्षसी भावों को (प्रतिदह) अर्थात् प्रत्येक राक्षसी भाव को दग्ध कर, (नः) हमारे (गृहाणाम्) शरीर गृहों को (न) न (उपतीतपासि) तू उपतापकारी हो।

[सायण ने दावाग्नि में घृत सहित हवि की आहुति देने का कथन किया है। दावाग्नि वनाग्नि। परन्तु मन्त्र में रूपकालंकार में वर्णन हुआ है। घृत है वीर्य "रेतः कृत्वाज्यम्" (अथर्व० ११।८ २९)[1]। योग में भी वीर्य को समाधि में कारण माना है। यथा "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" (योग० १।२०)। हविः से अभिप्रेत है मन। राजस और तामस मन कुसंस्कारों को पैदा करता, और सात्त्विक मन उन का क्षय करता है। इसलिये कहा है कि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः"]।

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोपि शृणातु यातुधानाः।
वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥२॥

---

१. "रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्" रेतस् को आज्य मान कर देव पुरुष में प्रविष्ट हुए।

(रुद्रः) रुद्ररूप परमेश्वर (पिशाचाः, हे मांसभक्षको ! (वः) तुम्हारी (ग्रीवाः) ग्रीवा की नस-नाड़ियों को (अशरंत्) काट दे, (यातुधानाः) हे यातना के निधानो ! (वः) तुम्हारी (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) भी, रुद्र (शृणातु) काट दे । (विश्वतोवीर्या) सर्वाधिक शक्ति वाली (वीरुत्) भेषज (वः) तुम्हें (यमेन) मृत्यु के साथ (सम् अजीगमत्)संगत कर दे ।

[परमेश्वर के प्रति आत्म-समर्पण से परमेश्वर रौद्र रूप प्रकट कर शरीर के मांस को खा जाने वाले तथा यातना देने वाले काम, क्रोध, इर्ष्या आदि दुर्भावों और दुष्कर्मों का विनाश कर देता है । परमेश्वर ही है औषध, जोकि इनके विनाश में सर्वतोवीर्या है । यथा —

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् ।
सुखं मेषाय मेष्यै ।। यजु० ३।५९।।

महीधर, उव्वट ने भी रुद्र को भेषज कहा है । यद्यपि मन्त्र वर्णित पिशाचों और यातुधानों के 'शरीर' नहीं, न उनकी ग्रीवाएं और पृष्टियां हैं, तथापि उन्हें पुरुष मान कर उनके पौरुषविध्रिक अंगों का वर्णन कविता रूप में हुआ है । यथा "यथो एतत् पौरुषविधिकैरङ्गैः स्तूयन्ते इत्यचेतनेष्वप्येतत् भवति । अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः" (ऋ० १०।९४।२) इति ग्रावस्तुतिः (निरुक्त ७।२।७)]

अभ॑यं मित्रावरुणावि॒हास्तु॒ नो॒ऽर्चिषा॒त्त्रिणो॑ नुदतं॒ प्र॒तीचः॑ ।
मा ज्ञा॒तारं॒ मा प्र॑ति॒ष्ठां वि॑दन्त मि॒थो वि॑घ्ना॒ना उप॑ यन्तु मृ॒त्युम्॥३॥

(मित्रावरुणौ) हे मित्र और वरुण ! (इह) इस जन्म में (नः) हमें (अभयम्) अभय (अस्तु) हो, (अर्चिषा) तेज द्वारा (अत्त्रिणः) भक्षकों को (प्रतीचः) पराङ्मुख करके (नुदतम्) तुम धकेल दो, निरस्त कर दो । ये (प्रतिष्ठाम्) आवास भूमि को (मा) न (विदन्त) प्राप्त हों, (मा) और न (ज्ञातारम्) जानने वाले को प्राप्त हों, (मिथः) परस्पर (विघ्नानाः) एक-दूसरे का हनन करते हुए (मृत्युम्, उपयन्तु) मृत्यु के समीप चले जायं ।

सर्व स्नेही परमेश्वर मित्र है, मिदि स्नेहने (चुरादिः), और पापों से निवारण करने वाला वह वरुण है । गुण-कर्म भेद से ही परमेश्वर के दो नाम हैं, अतः द्विवचन का प्रयोग है । निरुक्तकार यास्काचार्य स्थानभेद से

तीन ही देवता मानते हैं, यथा "तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः" (निरुक्त ७।२।५) तीन स्थान हैं, पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौः। वेदोक्त अन्य देवताओं को इन्हीं तीन देवताओं के "कर्मजन्मानः" (निरुक्त ७।१।४) मानते हैं, भिन्न-भिन्न कर्मों के कारण भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले मानते हैं। इसी प्रकार व्याख्येय मन्त्र में एक ही परमेश्वर के दो स्वरूप कहे हैं। परमात्मा के रौद्ररूप के कारण उसे रुद्र कहा है (मन्त्र २), वह दुष्कर्मियों के प्रति रुद्र रूप होता हुआ भी उन के प्रति मित्र रूप है, क्योंकि इस रुद्ररूप द्वारा दुष्कर्मी सत्पथगामी हो जाते हैं। मन्त्र में मित्र और वरुण के एक होने के कारण "अर्चिषा" में एकवचन है, नहीं तो द्विवचन का प्रयोग होना चाहिये था। अत्रिणः हैं ईर्ष्या, काम, क्रोध, मोह आदि। ये मानसिक शक्तियों और शरीर के मांस, रुधिर का मानों भक्षण करते रहते हैं, अद् भक्षणे। जब शरीर में इनकी स्थिति ही न रही तो ज्ञातव्य के अभाव में ज्ञाता भी कौन होना हुआ "मा ज्ञातारम्" जीवन में क्रोध का हनन मैत्री भाव से हो जाता है, और मैत्रीभाव का हनन क्रोध भावना से। इस प्रकार ये "अत्रिणः" परस्पर हनन करते हैं। अधिक मैत्री अर्थात् स्नेह भी मोहरूप होकर "अत्री" हो जाती है]।

सूक्त ३३

(१-३)। जाटिकायनः। इन्द्रः। गायत्री; २ अनुष्टुभ्।

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः।
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥१॥

(जनाः) हे प्रजाजनो! (आयुजः) सर्वत्र ब्रह्माण्ड में योजनाओं वाले (यस्य) जिस इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का (इदम्) यह (रजः) मनोरञ्जक पृथिवीमण्डल है, उसी (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (रन्त्यम) रमणीय (बृहत्) महत् ब्रह्माण्ड है। उस का, (तुजे) ईर्ष्या आदि की हिंसा के लिये, (स्वः) सुख स्वरूप (वनम्) याचनीय है, प्रार्थनीय है।

[ब्रह्माण्ड में सर्वत्र परमेश्वर की योजनाएं प्रतीत होती हैं। योजनाएं बुद्धि पूर्वक होती हैं, और उन में क्रम विशेष और पारस्परिक समन्वय

होता है । ईर्ष्या आदि के विनाश के लिये परमेश्वर के सुख स्वरूप की याचना करनी चाहिये । तुजे= तुज हिंसायाम् (भ्वादिः)]।

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः ।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः ॥२॥

(धृषाणः) धर्षण करने वाला (शवः) इन्द्र का वल (आ दधृषते) सब का धर्षण करता है, (धृषितः) धर्षण किया जाता हुआ भी (न आधृषे) धर्षित होने योग्य नहीं होता । (पुरा) पुराकालों में (यथा) जैसे (व्यधिः) व्यथाकारी अर्थात् धर्षक (श्रवः) यश उसका रहा है, उस (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का (शवः) वल (आधृषे न) अव भी धर्षित होने योग्य नहीं है ।

[आ दधृषते=आ धर्षयति(सायण)। आधृषे=तुमन्नर्थे "केन्" प्रत्यय । धृषितः=नास्तिक न परमेश्वर को मानते, न ब्रह्माण्ड के उत्पादन और धारण और प्रलय में उस का वल ही मानते । वे अचेतन प्रकृति को ही उत्पादिका धारणकर्त्री मानते हैं—यह ही परमेश्वर और उसके बल का धर्षण करना है। पुराकालों में ब्रह्माण्डों का उत्पादन, धारण प्रलय कितनी बार हुआ इसे कौन जानता है। ब्रह्माण्ड का प्रलय अर्थात् विनाश परमेश्वरकृत धर्षण का ही तो परिणाम है ।

"शवः बलनाम" (निघं० २।९); तथा "शवतिर्गतिकर्मा" (निघं० २।१।२); तथा 'शव गतौ" (भ्वादिः)। इस सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्काचार्य का कथन है कि "शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते । विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति" शव - मृतशरीर (निरुक्त अ० २। पाद १। खण्ड २)। यह कथन वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में नहीं, अपितु लौकिक संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में जानना चाहिये] ।

स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसंदृशम् ।
इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ॥३॥

(सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (नः) हमें (ताम्) वह (पिशङ्गसंदृशम्) नानाविध, (उरुम्) प्रभूत (रयिम्) धन (ददातु) प्रदान करे। (जनेषु आ) सर्वत्र फैले जनों में इन्द्र (तुविष्टमः) अति प्रवृद्ध (पतिः) स्वामी है ।

[पिशङ्ग=नानावर्णवाली, सुवर्ण, रजत, कृष्यन्न, फल, कन्द-मूल, गौ, अश्व आदि रूप धन। तुविः=तु वृद्धौ (अदादिः)]।

सूक्त ३४

(१-५) चातनः। अग्निः। गायत्री।

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्।
स नः पर्षदति द्विषः ॥१॥

हे मनुष्य! (क्षितीनाम्) प्रजाजनों पर (वृषभाय) सुखों की वर्षा करने वाले, (अग्नये) सर्वाग्रणी परमेश्वर के लिये (वाचम्) स्तुति वचन (प्र ईरय) प्रेरित किया कर, (सः) वह परमेश्वर (द्विषः) द्वेष भावनाओं [के नर] से (नः अति पर्षत्) हमें पार करे अथवा द्वेष भावनाओं से हटा कर हमें परिपालित करे।

[क्षितीनाम्=क्षितयः मनुष्यनाम (निघं० २।३)। पर्षत्=पॄ पालन-पूरणयोः (जुहोत्यादिः), पॄ. लेटि अडागमः सिप् च]।

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा।
स नः पर्षदति द्विषः ॥२॥

(यः) जो (अग्निः) अर्थात् सर्वाग्रणी परमेश्वर (रक्षांसि) राक्षसी भावों की, (तिग्मेन शोचिषा) तिग्म प्रकाश द्वारा (निजूर्वति) नितरां हिंसा करता है (सः) वह पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[परमेश्वर की स्तुति भक्तिपूर्वक करनी चाहिये। स्तुति द्वारा वह प्रकट होकर हमारे निकृष्ट भावों का विनाश करता है। मन्त्र में तिग्म प्रकाश वाली अग्नि द्वारा रोगजनक कीटाणुओं के विनाश की भी सूचना है। जूर्वति वधकर्मा (निघं० २।१९)]।

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते।
स नः पर्षदति द्विषः ॥३॥

(यः) जो अग्नि अर्थात् सर्वाग्रणी परमेश्वर (परस्याः परावतः) परे से भी परे, अर्थात् दूर से भी दूर, (धन्व तिरः) अन्तरिक्ष को भी तीर्ण कर के, (अति रोचते) अति प्रदीप्त होता है। (सः) वह पूर्ववत्, (मन्त्र १)।

[धन्व अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३)। द्युलोक[1] में परमेश्वराग्नि का प्रदीप्त होना अभिप्राय है]।

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति।
स नः पर्षदति द्विषः ॥४॥

(यः) जो सर्वाग्रणी परमेश्वर (विश्वा भुवना=विश्वानि भुवनानि) सब भुवनों को (अभि वि पश्यति) साक्षात् एक-एक करके देखता है, (च) और (सपश्यति) एक दृष्टि में सब को युगपत् देखता है। (सः) वह पूर्ववत् (मन्त्र १)।

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत।
स नः पर्षदति द्विषः ॥५॥

(यः) जो (अग्निः) सर्वाग्रणी परमेश्वर (अस्य रजसः) इस रञ्जक ब्रह्माण्ड से (पारे[2]) पार (शुक्रः) चमकीले रूप में (अजायत) प्रकट होता है (सः) वह, पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[रजसः=रञ्जक, मनोरञ्जक, मनोहर। शुक्रः[3]="सः पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्" (यजु० ४०।८)। तथा परमेश्वर रजोगुण से परे अर्थात् सात्त्विक चित्त में प्रकट होता है,–यह भाव भी सूचित होता है]।

सूक्त ३५

(१-३)। कौशिकः। वैश्वानरः। गायत्री।

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः।
अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥१॥

(वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी (अग्निः) जगदग्रणी परमेश्वर, (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये, (नः) हमारी (सुष्टुतीः) उत्तम अर्थात् भक्तिभरी स्तुतिओं के (उप) समीप, (परावतः) दूर से भी (आ प्र यातु) शीघ्र हमारे अभिमुख आ जाय, प्रकट हो जाय।

---

१. तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (कठ० उप०)।

२. यथा "पादोऽस्य विश्वा भूतानि। त्रिपादस्यामृतं दिवि" (यजु० ३१।३)। तथा "पादोऽस्येहाभवत् पुनः" (यजु० ३१।४)।

३. "तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१)।

[गत सूक्त ३४ के प्रकरणानुकूल आध्यात्मिक अर्थ किया है। परमेश्वर सर्वव्यापक है, परन्तु अदृष्ट होने से वह हम से दूर है, अतः परावत् है। भक्तिभरी स्तुतियों द्वारा उस से "उप" द्वारा सामीप्य की प्रार्थना की गई है। अग्निरग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)]।

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप।
अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥२॥

(वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी (अग्निः) जगदग्रणी परमेश्वर, (अंहसु) पापनाशक (उक्थेषु) स्तुति मन्त्रों तथा सामगानों में (सजूः) प्रीतिवाला हुआ, (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) उपासना यज्ञ में (उप) समीप (आ अगमत्) आ गया है।

[मन्त्र १ में "आ प्र यातु" द्वारा परमेश्वर से समीपता की प्रार्थना की है, और मन्त्र २ में "आ अगमत्" द्वारा वह हमारे उपासना यज्ञ में समीप आ गया है, पहिले वह अदृष्ट था, अब दृष्ट हो गया है। अंहसु=आहन्तोति अंहः[1] (निरुक्त ४।४।२५)। जो पापी का हनन कर देता है, परन्तु वर्तमान मन्त्र में "अंहः" का अर्थ है "जो पाप का हनन कर देता है।" "अंहः" का केवल अर्थ मन्त्र में है "हनन करने वाला"]।

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत्।
ऐषु द्युम्नं स्व१र्यमत् ॥३॥

(वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी परमेश्वर (अंगिरसाम्) प्राणाभ्यासियों के (स्तोमम्) गेयमन्त्रों को, (च) और (उक्थम्) उन पर सामगानों को (अक्लृपत्) समर्थित करता है। (एषु) और इन सामगायकों में (द्युम्नम्) यश, और (स्वः) आध्यात्मिक सुख (आ यमत्) नियत कर देता है।

[द्युम्नम्=द्योततेः यशो वा अन्नं वा (निरुक्त ५।१।५), पद संख्या "द्युम्नम्" (३३)। अङ्गिरसाम्="आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः" (बृहद्० उप०) तृतीय ब्राह्मण, खण्ड १९]।

---

१. अंहतिश्च, अंहश्च, अंहुश्च "हन्तेः" निरूढोपधात्, विपरीतात् (४।४।२५,) पद संख्या "तूताव" ५७।

सूक्त ३६

(१-३) । अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) । अग्निः । गायत्री ।

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् ।
अजस्रं घर्ममीमहे ॥१॥

(ऋतावानम्) सत्यस्वरूप, (ऋतस्य ज्योतिषः) सत्यरूप ज्योति के (पतिम्) स्वामी, (अजस्रम्) अविनाशी, (घर्मम्) प्रकाश स्वरूप (वैश्वानरम्) सब नर-नारियों के हितकारी या विश्व के नेता परमेश्वर से (ईमहे) हम सदा याचना करते हैं ।

[ऋतावानम् =ऋतम् सत्यनाम (निघं० ३।१०)+वनिप् (मत्वर्थे) । अजस्रम्=अ+जसु हिंसा (चुरादिः) । घर्मम्=घृ दीप्तौ (जुहोत्यादिः), तथा "घर्मम् दीप्यमानम्" (सायण) । ईमहे याच्ञाकर्मा (निघं० ३।१९)] ।

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी ।
यज्ञस्य वयं उत्तिरन् ॥२॥

(सः) जिसने (विश्वा) [विश्व की] सब वस्तुओं को अर्थात् (प्रति) प्रत्येक वस्तु को (चाक्लृपे) पैदा किया, (वशी) जो वशयिता (ऋतून्) ऋतुओं का (उत्सृजते) उत्कर्ष रूप में सर्जन करता है, वह (यज्ञस्य) हमारे जीवन यज्ञ की (वयः) आयु को (उत्तिरन्) बढ़ाता है ।

[यदि जीवन यज्ञमय हो तो आयु बढ़ जाती है । "पुरुषो वाव यज्ञः" (छान्दोग्य० उप० ३।१६)] ।

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको वि राजति ॥३॥

(भूतस्य) भूतकाल के (भव्यस्य) और भविष्यत् काल के प्राणिजगत् का (कामः) काम्य अर्थात् प्रापणीय (अग्निः) सर्वाग्रणी परमेश्वर (परेषु) दूर-दूर के (धामसु) स्थानों में (विराजति) विराजमान है, (एकः) वह अकेला (सम्राट्) विश्व का सम्राट् है ।

[परमेश्वर काम्य है, यथा "सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्"

(यजु० ३२।१३); वह इन्द्र अर्थात् जीवात्मा का प्रिय है, और सबकी कामना का विषय है, प्रापणीय है। अथर्ववेद के अनुसार स्कम्भ-परमेश्वर जड़ जगत् का भी काम्य है—यह कवि शैली के अनुसार कहा है। यथा—(अथर्व० १०।७।४-६), "क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः" आदि]।

सूक्त ३७

(१-३)। अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)। चन्द्रमाः। अनुष्टुभ्।

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम्।
शप्तारमन्विच्छन् मम वृकं इवाविमतो गृहम् ॥१॥

(सहस्राक्षः) सर्वद्रष्टा या हजारों [शप्ताओं] का पूर्णतया क्षय करने वाला परमेश्वर (शपथः) शाप बनकर, (रथम् युक्त्वा) मानो रथ जोत कर (उप प्रागात्) शापकर्ता के समीप शीघ्रता से आ गया है, (मम) मेरे (शप्तारम्) शाप देने वाले को (अनु इच्छन्) ढूंडता हुआ; (इव) जैसे कि (वृकः) भेड़िया (अविमतः) भेड़ों वाले के (गृहम्) घर आ जाता है।

[मन्त्र में यह दर्शाया है कि परमेश्वर शाप देने वाले को ढूंड कर उस का हनन करता है। जैसे कि भेड़िया भेड़ का हनन कर देता है। इस निमित्त परमेश्वर स्वयं शपथ रूप हो जाता है और शापदाता का शपथ देकर उसका विनाश करता है, इसमें वह देर नहीं करता, अतः शीघ्र पहुंचने के लिये मानो वह रथ पर सवार हो शप्ता के हननार्थ उसके समीप पहुंचता है। "सहस्राक्षः—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्॥" (यजु० ३१।१)]।

परि णो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन्।
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥२॥

(शपथ) हे शपथरूपधारी परमेश्वर! (नः) हमें, (परिवृङ्धि) हम में बसा हुआ भी तू, हमें परिवर्जित कर दे, त्याग दे, (इव) जैसे (अग्निः) आग (अदहन्) न दग्ध करती हुई (ह्रदम्) ह्रद को त्याग देती है। (अत्र) यहां अर्थात् हमारे हृदयों में रहता हुआ तू (नः) हमारे (शप्तारम्) शाप दाता का (जहि) हनन कर, (इव) जैसे (दिवः) द्युलोक की (अशनिः) विद्युत् [द्युलोक का हनन न करती हुई] (वृक्षम्) वृक्ष का हनन करती है।

[ह्रद में पानी होता है, उस पानी में भी अग्नि विद्युत् रूप में रहतो है, परन्तु पानो का दहन नहीं करतो, दिव् को अशनि दिव् में रहती है परन्तु दिव् का हनन नहीं करती, इसी प्रकार हे परमेश्वर ! शपथ रूप में हम में बसा हुआ भी तू हमारा हनन न कर]।

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥३॥

(अशपतः) न शाप देते हुए (नः) हमें (यः) जो (शपात्) शाप दे, (च) और (यः) जो प्रतिक्रियारूप में (शपतः) शाप देते हुए (नः) हमें (शपात्) पुनः शाप दे, (तम्) उसे (मृत्यवे) मृत्यु के लिते (प्रति अस्यामि) मैं फैंक देता हूं, (इव) जैसे (क्षामम्) सूखी (पेष्ट्रम्) पीठी को (अव) नीचे भूमि पर (शुने) कुत्ते के लिपे फैंक दिया जाता है।

[परमेश्वर का भक्त परमेश्वर को कहता है कि हम शाप देने की दुष्प्रवृत्ति से रहित हैं, परन्तु मानुष दुर्बलता के कारण शाप देने वाले को यदि हम प्रतिक्रिया रूप में शाप दे देते हैं, और इस हमारी प्रतिक्रिया में शाप देने वाला पुनः हमें शाप देता है तो हम प्रतिक्रिया में उसे पुनः शाप न देकर तेरे प्रति फैंक देते हैं, तू ही मृत्युरूप हुआ उसे यथोचित दण्ड दे। वह हमारे लिये, कुत्ते के लिये फैंकी सूखी पीठी के सदृश है। शुने और मृत्यवे यह हीनोपमा है। 'शप्ता और क्षाम-पेष्ट्र" यह यथार्थ उपमा है] मानुष दुर्बलता यथा (अथर्व० ७।११११); तथा (अथर्व० ६।४५।२; ६।६६।३)। अव=अवस्तात् भूमौ; यथा "शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीनां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ मनु० ॥

सूक्त ३८

(१-४)। अथर्वा (वर्चस्कामः)। बृहस्पतिः तथा त्विषिः। त्रिष्टुभ्।

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥१॥

(यः) जो (सिंहे) शेर में, (व्याघ्रे) बाघ में, (उत या) तथा जो (पृदाकौ) अजगर सांप में, (अग्नौ) आग में, (ब्राह्मणे) ब्राह्मण में, (सूर्ये) सूर्य में (त्विषिः) दीप्ति है, तथा (या सुभगा) जो सौभाग्य वाली

(देवी) दिव्यगुणवती वेद माता (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर को (जजान) प्रकट करती हैं (सा) वह (वर्चसा) वर्चस् के साथ (संविदाना) मेल को प्राप्त हुई (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो।

[सिंह आदि ३ में आक्रमण रूपा दीप्ति, अग्नि में ज्वलन रूपा, ब्राह्मण में ब्रह्मज्ञान तथा वेदज्ञान रूपा, सूर्य में प्रकाशरूपा दीप्ति है। वेदमाता में अध्यात्म विद्या रूपी दीप्ति है। "सा ऐतु" द्वारा उभयविध दीप्ति की प्राप्ति का कथन हुआ है। वेद माता इन्द्र को प्रकट करती है वसे मेरी आत्मशक्ति भी इन्द्र को प्रकट करे]।

या हुस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जुजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥२॥

(या त्विषिः) जो दीप्ति (हस्तिनि) हाथी में, (द्वीपिनि) चीते में, (या) जो (हिरण्ये) सुवर्ण में, (अप्सु) जल में, (गोषु) गौओं में, (या) जो (पुरुषेषु) पुरुषों में है (शेष पूर्ववत्)।

[हाथी में बलोत्कर्ष, चीते में आक्रमण, हिरण्य में रमणीयता, जल में शान्ति, गौओं में पोषण तत्त्व, पुरुषों में पौरुषरूपा दीप्ति। शेष पूर्ववत्]।

रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जुजान सा न ऐतु वर्चसा सं विदाना ॥३॥

(रथे) रथ में (अक्षेषु) रथों की धुरियों में, (ऋषभस्य) बैल का (वाजे) चाल में, (वाते) वायु में, (पर्जन्ये) मेघ में, (वरुणस्य) वरुण के (शुष्मे) बल में [जो दीप्ति] है, [सा ऐतु] वह (नः) हमें प्राप्त हो। (इन्द्रम्) आदि पूर्ववत्।

[रथे=रममाणः अस्मिन् तिष्ठति (निरुक्त ९।२।११), रथ में बठे की रमणीयता; अक्षेषु=धुरियों में आधारता; वृषभस्य=बैल की चाल में गाम्भीर्य; पर्जन्ये=पालकता; शुष्म है शोषक बल; वरुण है पाप निवारक परमेश्वर। परमेश्वर पाप का शोषण कर देता है, विनाश कर देता है। शुष्मम् बलनाम (निघं० २।९)]।

राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥४॥

(राजन्ये) रागयुक्त क्षत्रिय में, (दुन्दुभौ) ढोल में, (आयतायाम्)धनुष् में चढ़ाई डोरी [ज्या] में, (अश्वस्य वाजे) अश्व की गति में, (पुरुषस्य) पुरुष के (मायौ) शब्द में [जो दीप्ति है, "सा ऐतु", वह (नः) हमें प्राप्त हो] (इन्द्रम्) आदि पूर्ववत् ।

[राजन्ये = 'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत'। "स विशोनु व्यचलत" (अथर्व० काण्ड १५। अनुवाक २, पर्याय १। मन्त्र १; तथा (अथर्व का० १५। अनुवाक २। पर्याय २। मन्त्र १) । अर्थात् वह क्षत्रिय रागयुक्त हुआ [रञ्ज रागे, दिवादिः], तत्पश्चात् "राजन्य" हुआ । "वह प्रजाओं के अनुकूल होकर चला" । अभिप्राय यह कि क्षत्रिय जब प्रजाओं में राग अर्थात् अनुराग वाला होता है तो वह "राजन्य" कहाता है । प्रजाओं में अनुराग के कारण वह प्रजाओं की अनुकूलता में राज्य करता है । अतः राजन्य में दीप्ति है—प्रजाओं में अनुराग और प्रजाओं की अनुकलता में शासन करना । दुन्दुभि = ढोल जब बजता है तब लोगों का ध्यान उस की ओर आकृष्ट हो जाता है । अतः ध्यानाकर्षण उसकी दीप्ति है। आयत-धनुष् भय का कारण होता है। अतः भय प्रदत्व उसकी दीप्ति है। अश्व की चाल में शान यह अश्व की चाल में दीप्ति है। वाजे = वज व्रज गतौ। पुरुषस्य मायौ = मन्त्र २ में "पुरुषेषु" द्वारा पुरुषनिष्ठ दीप्ति का वर्णन हुआ है । मन्त्र ४ में पुरुष की "मायु" में की दीप्ति का कथन हुआ है। मायुः = पित्त (उणा० १।१, दयानन्द भाष्य), पित्त प्रकृतिक पुरुष में क्रोध होता है यह उसकी दीप्ति है।

सूक्त ३९

(१-३) । अथर्वा (वर्चस्कामः) । त्विषिः; बृहस्पतिः । १ जगती; २ त्रिष्टुभ्; अनुष्टुभ् ।

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम् ।
प्रसस्रणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये ॥१॥

(यशः हविः) यशःरूप हविः[1] (वर्धताम्) बढ़े, (इन्द्रजूतम्) जो कि सम्राट् द्वारा प्रेरित है, (सहस्रवीर्यम्) हजारों वीरकर्मों द्वारा प्राप्त, (सुभृतम्) उत्तम विधि द्वारा धारित तथा परिपुष्ट, (सहस्कृतम्) साहस द्वारा अर्जित है वह (दीर्घाय चक्षसे) दीर्घ दृष्टि के लिए (अनु) निरन्तर (प्रसर्स्राणम्) प्रसरण शील हो। [हे इन्द्र ! सम्राट् !] (हविष्मन्तम्) यशरूप हविवाले (मा) मुझ को (ज्येष्ठतातये) बड़े राज्य के विस्तार के लिये (वर्धय) तू बढ़ा।

[मन्त्र में इन्द्र अर्थात् सम्राट्, और वरुण अर्थात् माण्डलिक राजा के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन हुआ है। "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। सुभृतम् = सु + भृ (धारणपोषणयोः) + क्त। दीर्घाय चक्षसे = माण्डलिक राजा, निज राज्य में, नियमों का निर्माण आदि दीर्घ दृष्टि से करे, जो कि दीर्घ काल तक लागू हो सकें, इस से उसका यश फैलता है]।

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम ।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥२॥

(नः अच्छ) हमारे अभिमुख वर्तमान, (यशसम्) यशोरूप, (यशोभिः यशस्विनम्) यशोमय कर्मों द्वारा यशस्वी (इन्द्रम्) सम्राट् को (नमसानाः) नमस्कार करते हुए (विधेम) हम उसकी परिचर्या करें। (सः) वह तू हे सम्राट् ! (इन्द्रजूतम्) तुझ सम्राट् द्वारा प्रेरित (राष्ट्रम्) राज्य (नः) हमें (रास्व) प्रदान कर, (ते) तेरे (तस्य रातौ) उस राष्ट्र के प्रदान पर (यशसः स्याम) हम यशस्वी हों।

[विधेम = परिचरणकर्मा (निघं. ३।५)। सम्राट् है संयुक्त-माण्डलिक राजाओं का अधिपति। संयुक्त माण्डलिक राजा नाना हैं, इसलिये "नः, स्याम, विधेम" में बहुवचन है। माण्डलिक राजा और सम्राट् जब कार्य-वश एक दूसरे के अभिमुख होते हैं, तब माण्डलिक राजा, सम्राट् को नमस्कार करते हैं]।

---

१. यज्ञियाग्नि में आहुत हविः धूम्ररूप होकर, बढ़ कर, जैसे अन्तरिक्ष में प्रसृत हो जाती है, फैल जाती है, वैसे हमारा यश भी राज्य और साम्राज्य में बढ़े, फैले।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३॥

(इन्द्रः) हमारे साम्राज्य का सम्राट् (यशः) यशस्वी हो, (अग्निः) सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्री (यशाः) यशस्वी हो, (सोमः) सेना प्रेरक सेनाध्यक्ष (यशाः) यशस्वी (अजायत) हो। (यशा) और (अहम्) मैं माण्डलिक राजा (विश्वस्य भूतस्य) सब प्राणिजगत् के मध्य (यशस्तमः) अतिशय यशस्वी (अस्मि) हो जाऊं।

[अग्निः="अग्रणीर्भवति । अथवा अग्रं नयतीति अग्निः" (निरुक्त ७।४।१४), यथा "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्" (यजु० ४०।१६) में "नय" के प्रयोग द्वारा अग्ने=अग्र+नी[1] अर्थ प्रतीत होता है। सोमः=षू प्रेरणे, सेना प्रेरक, सेनाध्यक्ष, यथा—

इन्द्रऽआसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुरऽएतु सोमः ।
देव सेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ।।
(यजु० १७।४०)।

बृहती सेना का पति है/बृहस्पतिः॥ जोकि सेना के दक्षिण पार्श्व में चलता है। इन्द्र अर्थात् सम्राट् सेना का नेता है। सोम सेना के आगे-आगे चलता है, इसे "यज्ञः"[2] कहा है, यह राष्ट्र और साम्राज्य के दिव्य अधिकारियों का पूजक, उन का संग करने वाला और रक्षार्थ आत्म समर्पण कर देता है। देव सेनाएं हैं विजिगीषु सेनाएं "दिवु क्रीडाविजिगीषा" आदि (दिवादिः ४।१)। मरुतः हैं शत्रु को मारने में सिद्धहस्त सैनिक। मरुतः=मारयन्तीति (उणा० १।९४; दयानन्द भाष्य)]।

सूक्त ४०

(१-३)। अथर्वा (१, २ अभयकामः, ३ स्वस्त्ययनकामः)। १, २ मन्त्रोक्तदेवत्यम्; १,२ जगती; ३ ऐन्द्री अनुष्टुप् ।

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु ।
अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं सप्त ऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥१॥

---

१. अर्थात् अग्नि पद में नी "(णीञ् धातु)" का अर्थ जानना चाहिये, न कि औणादिक "निः" प्रत्यय (उणा० ४।५१)।

२. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु (भ्वादिः)।

(द्यावापृथिवी) हे द्युलोक तथा पृथिवी (इह) यहां (अभयम्, अस्तु) अभय हो, (नः) हमारे लिये (सोमः) चन्द्रमा (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे, (नः) हमारे लिये (सविता) सूर्य अभय करे। (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (नः) हमारे लिये (अभयम्) भय रहित (अस्तु) हो, (सप्त ऋषीणाम्, च) और सप्त ऋषियों की (हविषा) हविः द्वारा (नः) हमारे लिये (अभयम्, अस्तु) अभय हो।

[मन्त्र में प्राकृतिक शक्तियों से भय रहित होने की प्रार्थना परमेश्वर से की गई है। सप्त ऋषि के ४ अर्थ सम्भव हैं, (१) द्युलोकस्थ सप्तर्षि मण्डल (२) शरीरस्थ सप्त ऋषि "षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी" (निरुक्त १२।४।३७); तथा (यजु० ३४।५५)। (३) आदित्य की सप्तविध रश्मियां, जो कि वर्षा ऋतु में इन्द्रधनुष् में दृष्टिगोचर होती हैं। (४) राष्ट्रशासन में परामर्श दाता, राजा के ऋषिकोटि के सप्त सचिव। इस परामर्श को (हविषा) द्वारा निर्दिष्ट किया है। सप्त ऋषियों द्वारा प्रदत्त परामर्श हवि रूप है राष्ट्रयज्ञ में; जिसे कि सप्त ऋषि स्वेच्छा पूर्वक देते हैं, वेतनवृत्ति से बद्ध हुए नहीं। मन्त्र में ये चतुर्थ संख्या के सप्तऋषि अभिप्रेत हैं]।

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु।
अशत्रुरिन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः ॥२॥

(नः) हमारे (अस्मै ग्रामाय) इस ग्राम के लिये (चतस्रः प्रदिशः) चारों व्याप्त दिशाएं, (सविता) और सर्वोत्पादक परमेश्वर (सुभूतम्) प्रभूत (ऊर्जम्) बल और प्राण के प्रदाता अन्न को, तथा (स्वस्ति) उत्तम स्थिति और कल्याण को (कृणोतु) करे। (इन्द्रः) सम्राट् (अशत्रु अभयम्) शत्रु रहित अभय (नः) हमारे लिये (कृणोतु) करे, (राज्ञाम्) राजाओं का (मन्युः) मननपूर्वक किया गया क्रोध, (अन्यत्र) हम शान्तिप्रिय प्रजाजनों से भिन्नों के (अभि) प्रति (यातु) जाय।

[चतस्रः प्रदिशः - अर्थात् ग्राम के चारों ओर फैली दिशाओं में कृषि-कर्म द्वारा ऊर्जाप्रद अन्न उत्पन्न हो]।

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥३॥

(इन्द्र) हे सम्राट्! (नः) हमें (अधरात्) दक्षिण दिशा से (अनमित्रम्)

शत्रुरहित (कृधि) कर, (नः) हमें (उत्तरात्) उत्तरदिशा से (अनमित्रम्) शत्रुरहित कर। (नः) हमें (पश्चात्) पश्चिम दिशा से (अनमित्रम्) शत्रु रहित कर, (पुरः) पूर्वदिशा से (अनमित्रम्) शत्रुरहित कर।

सूक्त ४१

(१-३)। ब्रह्मा। बहुदेवताः; चन्द्रमाः। अनुष्टुभ्। १ भुरिज्, ३ त्रिष्टुभ्।

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥१॥

(मनसे) मनन के लिये, (चेतसे) सम्यक्-ज्ञान के लिये, (धिये) ध्यान के लिये, (आकूतये) संकल्प के लिये, (चित्तये) स्मरण शक्ति के लिये, (मत्यै) मेधा के लिये (श्रुताय) वेदाध्ययन के [चित्त में] धारण करने के लिये (चक्षसे) आंखों के स्वास्थ्य के लिये (वयम्) हम (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) यज्ञ करें, या इन सब की परिचर्या करें।

[चेतसे = चिती संज्ञाने (भ्वादिः)। चित्तये = चिति स्मृत्याम् (चुरादिः)। "मतिः, मतयः" मेधाविनाम (निघं० ३।१५)। श्रुतये, श्रुतिर्वेदः। विधेम परिचरणकर्मा (निघं० ३।५)]।

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥२॥

(अपानाय) अपान के स्वास्थ्य के लिये, (व्यानाय) व्यान के स्वास्थ्य के लिये, (भूरिधायसे) महाधारक तथा पोषक (प्राणाय) प्राण के स्वास्थ्य के लिये, (उरुव्यचे) महाविस्तार वाली (सरस्वत्यै) विज्ञान युक्ता वेदवाणी की प्राप्ति के लिये, (वयम्) हम (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) यज्ञ करें या इन सब की परिचर्या करें।

[अपानाय आदि में तादर्थ्ये चतुर्थी हैं। प्राण का विशेषण है "भूरिधायसे"। वस्तुतः श्वास-प्रश्वास रूपी प्राण, अपानादि तथा समग्र शरीर और इन्द्रियों तथा मानसिक शक्तियों का धारक तथा पोषक है। अपान है अधोवायु, गुदास्थ। व्यान है सर्व शरीरगत वायु, जिस द्वारा रक्त संचार समग्र शरीर में होता है। सरस्वती का विस्तार महान् है, वेद, वेदाङ्ग,

उपवेद तथा भाष्यों आदि के रूपों में वेदवाणी फैली हुई है। व्यचस्=विस्तार]।

मा नो॑ हासिषुर्ऋष॑यो॒ दैव्या॒ ये त॑नू॒पा ये न॑स्त॒न्व॑स्तनू॒जाः ।
अम॑र्त्या॒ मर्त्याँ॑ अ॒भि नः॑ सचध्व॒मायु॑र्धत्त प्र॒तरं॑ जी॒वसे॑ नः ॥३॥

(ये) जो (दैव्याः) देवों सम्बन्धी (ऋषयः) ऋषि हैं वे (नः) हमारा (हासिषुः मा) परित्याग न करें, (ये) जो ऋषि कि (तनूपाः) शरीर के रक्षक हैं (ये) जो (नः) हमारे (तन्वः) शरीर से (तनूजाः) शरीर में ही पैदा होते हैं। (अमर्त्याः) हे अमरणशील ऋषियों! (नः मर्त्यान्) हम मरणशीलों को (अभि सचध्वम्) प्राप्त होओ, (नः) हमारे (जीवसे) जीवित होने के लिये (प्रतरम्) श्रेष्ठ तथा दीर्घ (आयुः) आयु (धत्त) प्रदान करो।

[मन्त्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि "ऋषि" शरीरस्थ हैं, और शरीर से उत्पन्न होते हैं। ये हैं "षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी" (निरुक्त १२।४।३७) तथा (यजु० ३४।५५)। ये ऋषि अमर्त्य हैं, शरीर की मृत्यु हो जाने पर भी ये कारण शरीर में आत्मा के साथ पुनर्जन्म में भी जाते हैं। इन का बाह्य देवों के साथ सम्बन्ध है, बाह्य देव, यथा "वायु, जल, सूर्य आदि"। इन बाह्य देवों के कारण सात ऋषियों की स्थिति शरीर में होती है]।

काण्ड ६, अनुवाक ४ सम्पूर्ण

अनुवाक ५

सूक्त ४२

(१-३) भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणः)। मन्युः। अनुष्टुप्; १, भुरिज्।

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै ॥१॥

[हे पति !] (धन्वनः) धनुष् से (इव) जैसे (ज्याम्) आरोपित डोर को (अव) उतार दिया जाता है वैसे मैं [पत्नी] (ते हृदः) तेरे हृदय से (मन्युम्) क्रोध को (अव तनोमि) उतार देती हूं, पृथक् कर देती हूं (यथा) ताकि (संमनसौ भूत्वा) हम दोनों एक चित्त होकर (सखायौ, इव) दो मित्रों की तरह (सचावहै) परस्पर सुसंगत हो जांय, परस्पर मित्र हो जांय।

[पत्नी निज पति की सेवा, तथा प्रेमोत्कर्ष द्वारा, पति के हृदय से मन्यु को हटा देती है]।

सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः ॥२॥

(सखायौ इव) दो मित्रों के सदृश (सचावहै) हम दोनों मिल जांय, इसलिये (ते) तेरे (मन्युम्) मन्यु को (अव तनोमि) मैं उतार देती हूं। (ते मन्युम्) तेरे मन्यु को (अश्मनः अधः उपास्यामसि हम ऐसे फेंक देते हैं, जैसे कि पत्थर के नीचे किसी वस्तु को फेंक दिया जाता है (यः) जो पत्थर कि (गुरुः) भारी है।

[उपास्यामसि में बहुवचन है। पत्नी के साथ मिल कर अन्य गृहवासी भी पति को प्रसन्न कर उस के मन्यु को दूर करते हैं। मन्त्र में उपमा-वाचकपद लुप्त है]।

अभि तिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥३॥

(ते) तेरे (मन्युम्) मन्यु को (पार्ष्ण्या) पैर की एड़ी द्वारा, (च)और (प्रपदेन) पैर के अगले भाग द्वारा (अभि तिष्ठामि) मैं कुचल देती हूं, (यथा) जिससे कि (अवशः) अपने आप को वश में न रखता हुआ तू (न वादिषः) कुछ न कह सके, और (मम चित्तम्) मेरे चित्त के (उप आयसि) समीप अनुकूल, तू आ जाय, हो जाय।

[अभितिष्ठामि, जैसे किसी वस्तु पर पैरों द्वारा स्थित होकर उसे कुचल दिया जाता है, उसी तरह तेरे मन्यु को मैं कुचल देती हूं। वादिषः =वद+लेट् लकार में अट्, सिप्, तथा उपधावृद्धि 'सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः" (अष्टा० ३।१।३४]।

सूक्त ४३

(१-३)। भृग्वङ्गिराः। मन्युशमनम्। अनुष्टुभ्।

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥१॥

(अयम्, दर्भः) यह दर्भनामक घास-विशेष (स्वाय) निज व्यक्ति के लिये (च) और (अरणाय) विदेशी के लिए (विमन्युकः) मन्यु का विगत करने वाला है। (विमन्युकस्य) विगतमन्यु वाले के आपाततः हुए (मन्योः) मन्यु का (अयम्) यह दर्भ (मन्युशमनः) मन्यु का शमन करता है, अतः दर्भ 'मन्युशमन" (उच्यते) कहा जाता है, अर्थात् दर्भ का नाम "मन्यु-शमन" भी है।

[अरणाय =अ+रण शब्दे (भ्वादिः), तथा रण गतौ (भ्वादिः), जिस के साथ हमारा बोलचाल नहीं अर्थात् विदेशी। दर्भः -दृ विदारणे (क्र्यादिः), घास-विशेष जो कि अनावृत पैर को, या छूने पर अङ्ग को, विदीर्ण कर देता है। यथा 'दर्भेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा" (शाकुन्तल नाटक)। यह कुश-घास है, जिसका ऊपर का भाग कांटेदार होता है, तेज होता है। इसीलिये कुशाग्रबुद्धि शब्द का प्रयोग विषयशीघ्रग्राही के लिये होता है। कुश-घास का रस सम्भवतः "मन्युशमन" हो]।

१०

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति ।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥२॥

(अयम्) यह (यः) जो (दर्भः) दर्भ (भूरिमूलः) नाना जड़ों वाला (समुद्रम्) उदकभूयिष्ठ प्रदेश को (अव अवक्रम्य) प्राप्त कर (तिष्ठति) स्थित होता है, और (पृथिव्याः) पृथिवी से (उत्थितः) ऊपर की ओर स्थित होता है, उठता है, वह (मन्युशमन उच्यते) "मन्युशमन" कहा जाता है।

[पैप्पलाद शाखा में "समुद्रम्" के स्थान में "पृथिव्याम्" पाठ है; समुद्रमवतिष्ठति=अथवा जलभूयिष्ठ प्रदेश को प्राप्त कर, जड़ों को अवस्तात् कर स्थित होता है]।

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥३॥

[हे पति !] (ते) तेरी (हनव्याम्) हनु-सम्बन्धी (शरणिम्) हिंसा अर्थात् क्रोधमयी वाणी को (विनयामसि) हम विनययुक्त अर्थात् विनीत करते हैं, (ते) तेरी (मुख्याम्) मुख सम्बन्धी (शरणिम्) हिंसा अर्थात् क्रोधमयी वाणी को (विनयामसि) हम विनययुक्त अर्थात् विनीत करते हैं (यथा) जिस प्रकार कि (अवशः) निज वश में न रहा, अर्थात् मुझ पत्नी के वश में हुआ तू (न वादिषः) क्रोधमयी वाणी न बोले, और (मम चित्तम्) मेरे चित्त के (उप) समीप (आ आयसि) तू आ जाय, मेरे अनुकूल हो जाय।

[बोलते समय आवाज मुख से बोली जाती है और निचली हनु साथ-साथ हिलती है। अतः बोलने का सम्बन्ध दानों के साथ है, मुख के साथ तथा हनु के साथ। शरणिम्=शॄ हिंसायाम् (क्र्यादिः)]।

सूक्त ४४

(१-३)। विश्वामित्रः। मन्त्रोक्त देवता तथा वनस्पतिः। अनुष्टुभ्; ३ त्रिपदा महाबृहती।

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥१॥

(द्यौः) द्युलोक (अस्थात्) नियत स्थान में स्थित है, (पृथिवी अस्थात्)

पृथिवी नियत स्थान में स्थित है (इदम्, विश्वम् जगत्) यह सब जगत् (अस्थात्) नियत स्थान में स्थित है। (ऊर्ध्वस्वप्नाः) ऊपर की ओर उठे हुए स्वप्नावस्था में (वृक्षाः) वृक्ष (अस्थुः) नियत स्थान में स्थित हैं, (अयम्) यह (तव) तेरा (रोगः) रोग भी (तिष्ठात्) नियत स्थान में स्थित हो जाय।

[सायण ने रुधिर-स्राव रोग कहा है। मन्त्र में "अस्थात्" द्वारा "गति-निवृत्ति" अभिप्रेत नहीं, अपितु निज प्रतिनियत स्थानों में स्थिति अभिप्रेत है। इसलिये "इदम् विश्वम्" को जगत् कहा है। जगत् गच्छतीति; अथवा "गम् (गतौ) + यङ्लुक् + शतृ", अर्थात् अतिशय गतिशील कहा है। रुधिर भी हृदय से नाड़ियों में स्रवण करने के लिये है, यह ही उस को नियत स्थिति है, इस स्थिति में ही उसकी स्थिति चाहिये, स्राव के लिये नहीं। वृक्षों की स्थिति स्वप्नावस्था की कही है, इस द्वारा वृक्षों में भी जीवात्मा की स्थिति निर्दिष्ट को है। स्वप्न चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं]।

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च।
श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥२॥

(या = यानि) जो (शतम्) सौ (भेषजानि) चिकित्सा योग्य औषधें, (च) और (सहस्रम्) हजार औषधें (संगतानि) एकत्रित की हैं, उन में से (आस्रावभेषजम्) आस्राव की औषध जो (ते) तेरे (रोगनाशनम्) रोग की नाशक है, वह (श्रेष्ठम्) सर्वोत्तम (वसिष्ठम्) जल है।

[वसिष्ठम् जल। यथा "वसिष्ठोऽप्याच्छादित[1] उदकसंघातः" स्कन्धस्वामी का भाष्य, मन्त्र "उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ" (ऋ० ७।३३।११) (निरुक्त ५।३।१४)। इसे ही मन्त्र ३ में "रुद्रस्य मूलमसि" [मन्त्र ३] द्वारा रुद्र का मूत्र कहा है। जल "वसिष्ठ" है "वस्तृतम" है, शरीर में ३/४ भाग रूप में वसा हुआ है, शेष भाग में ¼ अन्य तत्त्व हैं। अथवा वसिष्ठः = वासयितृतमः (सायण)। शरीर में जीवात्मा को बसाने का यह सर्वातिशय साधन है। शरीर में उदकमात्रा के कम हो जाने पर मृत्यु की

१. वसिष्ठ शब्द में वस आच्छादने मान कर आच्छादित अर्थ किया है, उदक संघात मेघ में आच्छादित रहता है।

सम्भावना हो जाती है। उदकमात्रा के कम हो जाने को "DEHY-DRATION" कहते हैं]।

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः।
विषाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी॥३॥

(रुद्रस्य) अन्तरिक्षस्थ विद्युत् का (मूत्रम्) मूत्ररूप (असि) तू है [हे वसिष्ठ!] (अमृतस्य) अमृतत्व अर्थात् चिरकाल तक जीवन का तू (नाभिः) बन्धक है, स्थापक है। (विषाणका[1]) रोग को शरीर से विभक्त करने वाली ओषधि (नाम वै) नाम वाली निश्चय से (असि) तू है,(पितृणाम्) ऋतुओं की (मूलात्) मूलभूत[2] ऋतु से (उत्थिता) तू उत्पन्न हुई है, (वातीकृतनाशनी) प्रकुपित वात से किये गये रोग का नाश करने वाली है।

[मूत्रम् - जलम् (सायण)। नाभिः = बन्धकं स्थापकम् (सायण), नह [णह] बन्धने (दिवादिः)। विषाणका = विशेषेण रोगनिवर्तनस्य संभक्त्री (सायण)। जल ओषधि है, ओषधि पद स्त्रीलिङ्गी है। अतः मन्त्र में स्त्रीलिङ्गी प्रयोग हुए हैं, जो कि जल का ही कथन करते हैं।

विशेष कथन

वैदिक साहित्य में "पितरः" का प्रयोग ऋतुओं के लिये भी हुआ है। पितरों अर्थात् ऋतुओं की मूल ऋतु अभिप्रेत है "वर्षा ऋतु"। वर्षा ऋतु के सम्बन्ध से संवत्सर को वर्ष कहते हैं। वसिष्ठ अर्थात् जल को मन्त्र में वर्षा-ऋतु से उत्थित कहा है। वर्षा से प्राप्त किया जल शुद्ध पवित्र होता है, उस में भौमतत्त्व मिले नहीं होते। इसलिये वह जल चिकित्सा के लिये उत्तम होता है, और मन्त्रोक्त वातरोग के विनाश के लिये उपयुक्त है। पृथिवी की एक विशिष्ट गति के कारण जिसे कि "Precession of equinoxs"[3] कहते हैं। समय-समय पर भिन्न-भिन्न ऋतुओं से संवत्सर-काल प्रारम्भ होता रहता है, यह ज्योतिःशास्त्र का सिद्धान्त है। लगभग २४

---

१. वि+षण संभक्तौ (भ्वादिः)।

२. जिस ऋतु से संवत्सर या वर्ष का प्रारम्भ हुआ, वह ऋतु मूलरूप है।

३. The shifting of the equinoctial points from east to west अर्थात् जिन स्थानों पर सूर्य के आगमन पर दिन-रात बराबर होते हैं, उन

हजार वर्षों में ऋतुचक्र पुनः पूर्वस्थिति में आ जाता है, अर्थात् ऋतुचक्र या संवत्सर जिस ऋतु से प्रारम्भ हुआ था, उस ऋतु से पुनः प्रारम्भ हो जाता है।

सूक्त ४५

(१-३)। अङ्गिराः (प्रचेताः)। यमः, दुःस्वप्ननाशनम्। १ पथ्यापंक्तिः, २ भुरिक् त्रिष्टुभ्, ३ अनुष्टुभ्।

प॒रो॑ऽपेहि मनस्पाप॒ किमश॑स्तानि शंससि।
परे॑हि॒ न त्वा॑ कामये वृ॒क्षान् वना॑नि॒ सं च॑र गृ॒हेषु॒ गोषु॑ मे॒ मनः॑ ॥१॥

(मनस्पाप) हे मानसिक पाप! (परः अप इहि) परे हट जा, (किम्) क्यों (अशस्तानि) अप्रशस्त कर्मों की (शंससि) तू प्रशंसा करता है। (परा इहि) परे चला जा, (त्वा न कामये) तुझे नहीं मैं चाहता, (वृक्षान्, वनानि) वृक्षों और वनों में (संचर) संचार कर, विचर (मे) मेरा (मनः) मन (गृहेषु) गृहकार्यों में, (गोषु) और गोपालन में विचरे।

[मन्त्र में देवासुर संग्राम को निर्दिष्ट किया है, मानसिक पाप है असुर और उसके हटाने का संकल्प है देव। मानसिक-पाप ही वास्तविक पाप है। ऐन्द्रियिक और शारीरिक पाप तो मानसिक-पाप के परिणाम होते हैं, अतः संकल्पों और विचारों को शिव बनाना चाहियें। मानसिक-पाप की कामना को वर्जित करना चाहिये। वृक्षों और वनों में पाप विचरता है। वृक्षों और वनों में पापिष्ठ जीवात्माएं जन्म ग्रहण करती हैं। इनमें जीवात्माओं का वास होता है। तभी इन्हें "ऊर्ध्वस्वप्नाः" कहा है (अथर्व० ६।४४।१)।

स्थानों का पूर्व से पश्चिम की ओर बदल जाना। तथा—

A slow backward motion of the equinoctial points along the ecliptic, caused by the greater attraction of the sun and moon on the excess of matter of the equator such, that the times at which the sun crosses the equator comes at shorter intervals than they should otherwise do.

रविमार्ग में उन दो स्थानों का, जहां कि दिन-रात बराबर हो जाते हैं, [मार्च २१ तथा सितम्बर २३ को] दिन और रात के स्थानों का पीछे की ओर शनैः-शनैः खिसकते जाना, जो कि सूर्य और चन्द्रमा द्वारा, भूमध्य रेखा पर अधिक द्रव्य के होने पर होता है, जिस से भूमध्य रेखा पर सूर्य के आने का समय पूर्वापेक्षया कम हो जाता है।

स्वप्न और जागरण जीवधारियों को होते हैं,जड़ों को नहीं। मन को खाली न रखना चाहिये, इसलिये कहा है "गृहेषु गोषु" "मे मनः"। जीवात्मा के लिये कहा "ओषधिषु प्रतितिष्ठा शरीरैः" (अथर्व० १८।२।७)। शरीरैः= बार-बार शरीर ग्रहण करना ओषधियों में। अतः शरीरैः बहुवचन है, या सूक्ष्म और कारण शरीर सहित स्थूल शरीर रूप में औषधि, वनस्पति, वृक्षों और वनों में शरीरग्रहण करना, अभिप्रेत है]।

अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥२॥

(यत्) जो [पापकर्म] (जाग्रतः) जागते हुए, (यत्) जो (स्वपन्तः) स्वप्न लेते हुए, (अवशसा) नीचकर्म को प्रशंसा द्वारा, (निःशसा) निश्चित रूप में प्रशंसा द्वारा (पराशसा) अति प्रशंसा द्वारा (उपारिम) हमने उपार्जित किया है, (अग्निः) परमेश्वर या हमारी ज्ञानमय अग्नि (अजुष्टानि) असेवनीय (विश्वानि दुष्कृतानि) उन सब दुष्कर्मों को (अस्मत्) हम से (अप) अपगत करके (आरे) दूर (दधातु) स्थापित करे।

[अग्निः=ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" (गीता ४।३७)। उपारिम=उप+आट्+ऋ(गतौ)+उत्तम पुरुष बहुवचन। गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम्, गतिः प्राप्तिश्च। यहां प्राप्ति अर्थ अभीष्ट है। नीच कर्मों की प्रशंसा द्वारा दुष्कर्मों की प्राप्ति होती है। "शस्" प्रशंसार्थक भी है। यथा प्रशस्तम्, प्रशस्ति। अग्निः=अथवा परमेश्वराग्नि निज प्रकाश द्वारा अन्धकारमय दुष्कर्मों को हम से दूर करे]।

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥३॥

(ब्रह्मणस्पते) ब्रह्मवेद के अधिपति या मन्त्राधिपति (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर! (यद् अपि) जो भी (मृषा चरामसि) मिथ्याचरण हम करते हैं [आप की प्रेरणा से] (आङ्गिरसः) प्राणायामादि योगाङ्गों से सम्पन्न, (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी योगी,(नः) हमें(दुरितात्) दुष्परिणामी (अंहसः) पाप से (पातु) सुरक्षित करे।

[मिथ्याचरण=दुष्कर्म (मन्त्र २)। अङ्गिराः प्राणः। यथा "प्राणो वा अङ्गानां रसः" बृहद्० उप० (अध्याय १ ब्राह्मण ३। सन्दर्भ १९)]।

सूक्त ४६

(१-३)। अङ्गिराः । पूर्वोक्त देवता तथा स्वप्नम् । १ ककुम्मती विस्तार-पंक्तिः; २ त्र्यवसाना शक्वरीगर्भा पञ्चपदा जगती; ३ अनुष्टुभ् ।

यो न जीवोसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न ।
वरुणानी ते माता यमः पितारर्रुर्नामासि ॥१॥

(स्वप्न) हे स्वप्न ! (यः) जो (न जीवः असि) न जीवित तू है, (न मृतः) न मृत है, अपितु (देवानाम्[1]) इन्द्रियों का (अमृतगर्भः असि) न मरने वाला गर्भरूप है, पुत्ररूप है। (वरुणानी) रात्री (ते) तेरी (माता) माता है, (यमः) नियन्ता[2]-दिन तेरा (पिता) पिता है, (अररुः) अररु (नाम) नाम वाला (असि) तू है।

[स्वप्न, जीव अर्थात् प्राणधारी नहीं, "जीव प्राणधारणे" (भ्वादिः)। न मृत है, क्योंकि जाग्रदवस्था के अनुभवों के संस्काररूप में यह मन में स्थिर रहता है। वरुणानी है रात्री, यथा "अहोरात्रौ मित्रावरुणौ" (तां० २५।१०।१०) । स्वप्न रात्री में प्रकट होता है अतः रात्री माता है। दिन के अनुभवों के संस्कारों के कारण स्वप्न की स्थिति होती है, अतः दिन इसका पिता है, दिन द्वारा प्रदत्त संस्काररूपी वीर्य से स्वप्न जन्म पाता है । अररुः[3]=अरम्, अलम्, पर्याप्त "रुङ् गतिरेषणयोः" (भ्वादिः) । स्वप्नावस्था में मन भिन्न-भिन्न स्थानों में "गति करता" जाता आता, और भय में "रेषण" कष्टानुभव करता, विचलित होता रहता है, अतः स्वप्न अररुः है] ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः
स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥२॥

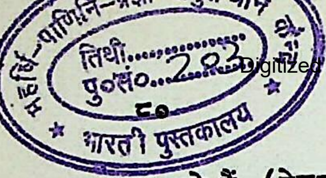
(स्वप्न) हे स्वप्न ! (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्मस्थान को (विद्म) हम

---

१. "नैनद् देवा आप्नुवन्" (यजु० ४०।४), देवाः इन्द्रियाणि (महीधर) ।

२. दिन यम है, दिन के समय प्राणियों की गतिविधि व्यवस्था को नियन्त्रित करने वाला ।

३. अरम् = अलम्, रलयोरभेदात्; अलम् = पर्याप्तम् ।



जानते हैं, (देवजामीनाम्[४]) इन्द्रियों की पत्नियों वृत्तियों का (पुत्रः असि) तू पुत्र है, (यमस्य) दिन का यम-नियमरूपी चित्तवृत्तियों का तू (करणः) कर्म है। (अन्तकः असि) तू दुःस्वप्नों और उनके परिणामों को अन्त कर देता है, समाप्त कर देता है, (मृत्युः असि) तू उनके लिए मृत्युरूप है। (स्वप्न) हे स्वप्न! (तं त्वा) उस तुझको (तथा) उन गुणों वाला है (सं विद्म) यह हम सम्यक्तया जानते हैं। (स्वप्न) हे स्वप्न! (सः) वह तू (नः) हमें (दुष्वप्न्यात्) दुःस्वप्न और उसके दुष्परिणामों से (पाहि) रक्षित कर।

[मन्त्र में "स्वप्न" से अभिप्राय है सात्त्विक स्वप्न। और दुःस्वप्न हैं राजसिक और तामसिक स्वप्न। जिस अनुपात से जीवन में सात्विक स्वप्न उत्पन्न होते रहते हैं, उसी अनुपात से राजसिक और तामसिक स्वप्नों का अन्त और मृत्यु होती जाती है। स्वप्न का सम्बोधन कविता शैली से है। इस प्रकरण की विशेष व्याख्या अथर्व० कां० १६। सूक्त ५।८-१० में, तथा अथर्व १६।५ के समग्र सूक्त में सामान्य रूप से कर दी गई है]।

यथा॑ क॒लां यथा॑ श॒फं यथ॒र्णं सं॒नय॑न्ति।
ए॒वा दु॒ष्वप्न्यं॒ सर्वं॒ द्वि॒ष॒ते सं न॑यामसि ॥३॥

(यथा) जिस प्रकार (कलाम्) [कृष्णपक्ष की] चान्द्रकला को [एक-एक करके सूर्यरश्मियां] अमावास्या में (सं नयन्ति) ले जाती हैं, लीन कर देती हैं (यथा) जिस प्रकार [लोहकार] (शफम्) अश्व और बैल के खुर को लोहे की खुरी लगाने के लिए (सं नयन्ति) तरासते तथा छील कर अपगत करते हैं, (यथा) जिस प्रकार ऋणी पुरुष (ऋणम्) ऋण की राशि को शनैः शनैः (संनयन्ति) सम्प्रदान द्वारा समीकृत करते हैं, (एवा) इसी प्रकार (सर्वं दुष्वप्न्यम्) सब दुःस्वप्न और उसके दुष्परिणामों को (द्विषते) अप्रियपक्ष के लिये (संनयामसि) परस्पर मिलकर हम प्राप्त करते जाते हैं।

[द्विषते=द्विष अप्रीतौ (अदादिः), अर्थात् सात्त्विक स्वप्नों के द्वारा, दुष्वप्न्यों के साथ हम प्रेम करना त्यागते जाते हैं, उन्हें द्वेषपक्ष में प्राप्त करते जाते हैं]।

---

४. देवजामीनाम् पुत्रः=इन्द्रियों की वृत्तियों द्वारा उत्पादित चित्त वृत्तियों का पुत्र स्वप्न।

सूक्त ४७

(१-३)। अङ्गिराः। अग्निः; २ वैश्वदेवी; ३ सौधन्वनाः। त्रिष्टुभ्।

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम ॥१॥

(वैश्वानरः) सब नर-नारी रूप प्राणियों का हितकारी, (विश्वकृत्) विश्व का कर्त्ता, (विश्वशंभूः) समग्र जगत् में दुःख के शमन द्वारा सुखोत्पादक (अग्निः) सर्वाग्रणी, ज्ञानस्वरूप तथा पापदग्धा परमेश्वर (प्रातः सवने) ब्रह्मचर्य के २४ वर्ष पर्यन्त प्रातः सवन में (अस्मान्) हम ब्रह्मचारियों की (पातु) रक्षा करे। (सः) वह (पावकः) पवित्र करने वाला परमेश्वर (नः) हमें (द्रविणे) शारीरिक बल में, तथा वीर्य या प्राणरूपी धन में (दधातु) धारित-पोषित करे, (आयुष्मन्तः) ताकि हम दीर्घायु से सम्पन्न हुए (सहभक्षाः स्याम) ब्रह्मचर्याश्रम में परस्पर साथ मिल कर भोजन करने वाले हों।

[सायण भाष्य में मन्त्र का याज्ञिक अर्थ है। परन्तु ब्रह्मचर्य विषयक आधिभौतिक अर्थ निम्नलिखित प्रमाण के आधार पर किया गया है। यथा "पुरुषो वाव यज्ञः, तस्य यानि चतुर्विꣳशति वर्षाणि तत् प्रातः सवनम् तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसवः, एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति ॥१॥ अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् माध्यन्दिनꣳ सवनम् तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति। ३। अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयं सवनम्, तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते ।५। (छान्दोग्य ३।१६)। अर्थात् "पुरुषः" देह पुरि में शयन करने वाला जीवात्मा "यज्ञ" अर्थात् अतीव शुभ गुणों से संगत और सत्कतव्य है। इस को अवश्य है कि २४ वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे। तो उस के शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभ गुणों के वास कराने वाले होते हैं ॥१॥

मध्यम ब्रह्मचर्य यह है, जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रह कर वेदाभ्यास करता है उस के प्राण, इन्द्रियां, अन्तः करण, और आत्मा बल

युक्त हो के सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करने हारे होते हैं ॥३॥

उत्तमब्रह्मचर्य ४८ वर्ष पर्यन्त का तीसरे का होता है । जो ४८ वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है उस के प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं ॥४॥

सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, दयानन्द ।

अग्निः—अग्रणीर्भवति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते-इति शाकपूणिः, इतात् अक्तात् दग्धाद्वा, नीतात् (निरुक्त ७।४।१४) । द्रविणम् धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति, बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति (निरुक्त ८। ।१)] ।

विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॒ इन्द्रो॑ अ॒स्मान॒स्मिन् द्वि॒तीये॒ सव॑ने॒ न ज॑ह्युः ।
आ॒यु॒ष्मन्तः॑ प्रि॒यमे॑षां॒ वद॑न्तो व॒यं दे॒वानां॑ सुम॒तौ स्या॑म ॥२॥

(विश्वे देवाः) सब इन्द्रियां, (मरुतः) प्राण, (इन्द्रः) आत्मा (अस्मिन्, द्वितीये सवने) इस ४४ वर्षों के द्वितीय सवन अर्थात् रुद्र कोटि के ब्रह्मचर्य काल में (अस्मान्) हमें (न जह्युः) न त्यागें, अर्थात् यथावत् हमारे शरीरों में विद्यमान रहें। (आयुष्मन्तः) ताकि दीर्घायु से सम्पन्न हम (एषाम्) इन विश्वेदेव आदि के होते, (प्रियम्) परस्पर प्रेमयुक्त वाणी (वदन्तः) बोलते हुए (वयम्) हम (देवानाम्) गुरुदेवों की (सुमतौ)सुमति में (स्याम) हों, रहें ।

[प्रथम कोटि के ब्रह्मचारियों की संज्ञा है "वसु", द्वितीय कोटि के ब्रह्मचारियों की संज्ञा है "रुद्र"; (छान्दोग्य उपनिषद्, सन्दर्भ १ ३)। एषाम् ="एषाम् सताम्" इन के विद्यमान रहते] ।

इ॒दं तृ॒तीयं॒ सव॑नं क॒वीना॑मृ॒तेन॒ ये च॑म॒सममैर॑यन्त ।
ते सौ॑धन्व॒नाः स्व॑रानशा॒नाः स्वि॑ष्टिं नो अ॒भि वस्यो॑ नयन्तु ॥३॥

(इदम्) यह (तृतीयम्) तीसरा (सवनम्) ब्रह्मचर्यकाल, (कवीनाम्) क्रान्तदर्शी मेधावी गुरुओं सम्बन्धी है, (ये) जिन्होंने (ऋतेन) सत्यज्ञान द्वारा (चमसम्) हमारे मस्तिष्क को (ऐरयन्त) प्रेरित किया है (ते) वे

(सौधन्वनाः) उत्तम प्राण व धनुष् वाले गुरु (स्वः) सुख को या सुखस्वरूप परमेश्वर को (आनशानाः) प्राप्त हुए, (वस्यः) वसुमत्तम अर्थात् प्रशस्त फल को (अभि) अभिलक्ष्य करके (नः) हमें (इष्टिम्) ब्रह्मचर्य-इष्टि अर्थात् ब्रह्मचर्य यज्ञ (सु नयन्तु) उत्तमता से प्राप्त कराएं, सफलता पूर्वक समाप्त कराऐं ।।३।

[चमसम् =मस्तिष्क । यथा "तिर्यग्-बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् । अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ।। (अथर्व १०।८।९)]

"अथाध्यात्मम् । तिर्यग्-बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वश्रोत्रनो वा यस्मिन् यशो निहितं सर्वरूपमत्रासत ऋषय सप्त सहेन्द्रियाणि यान्यस्य गोपत्रीणि महतो बभूवुरित्यात्मगतिमाचष्टे" (निरुक्त १२।४.४०; सप्त ऋषयः २५)।

चमस है मस्तिष्क । चमस अर्थात् "चमसा" पृष्ठ में उभरा होता है, और उदर भाग में मानो बड़े बिल वाला होता है । यही अवस्था मस्तिष्क और सुषुम्णादण्ड की होती है । चमचे में भी उसे पकड़ने के लिये हत्था होता है, जो कि दण्ड रूप होता है । मस्तिष्क उर्ध्वभाग में उभरा हुआ होता है, और निचले भाग में छिद्र वाला होता है, जिस में से सुषुम्णादण्ड निकल कर पीठ में फैला होता है । इस मस्तिष्क में ज्ञानरूपी यश निहित होता है, और सात ऋषि भी । सात ऋषि हैं पांच इन्द्रियां एक मन, और विद्या । ये सात महाशरीर के रक्षक हैं । अल्पभेद से यह मन्त्र अथर्ववेद में भी पठित है (१०।८।९) तथा (यजु० ३४।५५)।

सौधन्वनाः -सुधन्वन् एव सौधन्वन, स्वार्थे अण् । सुधन्वन् का अर्थ है उत्तमधनुष् वाला । उत्तमधनुष् है प्रणव, ओम् । "यथा प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा । ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्" (उपनिषद्) । अतः सौधन्वनाः का अभिप्राय है वे सद्गुरु जिन्होंने निज आत्माओं को शर अर्थात् बाण बना कर ब्रह्म रूपी लक्ष्य को वेध कर तन्मय कर दिया है । ऐसे सद्गुरु तृतीय सवन में ब्रह्मचारियों को अध्यात्म ज्ञान ज्योति द्वारा आदित्य सदृश प्रकाशमान कर सकते हैं । वस्यः= वसीयः; ईयस् के ईकार का लोप । तैत्तिरीय में "वसीयः" पाठ है]।

सूक्त ४८

(१–३) अङ्गिराः प्रचेताः । मन्त्रोक्त देवताः । उष्णिक् ।

४८वां सूक्त भी ब्रह्मचर्यविषयक है । सूक्त द्वारा ब्रह्मचारी का उपनयन[1] करके आचार्य उसे दण्डप्रदान करता है । कौशिक सूत्र ५६,३४)] ।

श्येनो॑ऽसि गाय॒त्रच्छ॑न्दा॒ अनु॑ त्वाऽऽर॑भे ।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑ ॥१॥

हे परमेश्वर ! (श्येनः असि) श्येन पक्षी के सदृश तू शीघ्र गति वाला है, शीघ्र कार्यकारी है, (गायत्रच्छन्दाः) तू गायत्री छन्द वाला है, गायत्री छन्द द्वारा उपासनीय है, (अनु) तदनुसार (त्वा) तुझे (आरभे[2]) मैं ब्रह्मचारी उपासना में आलम्बन करता हूं। (अस्य यज्ञस्य) इस ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ की (उदृचि) अन्तिम ऋचा तक अर्थात् वसुकाल के ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर्यन्त, (मा) मुझे (स्वस्ति) कल्याण मार्ग से (संवह) सम्यक् प्रकार से ले चल । (स्वाहा) वसु ब्रह्मचर्य काल के प्रारम्भिक यज्ञ में तथा ब्रह्मचर्य काल की समाप्ति में यज्ञ में आहुतियां गायत्री मन्त्रों द्वारा मैं करता हूं ।

[भक्तिपूर्वक उपासित परमेश्वर शीघ्र सफलता प्रदान करता है, अतः वह शीघ्र कार्यकारी है । यथा "भक्तिविशेषादावर्जितः ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण । तदभिध्यानादपि योगिनः आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवति" (ईश्वरप्रणिधानाद्वा योग १।२३, पर व्यास भाष्य) । उदृचि--वसुकाल में जितनी ऋचाएं पाठ्य हैं उन की समाप्ति हो जाने तक ।

गायत्रच्छन्दाः = वसुकाल के ब्रह्मचर्य काल में गायत्री जप पूर्वक परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये । इसी लिये कहा है "गायत्रं प्रातः सवनम्" (छान्दोग्य ३।१६।१), प्रातः सवन है वसु ब्रह्मचर्य काल । इसी प्रकार "माध्यन्दिन सवन" अर्थात् रुद्र ब्रह्मचर्य काल में त्रिष्टुभ्-मन्त्र द्वारा परमे-

---

१. उपनयन=उप (समीप में)+नयन (ले आना), अर्थात् निज आश्रम में ले आना । यह आश्रम है ब्रह्मचर्याश्रम ।

२. त्वा आरभे=त्वाम् आलभे, आलम्बनं करोमि, उपासनायां ध्याने च ।

श्वर की उपासना करनी चाहिये (छान्दोग्य ३।१६।३)। तथा तृतीय सवन अर्थात् आदित्य ब्रह्मचर्य काल में जगती मन्त्र द्वारा परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये (छान्दोग्य ३।१६।५)। इस भावना के अनुसार सूक्त ४८ के मन्त्र २ और ३ में जगच्छन्दाः और त्रिष्टुप्छन्दाः का कथन हुआ है। सायणाचार्य ने भी मन्त्र २ में "तृतीय सवन", और मन्त्र ३ में "माध्यन्दिन सवन" की व्याख्या की है।

त्वाऽऽरभे "त्वा" द्वारा परमेश्वर को कहा है, अतः उपासना में परमेश्वर को "आलम्बन रूप में वर्णित किया है। सूक्त ४७ के मन्त्र ३ में "सौधन्वनाः" द्वारा प्रणवध्यानी सद्गुरुओं का कथन हुआ है। वे ही सद्गुरु सूक्त ४८ के ब्रह्मचर्याश्रम में भी अभीष्ट हैं]।

ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वाऽऽरभे।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥२॥

हे परमेश्वर! (ऋभुः) उरुभान्त अर्थात् बहुत प्रदीप्त (असि) तूं है, (जगच्छन्दाः) जगती छन्द वाली ऋचा द्वारा उपासनीय है, (अनु) तदनुसार (त्वा) तुझे (आरभे) उपासना में मैं ब्रह्मचारी आलम्बन करता हूं। (अस्य) इस (यज्ञस्य) ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ की (उदृचि) अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् आदित्य काल में पठनीय ऋचाओं की समाप्ति पर्यन्त, (मा) मुझे (स्वस्ति) कल्याणमार्ग से (सं वह) सम्यक् प्रकार से ले चल। (स्वाहा) आदित्य ब्रह्मचर्य काल की समाप्ति में यज्ञ में आहुतियां जगती छन्द के मन्त्रों द्वारा मैं करता हूं।

[ऋभुः= उरुभासमानः। यथा "ऋभव उरु भान्तीति वा" (निरुक्त ११।२।१६; ऋभवः १०)। वसु काल से परमेश्वर में ध्यानाभ्यास द्वारा अदित्य काल में परमेश्वर निज अग्र प्रकाश में प्रकाशित होने लगता है। सूक्त ४८ में, मन्त्र २ और ३ में क्रमव्यत्यय प्रतीत होता है। छन्दों का क्रम है गायत्री, त्रिष्टुप् जगती। इसी क्रम से इन छन्दों वाले मन्त्रों का क्रम होना चाहिये]।

वृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वाऽऽरभे।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥३॥

हे परमेश्वर! (वृषा) सुखों की वर्षा करने वाला (असि) तूं है, (त्रिष्टुप् छन्दाः) त्रिष्टुप् छन्द वाली ऋचा द्वारा उपासनीय है। (अनु)

तदनुसार (त्वा) तुझे (आरभे) उपासना में मैं ब्रह्मचारी आलम्बन करता हूं। (अस्य) इस (यज्ञस्य) ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ की (उदृचि) अन्तिम ऋचा तक अर्थात् रुद्रकाल के ब्रह्मचर्य में पठनीय ऋचाओं की समाप्ति तक, (मा) मुझे (स्वस्ति) कल्याण मार्ग से (सं वह) सम्यक् प्रकार से ले चल। (स्वाहा) रुद्रब्रह्मचर्य की समाप्ति में आहुतियां त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रों द्वारा करता हूं।

सूक्त ४९

(१-३)। गार्ग्यः। अग्निः। १ अनुष्टुभ्; २,३, जगती (३ विराट्)

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥१॥

(अग्ने) हे परमेश्वर अग्नि! (ते) तेरे (तन्वः) विस्तृत प्रकाश-स्वरूप की (क्रूरम्) तीक्ष्णता[1] को (मर्त्यः) मरणधर्मा[1] मनुष्य (नहि) नहीं (आनंश) प्राप्त होता। (कपिः) उदक का पान करने वाले आदित्य सदृश तेजस्वी परमेश्वर अग्नि, (तेजनम्) आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा तेजस्वी व्यक्ति को (बभस्ति) निजस्वरूप के प्रकाश द्वारा प्रदीप्त अर्थात् प्रकाशित कर देता है, (इव) जैसे (गौः) गौ (जरायु) जरायुज वत्स को (बभस्ति) प्रदीप्त अर्थात् प्रकाशित कर देती है।

[सूक्त ४९ के तीनों मन्त्र दुरूह हैं। तथापि यथा सम्भव बुद्धिग्राह्य अर्थ प्रस्तुत किये गए हैं। अग्नि है सर्वाग्रणी परमेश्वर। सूक्त ४८ के मन्त्र २ में "ऋभु" पद द्वारा परमेश्वर को "उरु भासमान अर्थात् प्रकाश वाला कहा है"। प्रकाश के "उरुपन" को व्याख्येय मन्त्र में "क्रूरम्" कहा है। सामान्य मनुष्य[1] प्रकाश के इस उरुपन को प्राप्त नहीं होता। मन्त्र में अग्नि को ही "कपि" कहा है। कपिः=कम्, उदकम्, पिबतीति (सायण) द्वारा कपि है आदित्य। मन्त्र में आदित्य द्वारा परमेश्वराग्नि अभिप्रेत है। मन्त्र में "जरायु" पद जरायुज "वत्स" अभिप्रेत है। यथा "सृण्येव जर्भरी" (ऋ० १०।१०६।६) मन्त्र में जरायु है "जरायुजं शरीरम्" (निरुक्त १३।१५)। गौ उत्पन्न वत्स को चाट कर उसके शरीर को प्रदीप्त कर देती है, उज्ज्वल कर देती है। बभस्ति=भस भर्त्सनदीप्त्योः (जुहोत्यादिः) मन्त्र में दीप्ति अर्थ अभिप्रेत है]।

---

१. जीवन्मुक्त ही इस प्रकाश की तीक्ष्णता को प्राप्त कर सकता है।

मेष इव वै सं च वि चोर्वच्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः।
शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून् बभस्ति हरितेभिरासभिः ॥२॥

हे परमेश्वर ! (मेषः) की (इव) तरह तू (वै) निश्चय से (सम्, अच्यसे) सगत होता है, (वि च अच्यसे) और संगति से विरहित होता है, (यत्) जब कि (उत्तरद्रौ) उत्कृष्ट द्रुम अर्थात् वृक्ष में (उपरः) मेघ (च) और तूं [आदित्यरूप में] अर्थात् तुम दोनों (खादतः) खाते हो। (शीर्ष्णा शिरः) सिर के साथ सिर को, (अप्ससा[1] अप्सः[1]) रूप के साथ रूप को [उपमित करता हुआ] परमेश्वर (हरितेभिः आसभिः) हरे वृक्षों रूपी मुखों द्वारा (अंशून्) रश्मियों को (अर्दयन्) हिंसित करता हुआ, चबाता हुआ (बभस्ति) खाता है ।

[मेष द्वारा मेषराशि अभिप्रेत है। मेषराशि का संगम सूर्य के साथ चैत्रमास में होता है, तब वर्ष का आरम्भ होता है, तत्पश्चात् मेष राशि का संगम सूर्य से रहित हो जाता है, और सूर्य वृषराशि में चला जाता है। इसी प्रकार परमेश्वर का संगम मेष अर्थात् उन्मेषित द्वारा जगत् के साथ सृष्टि काल में होता है। यथा "विश्वस्य मिषतो" वशी सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०।१९०।३)। इस प्रकार उन्मिषित जगत् को मेष कहा है। तदनन्तर प्रलय काल में परमेश्वर का संगम सृष्ट जगत् से छूट जाता है, और "मेष निमिषित जगत्" परमेश्वर के संगम से रहित हो जाता है।

उत्तरद्रौ; उत्तरद्रु है उत्तरद्रुम, उत्तरवृक्ष (उणा० १।३५, दयानन्द)। यह है "श्रेष्ठवृक्ष," ब्रह्माण्ड। ब्रह्माण्ड है अश्वत्थ वृक्ष। यथा "अश्वत्थे[1] वो

---

१. (१) अप्सा= यथा "नक्षत्राणि रूपम्" (यजु० ३१।२२), परमेश्वर नक्षत्रों के रूप द्वारा निजरूप को उपमित करता हुआ। आदित्य भी नक्षत्र है। यथा "नक्षत्रं सूर्यम्" (ऋ० १०।१५६।४); अर्थात् सूर्य है नक्षत्र। स्वस्थ आंख द्वारा जितने नक्षत्र द्युलोक में दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब सूर्य हैं। वे स्वतः प्रकाशी है। परमेश्वर भी तद्वत् स्वतः प्रकाशी है। इसलिये परमेश्वर को "आदित्यवर्णम्" भी कहा है। यथा "आदित्यवर्णं, तमसः परस्तात्" (यजु० ३१।१८)। तथा "नक्षत्राणि रूपम्" भी (यजु० ३१।२२)। (२) अपः अपस्=रूपनाम। यथा "अप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवति" (निरुक्त ५।३।१३)। प्सा भक्षणे (अदादिः)।

निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता" (यजु० ३५।४)। इस अश्वत्थ ब्रह्माण्ड में "उपर" अर्थात् मेघ (उपरः मेघनाम; निघं १।१०) और आदित्य, जलरूपी अन्न खाते हैं। आदित्य है परमेश्वर का शरीर, जिस में परमेश्वर बसा हुआ है, जैसे शरीर में जीवात्मा। इसलिये आदित्य द्वारा खाना है आदित्यस्थ परमेश्वर का खाना, जैसे शरीर द्वारा खाना है शरीरस्थ जीवात्मा का खाना। अतः कहा है "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म ॥" (यजु० ४०।१७) [उपर अर्थात् मेघ, जलरूपी अन्न को खाता ही है, और आदित्य भी निज रश्मियों द्वारा जल का पान करता रहता है, यह है आदित्य का जलान्न का खाना।

शीर्ष्णा शिरः; यथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३), अर्थात् परमेश्वर-पुरुष के काल्पनिक (यजु० ३१।१३, अकल्पयन्) "शिरः" से द्यौः शिरः प्रकट हुई है। द्यौः को ब्रह्माण्ड का "शिरः" कहा है। व्याख्येय मन्त्र में द्यौः रूपी "शिर" से परमेश्वर-पुरुष के "शिरः" को उपमित किया है। अप्सा अप्सः =अप्सस् का अर्थ है रूप। (अप्सः रूपनाम, निघं० ३।७)। द्यौः, अग्नि द्वारा प्रकाशमान है, इसी प्रकार परमेश्वर-पुरुष ज्ञानाग्नि द्वारा प्रकाशमान है। इस प्रकार द्यौः के अग्निरूपी रूप द्वारा परमेश्वर-पुरुष के रूप अर्थात् स्वरूप, अर्थात् निज रूप को उपमित किया है।

हरितेभिः आसभिः; आसभिः =आस्यैः, मुखैः। प्रत्येक हरा वृक्ष मानों परमेश्वर का आस्य है, मुख है। हरितेभिः में बहुवचन है, अतः आसभिः में भी बहुवचन है। प्रत्येक हरा वृक्ष "अंशून्" अर्थात् सूर्य की रश्मियों को खा कर अर्थात् निज स्वरूप में विलीन कर हरा होता है। वृक्षों, वनस्पतियों में हरापन सूर्य की रश्मियों के कारण होता है। यथा "अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता। तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः" (अथर्व० १२।८।३१), अर्थात् 'अविः" सूर्यपरिवार का रक्षक सूर्य, ऋत अर्थात् जल के आवरण द्वारा घिरा हुआ है, उसके रूप द्वारा ये वृक्ष हरे हैं, और हरी लताओं को मालारूप में धारण किये हुए हैं। हरे वृक्षों में व्यापक परमेश्वर मानो हरे वृक्ष रूपी मुखों द्वारा "अंशून्" अर्थात् सूर्य की रश्मियों को खाता है। ऋतम् उदकनाम (निघं० १।१२)।

१. हे जीवो! जगदीश्वर ने (अश्वत्थे) कल ठहरेगा या नहीं ऐसे अनित्य संसार में (वः) तुम लोगों की (निषदनम्) स्थिति की, (पर्णे) पत्ते के तुल्य चंचल जीवन [शरीर] में (वः) तुम्हारी (वसतिः) निवास (कृता) किया [है] (दयानन्द)।

"अर्दयन् बभस्तिः" अर्द हिंसायाम् (चुरादि.); बभस्तिरत्तिकर्मा (निरुक्त ५।१२)। इन शब्दों द्वारा भक्षणक्रिया के प्रक्रम का निर्देश किया है। भक्षण में भक्ष्य को मुख में डाल कर उसके स्वरूप को हिंसा की जाती है, दान्तों द्वारा चबा कर उस के स्वरूप को विकृत किया जाता है, तत्पश्चात् उसे गले द्वारा उदर में पहुंचा दिया जाता है। यह है भक्षण प्रक्रम। परमेश्वर के आस्य हैं हरे वृक्ष, परमेश्वर इन आस्यों द्वारा अंशुओं, सूर्य की रश्मियों को मानो प्रथम चबाता, और उन के स्वरूपों को शक्ति में विकृत कर, हरे वृक्षों के शरीरों में विलीन कर लेता है। हरे वृक्षों के हरे पत्ते तो आस्यरूप हैं, और वृक्ष शरीररूप हैं]।

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरु रेतो दधिरे सूर्यश्रितः ॥३॥

(सुपर्णाः) सुपतनशील अथवा उत्तमपालक सूर्य की रश्मियां, (वाचम्, अक्रत) ध्वनियों को उत्पन्न करती हैं (उप द्यवि) समीप के द्युलोक में; (कृष्णाः) कृष्णवर्ण वाली या आकर्षण गुण वाली रश्मियाँ (इषिराः) गतिशील हुई (आखरे) अन्तरिक्ष में (अनर्तिषुः) नाच करती हैं। सूर्य रश्मियां (यत् =यदा) जब (नियन्ति) नीचे भूमि तक नियम से पहुंचती हैं, तब (उपरस्य) मेघ के (निष्कृतिम्) निर्माण को करती हैं, (सूर्यश्रितः) सूर्य में आश्रय पाई हुई रश्मियां (पुरु रेतः) बहुत शक्ति को, या बहुत जल को (दधिरे) धारण करती हैं।

[सुपर्णाः =सुपतना आदित्यरश्मयः (निरुक्त ३।२।१२; तथा ४।१।२)। तथा सु+पृ पालने (जुहोत्यादिः)। वाचमक्रत =रश्मियां "अतिगति" शील होती हैं, ये ८ मिनिटों में लगभग १० करोड़ मील के वेग से गति करती है। द्युलोक के तथा अन्तरिक्ष के पदार्थों के साथ टकराकर ये शब्द करती हैं। दिव्यश्रोत्र सम्पन्न योगियों को ये शब्द सुनाई देते हैं। (श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्; योग ३।४१)।

आखरे =आ+खनु अवदारणे (भ्वादिः, +डरः (डरो वक्तव्यः, वार्तिक, अष्टा० ३।४।८०)। आखर है अन्तरिक्ष, आखर सब ओर खुदा हुआ सा स्थान है। अन्तरिक्ष का भी अर्थ बीच- -खुदा हुआ। अन्तरि+क्षनु

हिंसायाम्+डः। अर्नतिषुः= जैसे वेगवती नदी की, तथा समुद्र की तरङ्गें उछलती हुईं ऊपर-नीचे होती हुईं प्रवाहित होती हुईं, बहती हुई नाचती सी प्रतीत होती हैं, वैसे अतिवेग से चलती हुईं सूर्य रश्मियां भी तरङ्गों में तरङ्गित हुईं नाचती सी हैं। ये रश्मियां मेघ का निर्माण करती हैं, समुद्रादि से जल का आकर्ष कर के। ये रश्मियां जब स्थूलपदार्थ के साथ टकराती हैं तब प्रकाशमयी हो जाती हैं। रेतः उदकनाम (निघं० १।१२), तथा वीर्य शक्ति, वीर्यवान् पुरुष ही शक्ति वाला होता है। उपरः मेघनाम (निघं० १।१०)]।

सूक्त ५०

(१-३)। अथर्वा (अभयकामः)। आश्विनम्। १ विराड् जगती; २, ३ पथ्यापंक्तिः।

हृतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम्।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय ॥१॥

(अश्विनौ) हे दो अश्वियो! (तर्दम्) धान्य की हिंसा करने वाले, (समङ्कम्) शीघ्र भाग जाने वाले (आखुम्) चूहे को (हतम्) मारो, (शिरः छिन्तम्) सिर को काट डालो, (अपि पृष्टीः) पसलियों को भी (शृणीतम्) कुचल डालो। ताकि (यवान्) जौं को (न, इत्, अदान्) न खाएं (अपि नह्यतम्, मुखम्) मुख को भी बान्ध दो, (अथ) तदनन्तर (धान्याय) धान्य के लिये (अभयम् कृणुतम्) अभय प्रदान करो।

[अश्विनौ=सायण ने दो अश्विनौ[1] को देवौ माना है। क्या देव आए चूहे को मारने और बान्धने के लिये सन्नद्ध रहेंगे। अश्विनौ से अभिप्राय है गृहवासी पति-और-पत्नी।। निरुक्त के अनुसार अश्विनौ हैं "द्यावा-पृथिव्यौ" (निरुक्त १२।१।१), और द्यावापृथिव्यौ हैं विवाहित पति-पत्नी। यथा "द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह संभवाव प्रजामाजनयावहै" (अथर्व०

१. तथा अश्विनौ="पुण्यकृतौ राजानौ" (निरुक्त १२।१।१)। राजानौ= राजा और राजपत्नी, तथा राजा और प्रधानमन्त्री। पुण्यकृतौ राजानौ, प्रजा और प्रजा की सम्पत्ति की रक्षा निःस्वार्थ भावना से करते हैं। राष्ट्र का धान्य, जिस पर कि प्रजा का जीवन अवलम्बित है उस की रक्षा, महापुण्य का काम है। ये अश्विनौ आखु आदि का विनाश कर प्रजा को जीवित रखते हैं।

१४।२।७१)। मन्त्र में अतिशयोक्ति है चूहे के सम्बन्ध में। तर्दम्=तर्द हिंसायाम् (भ्वादिः)। छिन्तम्=छिदिर् द्वैधीकरणे (रुधादिः)]

तर्द॒ है पत॑ङ्ग॒ है जभ्य॒ हा उप॑क्वस।
ब्र॒ह्मेवासं॑स्थितं ह॒विरन॑दन्त इ॒मान् यवा॒नहिं॑सन्तो अ॒पोदि॑त ॥२॥

(है) हे (तर्द) हिंसक ! (है) हे (पतङ्ग)पतङ्ग के सदृश शीघ्रगतिक ! (जभ्य)हे हिंस्य !(हा -है) हे (उपक्वस -उप+कु+अस) ओ ! लगभग कुत्सित गति अर्थात् चाल वाले आखु ! चूहे !(हविः)हवि को (अनदन्तः) न खाते हुए (इमान् यवान्) इन जौं की (अहिंसन्तः) हिंसा न करते हुए (अपोदित) अपगत हो जाओ भाग जाओ। (ब्रह्म इव हविः) ब्रह्म के सदृश यज्ञियहविः अन्न (असंस्थितम्) अनश्वर है [तुझ द्वारा खाया नहीं जा सकता, अतः सुरक्षित है]। तद, पतङ्ग आदि में जात्येकवचन है। उपक्वस में "अस" का अर्थ है, "गति" (भ्वादिः)। अथवा "ब्रह्म अन्ननाम" (निघं० २ ७); अर्थात् जैसे हमारा खाद्य-अन्न सुरक्षित है, वैसे यज्ञयोग्य हविः अन्न भी सुरक्षित है इसे आखु खा नहीं सकता।

[अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जब नया अन्न, कृषि से प्राप्त हो, तब इस के दो विभाग कर "नवसस्येष्टि" तथा अन्य यज्ञों के लिये एक विभाग अलग रख लेना चाहिये, और खाद्य अन्न का विभाग उस से अलग। पतङ्ग=पतन् गच्छतीति, जो उड़ता हुआ जाता है, पतङ्ग]।

तर्दा॑पते॒ वघा॑पते॒ तृष्ट॑जम्भा॒ आ शृ॑णोत मे।
य आ॑र॒ण्या व्य॑द्वरा ये के च॒ स्थ व्य॑द्वरास्तान्त्सर्वा॑न् जम्भयामसि ॥३

(तर्दापते) हे हिंसक [आखुओं] के पति ! (वघापते) हे आक्षेप योग्य, निन्दनीय, गतियों वालों के पति ! (तृष्टजम्भाः) हे तीक्ष्णदाढ़ा वालो ! तुम (मे) मेरे वचन को (आशृणोत) सुनो कि (ये) जो (आरण्याः) अरण्यवर्ती (व्यद्वराः) विविध अन्नों के खाने वाले, (च) और (ये, के) जो कोई (व्यद्वराः) ग्रामवर्ती हुए विविध अन्नों के खाने वाले (स्थ) तुम हो, (तान्, सर्वान्) उन सब का (जम्भयामसि) हम नाश करते हैं। [वघापते=वघ् (क्विप्, कर्तरि, षष्ठी बहुवचन)। वघि गत्याक्षेपे (भ्वादिः)।

तथा

इन तीनों मन्त्रों में प्रायः आखुओं का वर्णन है। आखु="विभवे सति नैवात्ति न ददाति जुहोति च तमाहुराखुः" (आप्टे) तथा "thief" अर्थात् चोर (आप्टे)। अर्थात् धन के होते जो न खाता, न दान करता, न यज्ञ करता, उसे आखु कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को धान्य के खाने से वञ्चित कर भूखे मार देना चाहिये। ये चाहे अरण्यवासी हों, या ग्रामवासी हों, इन्हें मन्त्रोक्त दण्ड देने चाहियें, तथा सामाजिक जीवन से पृथक् कर देना चाहिये (अपोदित मन्त्र २)। ऐसे व्यक्ति चोर हैं, समाज के धन को चुरा कर विभवशाली हुए हैं। इन्हें चोरों को दण्ड देना ही चाहिये। मन्त्रार्थ ऐसे ही आखुओं तथा चोरों के सम्बन्ध में सार्थक प्रतीत होते हैं। पुरुष-आखुओं के सम्बन्ध में कहा है "एष ते रुद्रभाग आखुस्ते पशुः" (यजुः ३।५७), अर्थात् पुरुष-आखु, रुद्र रूप परमेश्वर का भाग है और उसका पशु है। तभी उस पशु के लिये इन मन्त्रों में कठोर दण्ड का विधान हुआ है। इसी प्रकार यज्ञ न करने वाले को गीता में भी स्तेन अर्थात् चोर कहा है। यथा "इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः" (प्र० ३। श्लो० १२)]।

सूक्त ५१

(१-३)। शंतातिः। आपः, वरुणः। त्रिष्टुभ्; १ गायत्री; ३ जगती।

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥१॥

(वायोः, पवित्रेण) वायुरूपी पवित्रता के साधन द्वारा (पूतः) पवित्र हुआ, (अति द्रुतः) अतिद्रवित (सोमः) वीर्य (प्रत्यङ्) प्रत्येक अङ्ग में गति करता है। यह (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (युज्यः) साथ जुता (सखा) मित्र है। प्रत्यङ्=प्रति (प्रत्येक अङ्ग में)+अञ्चु गतौ।

["वायोः पवित्रेण" में षष्ठी विभक्ति विकल्प में है। यथा "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (योग १।९)। सोमः=सु [षु] प्रसवे (भ्वादिः)+मन् (प्रत्यय, उणा० १।१४०)। अतः सुमन् =Semen(वीर्य) देखो (अथर्व० १४।१।३-५) मत्कृत भाष्य। सोम (वीर्य) का सम्बन्ध वायु के साथ है यथा "वायुः सोमस्य रक्षिता" (अथर्व० १४।१।४); प्राणायाम सम्बन्धी वायु सोम (वीर्य) की रक्षा करती है। रक्त में सुरक्षित हुआ

सोम अतिद्रवित हुआ रक्त में विलीन रहता है, और रक्त के साथ प्रत्येक अङ्ग में गति करता है स्थूल रूप में प्रकट हुआ सोम शरीर से प्रच्युत हो जाता है, शरीर में ठहर नहीं सकता। इन्द्र है जीवात्मा। यथा "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्" (अष्टा० ५।२।९३)। शरीर रथ में सोम, इन्द्र [जीवात्मा] के साथ जुता हुआ, शरीर रथ का संचालन करता है। वीर्य के अभाव में शरीर रथ का संचालन नहीं हो सकता। युज्यः का अर्थ है जुता हुआ, न कि "योग्य"। अन्यथा मन्त्र में "योग्यः" पद ही पठित होता। "सखा" द्वारा शरीर के सम्यक्तया संचालन में "सोम और इन्द्र" में पारस्परिक सहयोग और सांमनस्य सूचित किया है]।

आपो॑ अ॒स्मान् मा॒तरः॑ सूदयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्व॑ः पुनन्तु।
विश्वं॒ हि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदिदा॑भ्य॒ः शुचि॒रा पू॒त ए॑मि ॥२॥

(मातरः) माताओं की तरह (आपः) जल (अस्मान्) हमें (सूदयन्तु) प्रक्षालित करें, शुद्ध करें। (घृतप्वः) घृत की तरह पवित्र करने वाले (नः) हमें (घृतेन) घृत सदृश जल द्वारा (पुनन्तु) पवित्र करें। (देवीः) दिव्य गुणों वाले जल (विश्वम्, रिप्रम्) सब पाप को (प्रवहन्ति) प्रवाहित कर देते हैं। (शुचिः) शुद्ध तथा (पूतः) पवित्र हुआ, (आभ्यः) इन जलों से (उद् इत्) उठ कर (आ एमि) मैं आता हूं।

["मातरः" माताएं जैसे निजबच्चों के मलों को धोकर उन्हें शुद्ध करती हैं, वैसे जल हमारे मलों को क्षारित कर हमें शुद्ध करें। ये मल हैं पाप जन्य चित्तनिष्ठ संस्कार तथा तज्जन्य शारीरिक और मानसिक रोग।

मन्त्र में प्रतिदिन स्नान या जल चिकित्सा का वर्णन है। यह जल तीन प्रकार का है। (१) भूमिष्ठ, जिस में कि भौमतत्त्व मिले रहते हैं। (२) दूसरा है वर्षाजल जिसे कि "घृत" सदृश पवित्र या क्षरित कहा है, घृ क्षरणे (जुहोत्यादिः), यह भौमजल की अपेक्षा शुद्ध होता है। (३) तीसरा है प्रवाहित नदी जल, जिस में बैठ कर जल चिकित्सा करने से शारीरिक मल साथ-साथ प्रवाहित होता रहता है, जब कि टब के जल में जल चिकित्सा करने से शारीरिक मल जल में ही मिला रहता है।

सूदयन्तु = षूद क्षरणे (भ्वादिः), णिच्गर्भित प्रयोग। घृतेन = घृतम् उदकनाम (निघं० १।१२)। घृतप्वः = घृत (उदक) + पूङ् पवने (भ्वादिः)।

यजु० ४।२ में भी "घृतप्वः" पाठ है। मन्त्र में "शुचि" द्वारा मानसिक और "पूत" द्वारा शारीरिक शुद्धि का कथन हुआ है]।

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभि द्रोहं मनुष्याश्चरन्ति ।
अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥३॥

(वरुण) हे पापनिवारक परमेश्वर ! (मनुष्याः) मनुष्य (दैव्ये जने) देव कोटि के जनों के प्रति (यत् किं च) जो कुछ (इदम्) यह (अभिद्रोहम्) द्रोह (चरन्ति) करते हैं, तथा (अचित्त्या) भूल के कारण (चेत्) यदि (तव) हे वरुण ! तुझ द्वारा निर्दिष्ट (धर्मा =धर्माणि) धर्मकर्मों का (युयोपिम) हम ने उल्लंघन किया है, तो (देव) हे देव ! (तस्मात् एनसः) उस पाप से (नः) हमें (मा) न (रीरिषः) हिंसित कर।

[हम मनुष्यों द्वारा किसी भी देवकोटि के जन के प्रति किये द्रोह से; तथा भूल के कारण स्वयं ज्ञानियों द्वारा हुए सत्कर्मों के उल्लंघन से, परमेश्वर से क्षमा चाहते हैं। यह मानुष स्वभाव हो है। वेद में वरुण को "अपामधिपति" भी कहा है (अथर्व० ५।२४।४)। अतः "आपः" प्रकरण में वरुण नाम से परमेश्वर तथा आपः दोनों का कथन किया है]।

काण्ड ६, अनुवाक ५ सम्पूर्ण

अनुवाक ६

सूक्त ५२

(१-३) । भागलिः । मन्त्रोक्त देवताः । अनुष्टुभ् ।

उत् सूर्यो॑ दि॒व ए॑ति पु॒रो रक्षां॑सि नि॒जूर्व॑त् ।
आ॒दि॒त्यः पर्व॑तेभ्यो वि॒श्वदृ॑ष्टो अदृष्ट॒हा ॥१॥

(रक्षांसि) अन्धकार, चोर, रोगजनक कीटाणुओं आदि की (निजूर्वत्) नितरां हिंसा करता हुआ (सूर्यः) सर्व प्रेरक सूर्य (पुरः) पूर्व दिशा में (दिवः) द्युलोक के प्रकाशित प्रदेश से (उत् एति) उदित होता है। (आदित्यः) वह आदित्य (विश्वदृष्टः) सब द्वारा दृष्टिगोचर हुआ है, और (पर्वतेभ्यः) पर्वतों से उदित होता है, और (अदृष्टहा) अदृष्ट क्रिमियों का हनन करता है।

[सूर्य पर्वतीय प्रदेशों में पर्वतों से, तथा तद्भिन्न प्रदेशों में प्रकाशित द्युभागों से उदित होता है। उदित होने से पूर्व सौरप्रभा से पूर्व का भाग प्रकाशित हो जाता है। सूर्य की उदय काल की, तथा सायंकाल की, लाल रश्मियां रोग कीटाणुओं [क्रिमियों] का हनन करती हैं (अथर्व० २।३२।१)। अदृष्टहा (अथर्व० २।३१।२)। निजूर्वत्=जुर्वी हिंसायाम् (सायण)]।

नि गावो॑ गो॒ष्ठे अ॑सद॒न् नि मृ॒गासो॑ अविक्षत ।
न्यू॒३॑र्मयो॑ न॒दीनां॒ न्य॑१॒दृष्टा॑ अलिप्सत ॥२॥

(गावः) सूर्य की रश्मियां (गोष्ठे) रश्मियों के स्थान सूर्य में (नि असदन्) नितरां स्थित हो गई हैं, (मृगासः) स्थान का अन्वेषण करने वाली रश्मियों ने (नि) नितरां (अविक्षत) निज स्थान में प्रवेश पा लिया है। (नदीनाम्) स्तुति करने वाली प्रजाओं की (ऊर्मयः) प्रातः कालीन स्तुति तरङ्गों ने (नि) नितरां (अलिप्सत[1]) प्रापणीय परमेश्वर को प्राप्त करना

---

१. लब्धुं ऐच्छन् (सायण)।

चाहा है, (अदृष्टाः) तथा अदृष्ट अर्थात् भावोकाल में होने वाली प्रातः कालीन स्तुति तरङ्गें भी परमेश्वर को स्तुति काल में पाती रहेंगी।

[मृगास; मृगाणां मार्गणकर्मणामादित्यरश्मोनाम् (निरुक्त १३(१४) । २(१) । ७२ (१४), निरुक्त अतिस्तुति प्रकरण। गावः = "सर्वे रश्मयो गाव उच्यन्ते। ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः" (ऋ० १।१५४।६) (निरुक्त २।२।८)। "मृगासः" द्वारा उन रश्मियों का कथन हुआ है जो कि प्रवेश के लिये स्थान का अभी अन्वेषण कर रहीं थीं। ये भावी काल की अर्थात् आने वाले दिनों की रश्मियां हैं, उनके सम्बन्ध में भी सन्तोष प्रकट किया है कि "उन्होंने भी नितरां निज स्थान में प्रवेश पा लिया है"। इस प्रकार को विचित्र उक्तियां वेदों में पाई जातो हैं। गोष्ठे = गौः (सूर्य रश्मियां) + ष्ठ (उन की स्थिति का स्थान सूर्य)। नदीनाम्; 'नदः स्तोतृनाम" (निघं० ३।१६)। 'नदी' पद "नदः" का स्त्रीलिङ्गी रूप है, जो कि स्त्रीलिङ्गी स्तोताओं का निर्देशक है। अतः "प्रजा" अर्थ किया है। "ऊर्मयः" स्तुति तरङ्गें हैं, एतदर्थ देखो यजु० (१७।९३,९९)। मृगाणाम् = मृग अन्वेषणे (चुरादिः)। मन्त्र में उदित हो गए सूर्य के संम-काल की घटनाओं का कथन किया है]।

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम्।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान् नि शमयत्॥ ३॥

(आयुर्ददम्) पूर्ण आयुः प्रद, (विपश्चितम्) मेधा का चयन करने वाली (श्रुताम्) श्रुति अर्थात् वेद में सुनी गई, कथित हुई, (कण्वस्य) कण्व नामक रोग कीटाणु सम्बन्धी (वीरुधम्) लता को, (विश्वभेषजीम्) जो कि सब प्रकार के रोगों को औषधरूप है उस को (आ भारिषम्, मैं लाया हूं, (अस्य) जो कि इस रोगी के (अदृष्टान्) अदृष्ट अर्थात् अति सूक्ष्म क्रिमियों को (नि शमयत्, नितरां शान्त कर देगी।

[कण्व हैं कण्व सदृश गोल और चक्षु के अगोचर क्रिमि अर्थात् रोग जनक कीटाणु। औषध को कण्व जम्भणी भी कहा है, अर्थात् कण्व का विनाश करने वाली (अथर्व० २।२५।१)। अथर्व० २।२५।१ में इसे "पृश्निपर्णी" कहा है। विपः मेधाविनाम (निघं० ३।१५)]।

सूक्त ५३

(१-३) । बृहच्छुक्रः । नानादेवताः । त्रिष्टुभ्; १ जगती ।

द्यौश्चं म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया पिपर्तु ।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥१॥

(प्रचेतसौ) प्रकृष्ट चेतना देने वाले (द्यौः च पृथिवी च) द्युलोक और पृथिवी लोक (मे) मुझे (इदम्) यह [प्रचैतन्य] प्रदान करें, (बृहन् शुक्रः) बड़ा सूर्य (दक्षिणया) वृद्धि द्वारा (पिपर्तु) मेरा पालन करें; (स्वधा) अन्न (अनु चिकिताम्) निरन्तर ज्ञानप्रद हो, (सोमः, अग्निः, वायुः, सविता, च भगः) चन्द्रमा, अग्नि, वायु, सविता, और उदीयमान सूर्य, [इन में से प्रत्येक] (नः पातु) हमारी रक्षा करे।

[दक्षिणया=दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः)। स्वधा अन्ननाम (निघं० २.७), सात्विक अन्न ज्ञानप्रद होता है, राजस चञ्चलताप्रद और तामस शारीरिक बलप्रद। शुक्रः=प्रदीप्त सूर्य; सविता=प्रत्यग्र उदित सूर्य; भगः= अनुदित परन्तु उदीयमान सूर्य (निरुक्त)। परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि ये सब हमारा पालन करें]।

पुर्नः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥२॥

(पुनः) फिर (प्राणः) प्राण, (पुनः) फिर (आत्मा) आत्मा (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो; (पुनः) फिर (चक्षुः) चक्षुः, (पुनः) फिर (असुः) असु (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो; (वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी (अदब्धः) अहिंसित तथा (तनूपाः) तनू का रक्षक परमेश्वर या शारीरिक अग्नि (विश्वा दुरितानि) सब दुष्फलों का निवारण करता हुआ (नः अन्तः) हमारे भीतर अर्थात् शरीर में (तिष्ठाति) स्थित रहे।

[मन्त्र में पुनर्जन्म के लिये इच्छा प्रकट की गई है। प्राण है श्वास-प्रश्वास, और असु है शरीर और शरीराङ्गों में संचारी प्राण]।

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद् विरिष्टम् ॥३॥

(वर्चसा) शारीरिक कान्ति और (पयसा) माता के दूध के (सम्, अगन्महि) साथ हम संगत हुए हैं, (तनूभिः) स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तनुओं, अथवा तनू के सर्वाङ्गों के साथ (सम्) हम संगत हुए हैं, (शिवेन, मनसा) शिव संकल्पों वाले मन के साथ (सम्) हम संगत हुए हैं। (त्वष्टा) कारीगर अर्थात् जगत् का घड़ने वाला परमेश्वर (अत्र) इस नवजीवन में (वरीयः) उरुतम उद्देश्य (कृणोतु) सफल करे, तथा (तन्वः) तनू सम्बन्धी (नः) हमारा (यद्) जो (विरिष्टम्) क्षतविक्षत है उसे (अनुमार्ष्टु) अनुकूल रूप में शुद्ध करे, ठीक करे।

[पुनर्जन्म हो जाने पर यह प्रार्थना परमेश्वर से की गई है। उरुतम उद्देश्य है, मोक्ष प्राप्ति]।

सूक्त ५४

(१-३)। ब्रह्म। अग्निः, सोमः। अनुष्टुभ्।

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥१॥

(उत्तरम्) सर्वोत्कृष्ट (इन्द्रम्)[1] इस पुरुष को सम्राट् रूप में (इदम्, तत्) यह मैं[2] (युजे) अर्थात् साम्राज्य-शकट की धुरा में युक्त[3] करता हूं, जोतता हूं, (अष्टये) फल की प्राप्ति के लिये (शुम्भामि) इसे माला आदि द्वारा मैं सुशोभित करता हूं। हे परमेश्वर! (अस्य) इसके (क्षत्रम्) क्षतों से त्राण करने के बल को तथा (महीम्) महती (श्रियम्) सम्पत्ति को (वर्धय) तू बढ़ा, (इव) जैसे (वृष्टिः) वर्षा (तृणम्) घास को बढ़ाती है।

[उत्कृष्ट-पुरुष को सम्राट् बनाने के लिये पुरोहित[2] का कथन मन्त्र में हुआ है। "इदम्, तत्" ये दो पद वाक्यालंकार रूप में हैं। अष्टये =

१. इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७)।
२. सम्राट् या साम्राज्य का पुरोहित।
३. राज्याभिषेक की विधि द्वारा (यजु० १०।१-३४)।

अस् गतिदीप्त्यादानेषु, अष् इत्येके; फलादान अर्थ अभिप्रेत है। अशूङ् व्याप्तौ (सायण)]।

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् ।
इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥२॥

(अग्नीषोमौ) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! तथा हे सेनाध्यक्ष ! (अस्मै) इस सम्राट् के लिये (क्षत्रम्) क्षात्रबल को, तथा (अस्मै) इसके लिये (रयिम्) धन को (धारयतम्) सम्पुष्ट करो। (राष्ट्रस्य) राष्ट्र को (अभीवर्गे) चारों ओर को परिधि में (इमम्) इसे (उत्तरम्) सर्वोत्कृष्ट (कृणुतम्) करो, एतदर्थं (युजे) मैं पुरोहित इसे राष्ट्र की धुरा में युक्त[1] करता हूं, जोतता हूं।

[अग्नि तो रयि द्वारा पुष्ट करेगा, और सोम क्षात्रबल द्वारा। अग्नि है अग्रणीः (निरुक्त ७।४।१४), तथा सोम है सेनाध्यक्ष (यजु० १७।४०)। अग्नीषोमौ=उभयपद द्विवचन। वैदिक प्रथा]।

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
सर्वं तं रन्धयामसि मे यजमानाय सुन्वते ॥३॥

(सबन्धुः च असबन्धुः च) सम्बन्धी और न सम्बन्धी (यः) जो भी (अस्मान्) हमें (अभिदासति) उपक्षीण करता, या दास बनाता है, (तम्, सर्वम्) उस सब को (मे) मेरे (सुन्वते) राज्याभिषेक करने वाले, (यजमानाय) यज्ञ कर रहे सम्राट् के लिये, (रन्धयामसि) हम सब मिल कर उसे उसके वश में करते हैं।

[रन्धयामसि=रध्यतिर्वशगमने (निरुक्त ६।३२)। हम सब=प्रधानमन्त्री, सेनाध्यक्ष, पुरोहित तथा प्रजा। मे=राज्य पुरोहित का कथन है। सुन्वते=षुञ् अभिषवे (स्वादिः)। अभिदासति=दसु उपक्षये (दिवादिः)]।

सूक्त ५५

(१-३)। ब्रह्मा। १ वैश्वदेवो जगती; २,३ रौद्रियौ। २ त्रिष्टुभ्; ३ जगती।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥१॥

---

१. अथवा नियुक्त।

(बहव:) नाना, (देवयाना:) व्यापारियों के जाने-आने के (पन्थान:) मार्ग, (ये) जो (द्यावापृथिवी अन्तरा, द्युलोक और पृथिवी के मध्य में अर्थात् अन्तरिक्ष में (सं चरन्ति) सम्यक्तया चालू हैं, (तेषाम्) उनमें से (यतम:) जो मार्ग (अज्यानिम्) वयोहानि के अभाव को लक्ष्य करके (वहाति) ले चलता है, (तस्मै) उस मार्ग के लिये (देवा:)हे व्यापारियों ! (सर्वे) तुम सब (इह) इस राज्य में (मा) मुझे (परिधत्त) [मार्ग के] परिज्ञान द्वारा परिपुष्ट करो।

[देवयाना:; देव हैं व्यापारी, यथा "दिवु क्रीडा विजिगीषा "व्यवहार" आदि (दिवादि:); व्यवहार है व्यापार; व्यापारियों के यान अर्थात् जाने-आने के मार्ग हैं, पन्थान:, अर्थात् अन्तरिक्ष के मार्ग। नया व्यापारी, व्यापार के निमित्त, अन्तरिक्षीय सुरक्षित मार्गों के परिज्ञान की प्रार्थना करता है। इस सम्बन्ध में देखो (अथर्व० ३।१५।१-२), जिन में कि इन्द्र-वणिक्, व्यापार निमित्त, अन्तरिक्ष मार्ग से वस्तुक्रय करके धनार्जन चाहता है। अज्यानिम् अ+ज्या, वयोहानौ (क्र्यादि:) जीवन रक्षा। वहाति =वह प्रापणे (भ्वादि:) लेट् लकार में "आट्"]।

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥२॥

(ग्रीष्म:) ग्रीष्म ऋतु, (हेमन्त:) हेमन्त ऋतु, (शिशिर:) शिशिर ऋतु, (वसन्त:) वसन्त ऋतु, (शरद्) शरद ऋतु, (वर्षा:) वर्षा ऋतु हैं, [इन ऋतुओं में] [हे देवा: (मन्त्र १)] हे दिव्य व्यापारियों ! (न:) हमें (स्विते= सु, इते) सुगमता से अभीष्ट फल की प्राप्ति के निमित्त (दधात) हमें धारित-पोषित करो। (न:) हमें (गोषु, प्रजायाम्) गौओं और सन्तानों में तुम (आ भजत) पूर्णतया भागी बनाओ, तथा (निवाते) झंझावात आदि से रहित अन्तरिक्ष में (व: इत्) तुम्हारे ही (शरणे) आश्रय में (स्याम) हम हों।

[वायुयानों द्वारा अन्तरिक्षीय नव व्यापारी, सिद्ध व्यापारियों के प्रति कहते हैं कि तुम हमें अपना आश्रय प्रदान करो, ताकि हम सुगमता से, व्यापार द्वारा अभीष्ट फलों की प्राप्ति कर सकें। मन्त्र (१) से "देवा:" पद की अनुवृत्ति मन्त्र (२) की व्याख्या में आवश्यक प्रतीत होती है।

स्विते = सु + इण् गतौ + क्त, सप्तम्येकवचन । गति प्राप्त्यर्थक है । अभीष्ट फल है धन प्राप्ति । शरणम् = आश्रय । श्रिञ् सेवायाम् (भ्वादिः)] ।

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥३॥

(इदावत्सराय) चन्द्रमा के लिये, (परिवत्सराय) आदित्य के लिये, (संवत्सराय) अग्नि के लिये (बृहत्) बहुत (नमः) अन्नाहुतियां (कृणुत) करो, प्रदान करो । (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) यज्ञयोग्यों के सम्बन्धी (सुमतौ) सुमति में (वयम्, स्याम) हम हों, और (भद्रे) सुखप्रद तथा कल्याणमय (सौमनसे) उत्तम-मानसिक प्रसन्नता में (अपि) भी हों ।

["अग्निर्वाव संवत्सरः, आदित्यः परिवत्सरः, चन्द्रमा इदावत्सरः, वायुरनुवत्सरः" (तै० ब्रा० १।४।१०।१) । वत्सर का अर्थ है "वर्ष", यथा "वसन्त्यस्मिन्निति वत्सरः[1] वर्षो वा" (उणा० ३।७१) ।

अग्नि, चन्द्रमा, आदित्य, वायु, सुखपूर्वक वास के लिये हो सकें, इस उद्देश से अग्नि में बहुतायत में अन्नादि की अहुतियां होनी चाहिये । नमः अन्ननाम (निघं० २।७) । उचित पदार्थों की अहुतिओं से वायु आदि शुद्ध हो कर मति अर्थात् मनन शक्ति को सात्त्विक करते और मानसिक सुप्रसन्नता बढ़ाते हैं । यथा "आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाक् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पताम्····· " (यजु० १८।२९) में "मनः" आदि की शक्ति का सम्बन्ध यज्ञकर्म के साथ दर्शाया है ।

यजुर्वेद (३०।१५)में निम्नलिखित वत्सरों का कथन हुआ है । यथा 'संवत्सराय, परिवत्सराय, इदावत्सराय, इद्वत्सराय, वत्सराय, संवत्सराय"][1]

अथवा

१.—व्याख्येय सूक्त के प्रकरणानुसार मन्त्रार्थ निम्नलिखित हैं –

प्रकरण है अन्तरिक्षीय वायुयानों द्वारा व्यापार । इसके लिये नव व्यापारियों को शिक्षित करना है । एतदर्थ उन्हें वायुयानों को चला सकने, उनकी मुरम्मत कर सकने, तथा वायुयानों के भिन्न-भिन्न अन्तरिक्षीय मार्गों के परिज्ञान की आवश्यकता है । इस के लिये त्रिवर्षीय शिक्षा का कथन मन्त्र (३) में हुआ है । मन्त्र (३) में तीन वर्षों के नामों का भी कथन हुआ है, जिस से कि भिन्न-भिन्न वर्ष की पहिचान

सूक्त ५६

(१-३) शंतातिः। १ वैश्वदेवी, उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्तिः; २,३ रौद्रचौ। २ अनुष्टुभ्; ३ निचृत्।

मा नो देवा अहिर्वधीत् सतोकान्त्सहपूरुषान्।
संयतं न विष्परद् व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः ॥१॥

(देवाः) हे देवजनों! (सतोकान्) पुत्रपौत्रादि समेत, यथा (सहपूरुषान्) भृत्यादि पुरुषों सहित (नः) हमारा (अहिः) सांप (मा) न (वधीत्) वध करे। (संयतम्) सांप का बन्दमुख (न) न (विष्परत्) खुले, (व्यात्तम्) और खुला (न) न (संयमत्) वन्द हो; (देवजनेभ्यः) आप दिव्यजनों के लिये (नमः) नमस्कार हो।

[देवाः=देवजनाः, यथा देवदत्तः दत्तः। देवजन हैं सर्प-तथा-विष विद्या के ज्ञाता। सांप वध न कर सके, इस सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा व्यक्त की है, देवजनों से। ये देवजन हैं, देवकोटि के "जम" अर्थात् शरीरधारी-मनुष्य, न कि अध्यात्म अशरीरी देव]।

सुगमता से हो सके। इस अर्थ में "तेषां यज्ञियानाम् सुमतौ" आदि का अर्थ है कि "उन गुरुओं,—जो कि व्यापार-यज्ञ कराने की योग्यता रखते हैं,—की सुमति तथा सौमनस में हम शिष्य रहें। मन्त्र (३) में तीन वत्सरों का वर्णन हुआ है,—इदा-वत्सर, परिवत्सर, और संवत्सर। परन्तु यजुर्वेद में संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर ये नाम पठित हैं। इनके अभिप्राय हैं--संवत्सर=सम्यक्-वत्सर, जिस का व्यवहार में सम्यक् प्रयोग होता है, वह है पृथिवी की सौर--परिक्रमा का काल। परिवत्सर है व्यापी वत्सर, बृहस्पति या शनैश्चर का सौर-परिक्रमा का काल। इदा=इडा=अन्न (निघं० २-७); अतः इदावत्सर है अन्न-वत्सर, अर्थात् अन्नबीज बोने पर वह जितने काल में परिपक्व हो जाता है वह काल। इद्वत्सर में इद् है इन्दु अर्थात् चन्द्रमा। चन्द्रमा जितने काल में पृथिवी की परिक्रमा करता है वह काल। वत्सर है नक्षत्र के उदय होने से अगले दिन में उस के उदय होने तक का काल, इसे नाक्षत्र दिन कहते हैं, ऐसे ३६० दिन होते हैं, नाक्षत्र वर्ष में। इन कालों या वत्सरों का यथार्थ ज्ञान वायुयानों के संचालकों के लिये आवश्यक है। विशेष रूप में इदावत्सर, परिवत्सर और संवत्सर का परिज्ञान।

नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये ।
स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥२॥

(असिताय) न सुफेद अर्थात् काले सर्प के लिये (नमः अस्तु) वज्रप्रहार हो, (तिरश्चिराजये) टेढ़ी रेखाओं वाले सांप के लिये (नमः) वज्रप्रहार हो। (बभ्रवे) भूरे रङ्ग वाले (स्वजाय) तथा उत्तमगतिवाले अर्थात् फुर्तीले सांप के लिये (नमः) वज्रप्रहार हो, (देवजनेभ्यः) और देवजनों के लिये (नमः) नमस्कार हो।

[नमः वज्रनाम (निघं० २।२०)। स्वजाय=सु+अज गतिक्षेपणयोः (भ्वादिः)]।

सं ते हन्मि दता दतः समु ते हन्वा हनूः ।
सं ते जिह्वया जिह्वां सम्वास्नाह आस्यम् ॥३॥

(ते) तेरे (दता) ऊपर के दान्तों के साथ (दतः) नीचे के दान्तों को (सं हन्मि) मैं मिला देता हूं, संहित कर देता हूं (ते) तेरे (हन्वा) ऊपर के जबाड़े के साथ (हनूः) नीचे के जबाड़े को (सम् उ) संहित कर देता हूं, मिला देता हूं, (ते) तेरी (जिह्वया) जिह्वा के साथ (जिह्वाम्) दूसरी जिह्वा को (सम्) संहित कर देता हूं, मिला देता हूं, (अहे) हे सांप (आस्ना) तेरे मुख के साथ (आस्यम्) मुख को (सम् उ) संहित कर देता हूं, मिला[1] देता हूं।

[जिह्वया जिह्वाम् सांप की दो जिह्वाएं। द्विजिह्वः=Snake (आप्टे)। "आस्येन आस्यम्" का अभिप्राय अस्पष्ट है। मन्त्रोक्ति सम्भवतः 'देवजन' की है, जो कि सर्पविष चिकित्सक है। आस्य के उत्तर भाग को नीचे के भाग के साथ संश्लिष्ट करता हूं (सायण)]।

सूक्त ५७

(१-३)। शन्तातिः। १, २ रुद्रियौ। अनुष्टुभ्; ३ पथ्याबृहती।

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥१॥

---

१. वह सांप के सिर को दृढ़ता से पकड़ लेता है, जिस से सांप न मुख खोल सके, न काट सके।

(इदम्, इत्, वै, उ) यह ही है निश्चय से (भेषजम्) औषध, (इदम्) यह है (रुद्रस्य) रुलाने वाले रोग की (भेषजम्) औषध, (येन) जिस द्वारा (एकतेजनाम्) एक-दण्ड वाले और (शतशल्याम्) सौ लोहनिर्मित दान्तों अग्रभागों वाले (इषुम्) वाण को भी (अप ब्रवीत्) वेद ने अपाकृत निवारित करने वाला कहा है। अर्थात् तद्द्वारा किये क्षत को निवारित करने वाला कहा है।

[औषध का कथन मन्त्र २ में हुआ है]।

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥२॥

(जालाषेण) प्रदीप्त अर्थात् गर्म जल द्वारा (अभिषिञ्चत) क्षत प्रदेश को स्नान कराओ, अच्छी तरह धोओ, और (जालाषेण) प्राप्त जल द्वारा (उपषिञ्चत) समीप से सेक करो। (जालाषम्) गर्म या प्रतप्त जल (उग्रम्, भेषजम्) उग्र भषज है (तेन) उस [औषध] द्वारा (नः) हमें (जीवसे) जीने के लिये (मृड) हे जल चिकित्सक ! तू सुखी कर।

[जालाषम्[1] =जलाषमेव जालाषम् उदकनाम (निघं० १।१२)। जलाषम् जल+अष दीप्तौ (भ्वादिः) प्रदीप्तजल या गर्म जल। गर्म जल द्वारा धोने से क्षत प्रदेश में कीटाणु-प्रवेश (Infection) नहीं होता]।

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत् ।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥३॥

(नः) हमारे (शम् च) रोग शान्ति हो (नः) हमें (मयः च) और सुख हो, (नः च) और हमें (किं चन) कोई भी रोग (मा) न (आममत्) रुग्ण करे। (रपः) [रोगजनक] पाप (क्षमा) क्षीण अर्थात् शान्त हो जाय, (विश्वम्) विश्व अर्थात् संसार (नः) हमारे लिये (भेषजम्, अस्तु) औषध रूप हो जाय, (सर्वम्) विश्व के सब तत्त्व (नः) हमारे लिये (भेषजम्, अस्तु) औषधरूप हो जांय।

[चकारद्वय समुच्चयार्थक हैं। आममत् =आ+अम रोगे (चुरादिः)

---

१. सायणानुसार पाठ है "जलाषम्; और अर्थ है "गोमूत्रफेन"।

+णिच्+चङ् (लुङि)। क्षमा=क्षै क्षये (भ्वादिः); क्षै+मनिन् =क्षमा, अर्थात् पाप क्षीण हो जाय, उसका क्षय हो जाय]।

सूक्त ५८

(१-३)। अथर्वा (यशस्कामः)। मन्त्रोक्तदेवताः, बृहस्पतिः। १ जगती; २ प्रस्तार पंक्तिः, ३ अनुष्टुभ्।

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥१॥

(मघवान्) धनवान् (इन्द्रः) सम्राट् (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी (कृणोतु) करे, (इमे उभे) ये दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (यशसम्) यशस्वी करें। (सविता देवः) उत्पादक पितृदेव (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी (कृणातु) करे ताकि (इह) इस जीवन में (दक्षिणायाः) दक्षिणा के (दातुः) देने वाले का (प्रियः) प्रिय (स्याम्) मैं होऊं।

[सम्राट् मुझे ऐसे पद पर आरूढ़ करे जिस से मेरा यश बढ़े, मैं ऐसे शुभकर्म करूं जिस से दोनों लोकों में मेरा यश फैले, मेरा पितृदेव मुझे सुशिक्षित करे, जिस से मैं यशस्वी हो जाऊं, और सब के दाता परमेश्वर का मैं प्रिय हो जाऊं। सविता =षु प्रसवे। यशसः=यशः+अच्। अर्श आद्यच् (अष्टा० ५।२।२७)]।

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥२॥

(यथा) जैसे (इन्द्रः) सूर्य (द्यावापृथिव्योः) द्युलोक और पृथिवी में (यशस्वान्) प्रकाश, ताप, वृष्टि प्रदान आदि द्वारा कीर्ति वाला है, (यथा) जैसे (आपः) जल (ओषधीषु) अन्न प्रदान के हेतु होने से (यशस्वतीः) यश वाले हैं, प्रख्यात हैं, (एवा) इसी प्रकार (विश्वेषु देवेषु) सब दिव्यकोटि के व्यक्तियों में, तथा (सर्वेषु) सब [मनुष्यों] में (वयम्) हम (यशसः) कीर्त्तिमान् (स्याम) हो जांय।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥३॥

इस मन्त्र की व्याख्या के लिए देखो (अथर्व० ६।३९।३)।

सूक्त ५९

(१-३)। अथर्वा। रौद्रम् उत मन्त्रोक्तदेवताः। अनुष्टुभ्।

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति।
अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥१॥

(अरुन्धति) हे घावों को ठीक करने वाली! (त्वम्) तू (प्रथमम्) प्रथम (अनडुद्भ्यः) शकट के वहन करने वाले बैलों के लिये, (त्वम्) तू (धेनुभ्यः) दूध देने वाली गौओं के लिये, (अधेनवे) न दूध देने वाली (वयसे) छोटी आयु वाली गौ के लिये, (चतुष्पदे) तथा अन्य चौपाए पशु के लिये (शर्म) सुख (यच्छ) प्रदान कर।

[अरुन्धति=अरूंषि धयति पिबतीति, तत्सम्बुद्धौ। घावों को पी कर सूखा देने वाली, स्वस्थ कर देने वाली औषध [सहदेवी, मन्त्र २]।

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती।
करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥२॥

(अरुन्धती) घावों को पी कर सूखा देने वाली, स्वस्थ कर देने वाली (सहदेवी) सहदेवी (ओषधिः) ओषधि (शर्म) सुख (यच्छतु) प्रदान करे। (गोष्ठम्) गोशाला को (पयस्वन्तम्) दुग्ध सम्पन्न (करत्) करे, (उत) तथा (पूरुषान्) पुरुषों को (अयक्ष्मान्) यक्ष्मा से रहित करे।

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम्।
सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥३॥

(विश्वरूपाम्) नाना रूपों वाली, (सुभगाम्) उत्तम ऐश्वर्य प्रदान करने वाली, (जीवलाम्) जीवन देने वाली, [सहदेवी औषध] को, (अच्छ) तुम्हारे प्रति, (आवदामि) मैं कहता हूं। (सा) वह ओषधि (रुद्रस्य) रुलाने वाली विद्युत् के (अस्ताम्) फेंके गए, (हेतिम्) हनन करने वाले वज्र को (नः) हमारी (गोभ्यः) गौओं से, (दूरम्) दूर (नयतु) ले जाय, रखे। अर्थात् गोशाला का निर्माण इस प्रकार का होना चाहिये कि उस पर विद्युत् का प्रभाव न हो सके।

[सहदेवी ओषधि दो प्रकार की होती है सहदेवी और सहदेवी बड़ी। सहदेवी के फूल बैंगनी रंग के और बीज काली जीरी के समान होते हैं। इस का पौदा त्रिदोष, क्षय तथा दमा, खांसी में लाभदायक होता है, तथा फूल, ज्वर नाशक होते हैं। "बनौषधि चन्द्रोदय" चन्द्रराज भण्डारी, ज्ञान मन्दिर, भानपुरा। यह स्वास्थ्य तथा जीवनरूपी ऐश्वर्य प्रदान करती तथा गौओं को नीरोग करती है]।

सूक्त ६०

(१-३)। अथर्वा। अर्यमा ; अनुष्टुभ्।

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः।
अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥१॥

(विषितस्तुपः) बन्ध से मुक्त हुए रश्मिसमूह वाला (अयम्) यह (अर्यमा) अन्धकार आदि अरियों का नियमन करने वाला आदित्य (आ याति) आया है (पुरस्तात्) हमारे संमुख या पूर्व में, (अस्यै) इस (अग्रुवै) अविवाहिता या अग्रगण्या (ऋ० १।१४०।८; दयानन्द), कन्या के लिये (पतिम्) पति को (उत) तथा (अजानये) जाया रहित पुरुष के लिये (जायाम्) जाया को (इच्छन्) चाहता हुआ।

विषित = वि + षिञ् बन्धने (स्वादिः) स्तुपः = ष्टुप समुच्छ्राये (चुरादिः); समुच्छ्रायः = Elevation Height (आप्टे) ऊपर उठा हुआ ऊंचा। आयाति = आदित्यस्थ परमेश्वर आया है, "तात्स्थ्यात्[1] ताच्छब्द्यम्" परमेश्वर आदित्य में स्थित है, अतः परमेश्वर को आदित्य कहा है। यथा "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥" (यजु० ४०।१७)। इच्छन् = चाहता हुआ, इच्छा करता हुआ। इच्छा या चाहना चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं। आदित्य जड़ है, चेतन नहीं, अतः आदित्य का लाक्षणिक अर्थ है आदित्य पुरुष अर्थात् आदित्यस्थ परमेश्वर। अग्रुवै = अग्रुवे,[2] कन्यायै, पतिमिच्छन् (सायण)। अजानये = अ + जायायै, "जायाया निङ्" (अष्टा० ५।४।१३४)]।

---

१. यथा "मञ्चाः क्रोशन्ति" = मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति।

२. अथवा "अगि गतौ" + रुः औणादिक प्रत्यय (४।१०२-१०४), बाहुलकात् = गतिशीला, निरालसा कन्या के लिये। अग्रुवे = अग्रु + उवङ् + चतुर्थ्येकवचन। तथा अग्रवः = अग्रु + उवङ् + प्रथमाविभक्ति बहुवचन।

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती ।
अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥२॥

(अर्यमन्) हे न्यायकारी परमेश्वर ! (इयम्) यह कन्या (अन्यासाम्) अन्य कन्याओं के (समनम्) सामाजिक जीवन सम्बन्धी विवाह में (यती) जाती हुई (अश्रमत्) खिन्न हो गई है, (अङ्ग उ) हे (अर्यमन्) न्यायकारी परमेश्वर ! (नु) निश्चय से (अन्याः) अन्य विवाहित स्त्रियां (अस्याः) इस कन्या के (समनम्) सामाजिक जोवन सम्बन्धो विवाह में (आ अयति) आएंगी।

[अश्रमत्=श्रमु तपसि खेदे च (दिवादिः)। समनम्= सम्+अन प्राणने (अदादिः)]।

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।
धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥३॥

(धाता) विधाता ने (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारित किया है (धाता) विधाता ने (द्याम्) द्युलोक को (उत) तथा (सूर्यम्) सूर्य को धारित किया है। (धाता) विधाता (अस्यै) इस (अग्रुवै) अग्रगण्या कन्या के लिये (प्रतिकाम्यम्) यथेष्ट (पतिम्) पति (दधातु) प्रदान करे, अथवा उसे परिपोषित करे।

[सूक्त के मन्त्र १, २ में अर्यमा से प्रार्थना की गई है। मन्त्र ३ में अर्यमा को धाता कहा है। उस धाता ने सूर्य का भी धारण किया हुआ है। अतः मन्त्र १ में भी अर्यमा द्वारा परमेश्वरार्थ ही अभीष्ट है न कि सूर्य अर्थात् आदित्य। अतः तीनों मन्त्रों में एकार्थता सम्पन्न हो जाती है]।

सूक्त ६१

(१-३) अथर्वा। रुद्रः। त्रिष्टुभ्; २, ३ भुरिज्।

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् ।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥१॥

(मह्यम्) मेरे[1] लिये (आपः) [नदियों के] जल, (मधुमत्) मधुर-जल

१. मेरी प्रसन्नता के लिये, या मेरी आज्ञा के पालन के लिये; आज्ञाभंग होने

(एरयन्ताम्) प्रेरित करें, प्रवाहित करें; (मह्यम्, ज्योतिषे) मुझ ज्योतिः स्वरूप के लिये (सूरः) सूय (कम्) सुखप्रद [रश्मि समूह] को (अभरत्) धारण किये हुए हैं। (मह्यम्) मेरे लिये हैं (देवाः) देव[2] (उत) तथा (विश्वे) सब (तपोजाः) ताप से उत्पन्न [नक्षत्र-तारागण]; (मह्यम्) मेरे लिये (देवः सविता) द्युतिमान् सविता ने (व्यचः) विस्तार (धात्) स्थापित किया है।

[मन्त्र में "मह्यम्" द्वारा परमेश्वर ने अपने-आप को सूचित किया है। वही अथर्वा है, "थर्वतिः चरतिकर्मा तत्प्रतिषधः" (निरुक्त ११।२।१६)। परमेश्वर अथर्वा है, निश्चल है, कूटस्थ है। अथर्वा, मानुष-ऋषि नहीं। "ज्योतिष" अथवा सौर मण्डल के प्रकाश के लिये। सविता है प्रत्यग्र उदित सूर्य जब कि आकाश तो चमक जाता है, परन्तु पृथिवी पर अभी अन्धकार शेष रहता है (निरुक्त १२।२।१४)। सविता के उदय होने से पूर्व अन्धकार था, दूर की वस्तु दीखती न थी। सविता के उदय होने पर दूर-दूर की वस्तुएं दीखने लगीं, यह अभिप्राय है "व्यचो धात्" का]।

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥२॥

(अहम्) मैंने (पृथिवीम्) पृथिवी को (उत) तथा (द्याम्) द्युलोक को (विवेच) विवेक पूर्वक पृथक्-पृथक् किया है; (अहम्) मैंने (सप्त ऋतून्) सात ऋतुओं को (साकम्) साथ-साथ (अजनयम्) पैदा किया है। (यद्) जो (सत्यम्, अनृतम्) सत्य और असत्य का स्वरूप है उसे (अहम् वदामि) मैं ही कहता हूं, (च) और (विशः परि) सब प्रजा को (दैवीम्, वाचम्) दिव्य वेदवाणी (अहम् वदामि) मैं कहता हूं।

[सप्त ऋतून्=६ ऋतुएं, १ अधिमास, मलमास। यथा "अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते" (अथर्व १३।३।८)। यह १३वां मास, सौरमासों और चान्द्रमासों के वर्षों में दिनों द्वारा हुई विषमता की पूर्ति के लिये है। परमेश्वर सत्य और अनृत का भेद वेदवाक् द्वारा दर्शाता है तथा "दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धा-

---

पर हम सूर्यादिदेव दण्डित न हो जांय इस भय से, यथा "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।

२. अथवा देवाः विद्वांसः, तपोजाः तपस्विनः।

मनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः" । (यजु० १९।७७) ।। अर्थात् प्रजापति ने सत्य और अनृत के स्वरूपों को देख कर उन का भेद दर्शाया है । उस ने अनृत में अश्रद्धा को, और सत्य में श्रद्धा को स्थापित किया है] ।

अहं जंजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ।।३।।

(अहम्) मैं ने (जजान) पैदा किया है (पृथिवीम्) पृथिवी को, (उत) तथा (द्याम्) द्युलोक को, (अहम्) मैंने (ऋतून्) ऋतुओं को, (सप्त सिन्धून्) सात प्रकार की नदियों को, या सात समुद्रों को (अजनयम्) पैदा किया है । (यद्) जो (सत्यम्, अनृतम्) सत्य और असत्य [का स्वरूप] है उस का (अहम् वदामि) मैं कथन करता हूं, (यः) जिस मैं ने कि (सखायौ) परस्पर-सखि रूप (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम का (अजुषे) सेवन किया है [सृष्ट्युत्पादन में] ।

[सात प्रकार की नदियां हैं गङ्गा आदि (ऋ० १०।७५।५), ये शीघ्रगमन आदि की विशेषताओं की दृष्टि से भूमण्डल पर सात प्रकार की हैं । अथवा "सप्तसिन्धवः" हैं सप्तविध वैदिक छन्द या व्याकरण सम्बन्धी सात विभक्तियां जो कि "काकुर" अर्थात् मुखस्थ तालु में क्षरित होती हैं यथा,—"सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः । अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ।।" (ऋ० ८।६९।१२), (निरुक्त ५।४।२७) । अथवा सात प्रकार के भौम समुद्र ।

आग्नीषोमौ=अग्नि है रजस्वला स्त्री का रजस्, और सोम है पुरुष का वीर्य । इन दोनों का स्त्री योनि में परस्पर सम्बन्ध अर्थात् मेल हो जाता है तो ये परस्पर सखा के रूप में योनि में वास करते हैं और प्राणियों की उत्पत्ति करते हैं, इस प्रकार सृष्ट्युत्पादन में परमेश्वर इन दोनों का सेवन करता है, सहायता लेता है । इसी प्रकार "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः, वायोरग्निरग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी" (तैत्तिरीयोप० २।१) में परस्पर नियतपौर्वापर्य के कारण अग्नि और आपः सखायौ हैं, जोकि स्थूल जगत् के उत्पादन में परमेश्वर के सहायक होते हैं । उद्धरण में अग्नि है अग्नितत्त्व, और आपः है सोम तत्त्व । सोमः Water (आप्टे) ।

इति षष्ठे काण्डे षष्ठोऽनुवाकः सम्पूर्णः ।।

अनुवाक ७

सूक्त ६२

(१-३) । अथर्वा । रौद्रम् उत मन्त्रोक्तदेवताः । त्रिष्टुभ् ।

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः ।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥१॥

(वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी सूर्य (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा (नः) हमें (पुनातु) पवित्र करे; (वातः) वायु (प्राणेन) प्राण द्वारा, श्वासोच्छ्वास द्वारा; (इषिरः) और वेगवान् मानसून वायु (नभोभिः) मेघों द्वारा पवित्र करे। (पयस्वती) जलवाली, (ऋतावरी) सत्यनियमों वाली, (यज्ञिये) यज्ञों में साधनरूप (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (पयसा) जल द्वारा (नः) हमें (पुनोताम्) पवित्र करें।

[वैश्वानरः=अथासावादित्यः इति पूर्वे याज्ञिकाः (निरुक्त ७।६।२३)। इषिरः=इष् गतौ (दिवादिः)+किरच् (उणा० १।५१)। नभोभिः= नभस् (cloud, आप्टे)। ऋतावरी=ऋतम् नियमः, तद्वत्यौ। द्यौ और पृथिवी परमेश्वरोय नियमों द्वारा नियन्त्रित हैं। यज्ञिये=ये दोनों यज्ञ सम्पादन में सहायक हो कर वर्षा द्वारा, पयस् प्रदान करती हैं]।

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः ।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥२॥

(वैश्वानरीम्) सब नर-नारियों के लिये हितकारिणी, (सूनृताम्) प्रिय सत्य वेदवाणी [का स्वाध्याय] (आरभध्वम्) आरम्भ करो, (यस्याः) जिस वेदवाणी सम्बन्धी (आशाः) आशाएं, इच्छाएं (तन्वः) विस्तृत हैं, और (वीतपृष्ठाः) त्रिलोकी की पीठ अर्थात् द्युलोक तक व्यापिनी हैं। (तया) उस वेदवाणी द्वारा (सधमादेषु) सामाजिक हर्षों अर्थात् उत्सवों में (गृणन्तः) परमेश्वर की स्तुति करते हुए (वयम्) हम (रयीणाम्, पतयः स्याम) ऐश्वर्यों के स्वामी हों।

[सूनृताम्=प्रिय सत्यात्मिकां वाचम् (सायण)। आशाः इच्छाः, आङः शासु इच्छायाम् (अदादिः)। वीतपृष्ठाः =वी (व्याप्तौ, अदादिः)+क्तः; पृष्ठ=त्रिलोकी की पृष्ठ है द्यौः। वेदप्रोक्त [परमेश्वरीय] इच्छाएं, अभिलाषाएं द्युलोकस्थ "स्वः", अर्थात् सुख विशेष की प्राप्ति के लिये भी हैं। सधमादेषु=सहस्य सधादेशः+मदी हर्षे (भ्वादिः)]।

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥३॥

(वर्चसे) ब्रह्मवर्चस आदि की प्राप्ति के लिये (वैश्वानरीम्) सब नर-नारियों के लिये हितकारिणी वेदवाणी [का स्वाध्याय] (आरभध्वम्) आरम्भ करो, [इस द्वारा] (शुद्धाः भवन्तः) शुद्ध होते हुए (शुचयः) अर्थात् मन से शुचि तथा शरीर से (पावकाः) पवित्र होकर (इह) इस पार्थिव जीवन में, (इडया[1]) अन्न द्वारा [सहभोजों द्वारा] (सधमादम्[2]) पारस्परिक अर्थात् सामाजिक, हर्ष अर्थात् उत्सव में (मदन्तः) हर्षित होते हुए (ज्योक्) चिरकाल के लिये (उच्चरन्तम्) ऊपर आकाश में विचरते (सूर्यम्) सूर्य को (पश्येम) हम देखें।

सूक्त ६३

(१-४)। द्रुह्वणः। निर्ऋतिः; ४ अग्निः। जगती; अतिजगती गर्भा; अनुष्टुभ्।

यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत्।
तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥१॥

हे पुरुष! (देवी) द्योतमाना अर्थात् प्रकट हुई (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्तिः अर्थात् कष्टों ने (यत्) जो (दाम) रस्सी (ते) तेरी (ग्रीवासु) ग्रीवा को नस-नाड़ियों में (आ बबन्ध) सब ओर बान्ध रखी है, (यत्) जो कि (अविमोक्यम्) खोली नहीं जा सकती, (ते) तेरी (तत्) उस रस्सी को (आयुषे) दीर्घ तथा स्वस्थ जीवन के लिये, (वर्चसे) तेज के लिये, (बलाय) और बल के लिये (विष्यामि) मैं खोलता हूं, (प्रसूतः) ताकि मुझ द्वारा प्रेरित हुआ तू (अदोमदम्) खाने में आनन्दप्रद (अन्नम्) अन्न को (अद्धि) खा।

१. इडा अन्ननाम (निघं० २।७)।
२. णमुलन्तः, तस्यैव धातोरनुप्रयोगश्च (सायण)।

[निर्ऋतिः कृच्छ्रापत्तिः (निरुक्त २।२।८) । खाने में असंयम के कारण प्राप्त कष्टों का कथन मन्त्र में हुआ है । ग्रीवा खाने का साधन है । खट्टी वस्तुओं के अधिक प्रयोग से ग्रीवा की नस नाड़ियां सूज जाती हैं । अतः आचार्य द्वारा प्रेरित होकर खाने में मधुर अन्न का सेवन करना चाहिये । इससे कृच्छ्रापत्ति से विमुक्ति पाकर आयु बढ़ती, वचस और बल प्राप्त होता है । अदोमदम्=अद् (भक्षणे)+मदम् (मदी हर्षे) । प्रसूतः=प्र+षू प्रेरणे] ।

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् विचृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥२॥

(तिग्मतेजः) हे तिग्म और तेज वस्तुओं वाली (निर्ऋते) कृच्छ्रापत्ति! (ते) तेरे [शमन के] लिये (नमः) उचित अन्न का प्रयोग (अस्तु) हो, (अयस्मयान्) लोहे के सदृश दृढ़ (बन्धपाशान्) बान्धने वाले पाशों को (विचृत) तू खोल दे । (यमः) नियन्ता परमेश्वर (त्वा) तुझे हे रुग्ण पुरुष ! (पुनः इत्) फिर (मह्यम्) मुझे (ददाति) देता है, (तस्मै) उस (यमाय) नियन्ता[1] परमेश्वर के लिये (मृत्यवे) जो कि मृत्यु[1] करता है (नमः अस्तु) नमस्कार हो ।

[कृच्छ्रापत्ति का सम्बन्ध, तिग्म और तेज वस्तुओं के खाने-पीने के साथ है । ऐसे पदार्थों के अधिक खाने-पीने से गल बन्ध हो जाता है, गला रुग्ण हो जाता है । नमः अन्ननाम (निघं० २।७) नमः का अर्थ नमस्कार तो प्रसिद्ध ही है । विचृत=वि+चृती हिंसाग्रन्थनयोः (तुदादिः). वि (विगत करना)+चृत (बन्धन से) । परमेश्वर का नाम मृत्यु भी है । यथा 'स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं सः रक्षः" (अथर्व काण्ड १३ । अनुवाक ४ । पर्याय ३ मन्त्र ४ (२८) । अर्थात् वह परमेश्वर ही मृत्यु है, वह अमृत है, वह प्रलय में सद्-जगत् को असद् करता है [अ+भू सत्तायाम्[, वह उत्पन्न-जगत् का रक्षक है । मह्यम्=इस द्वारा आचार्य कहता है कि परमेश्वर ने, हे शिष्य ! तुझे स्वस्थ कर मुझे प्रदान किया है]

---

१. अथवा "यम". है "आश्रम का नियन्ता आचार्य, वही है मृत्यु अर्थात् ब्रह्मचारी को द्विजन्मा बनाकर नवजीवन देने वाला, यथा "आचार्यो मृत्युः"(अथर्व ११।५।१४)। इस अर्थ में "मह्यम्" द्वारा ब्रह्मचारी के पिता का निर्देश हुआ है।

अय॒स्मये॑ द्रुप॒दे बे॑धिष इ॒हाभिहि॑तो मृ॒त्युभि॒र्ये स॒हस्र॑म् ।
य॒मेन॒ त्वं पि॒तृभि॑: संविदा॒न उ॑त्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम् ॥३॥

[हे निर्ऋति अर्थात् कृच्छ्रापति !] (इह) इस मर्त्यलोक में (अयस्मये) लोहनिर्मित (द्रुपदे) पैर की बेड़ी में तू (बेधिषे) बान्धती है, तो (मृत्युभिः) मृत्युओं [कष्टों] द्वारा (अभिहितः[1]) पुरुष बन्ध जाता है, (ये) जो मृत्युएं [कष्ट] कि (सहस्रम्) हजार प्रकार की हैं । (त्वम्) हे शिष्य ! तू (यमेन) नियन्ता आचार्य और (पितृभिः) आश्रम के अन्य गुरुओं के साथ (संविदानः) ऐकमत्य को प्राप्त हो जा [उन के निर्देशानुसार निज जीवनचर्या कर], और हे आचार्य ! तू (इमम्) इस शिष्य को (उत्तमम्) उत्कृष्ट (नाकम्) दुःखों से रहित सुख के लोक पर (अधिरोहय) चढ़ा, नाकगमन के योग्य कर ।

[पितृभिः = विद्या प्रदाता गुरु भी पिता के सदृश हैं । यथा—

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत कतमच्चनाह ॥
(निरुक्त २।२।३)] ।

सं स॒मिद्यु॑वसे वृष॒न्नग्ने॒ विश्वा॑न्य॒र्य आ ।
इ॒डस्प॒दे समि॑ध्यसे॒ स नो॒ वसू॒न्या भ॑र ॥४॥

(वृषन्) हे सुखों की वर्षा करने वाले (अग्ने) अग्निस्वरूप परमेश्वर ! (अर्यः) स्वामी तू (आ) सर्वत्र (विश्वानि) सब प्रकार के ऐश्वर्य (सम् युवसे) सम्यक् रूप में सम्बद्ध कर रहा है, (सम्, इत्) निश्चय से सम्यक् रूप में सम्बद्ध कर रहा है । (इडस्पदे) पृथिवी या स्तुति के स्थान में या इस पार्थिव शरीर के हृदय-स्थल में (समिध्यसे) तू प्रदीप्त होता है, (सः) वह तू (नः) हमें (वसूनि) वास योग्य उत्तम गुणरूपी सम्पत्तियां (आभर) प्रदान कर ।

[गुरु और शिष्यों के निवास स्थान आश्रम में या उपासनालय में प्रातःकाल और सायं काल, इस प्रकार अग्निहोत्र तथा सम्मिलित उपासना का विधान हुआ है] ।

---

१. अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते (सायण) । यथा अभिधानी = रस्सी ।

सूक्त ६४

(१-३)। अथर्वा । सांमनस्यम्, वैश्वदेव्यम् । अनुष्टुभ्; २ त्रिष्टुभ् ।

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥१॥

(सं जानीध्वम्) तुम सम्यक्-ज्ञान से तथा ऐकमत्य से युक्त होओ, (सं पृच्यध्वम्) एतदर्थं परस्पर संपर्क किया करो, (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (सं जानताम्) एक विध संकल्पों वाले हों। (यथा) जैसे (पूर्वे) विद्या से सम्पूर्ण (देवाः) विद्वान् (सं जानानाः) एक मत हो कर (भागम्) भजनीय परमेश्वर का (उपासते) उपासना करते हैं [वैसे तुम भी किया करो]।

[पूर्वे=पुर्व पूरणे (भ्वादिः)]।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥२॥

(मन्त्रः[1]) तुम्हारी पारस्परिक मन्त्रणा (समानः) एकरूपा हो, (समितिः) राजसभा (समानी) एक हो, (व्रतम्) व्रत (समानम्) एकरूप हों, (एषाम्) इन प्रजाजनों के (चित्तम्) अन्तः करण (सह) परस्पर मिले रहें। (वः) तुम्हारी (समानेन) समान[2] (हविषा) हवि द्वारा (जुहोमि) मैं यज्ञ करता हूं, आहुतियां[3] देता हूं, (समानम) तुम्हारा एकविध (चेतः) चिन्तन हो (अभि सं विशध्वम्) [एक चित्त हो कर] तुम राजसभा में प्रवेश किया करो।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥३॥

(वः) तुम्हारा (आकूतिः) संकल्प (समानी) एकरूप हो, (वः)तुम्हारे

---

१. अथवा मन्त्रः=वैदिक विचार, वेदानुकूल विचार ।

२. सब से एकत्रित की गई ।

३. राजसभा में प्रवेश कर, कार्यारम्भ करने से पूर्व, समान हवि द्वारा यज्ञ करना ।

(हृदयानि) हृदय (समाना=समानानि) एकरूप हों [हार्दिक भावनाएं एकरूप हों]। [हार्दिक भावनाएं एकरूप हों]। (वः) तुम्हारा (मनः) मनन (समानम्) एकरूप (अस्तु) हो, (यथा) जिस प्रकार से कि (वः) तुम्हारा (सु सह) उत्तम पारस्परिक मेल (असति) बना रहे। अथवा पारस्परिक सहायता बनी रहे।

सूक्त ६५

(१-३)। चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः। अनुष्टुभ्, १ पथ्यापंक्तिः।

अव॒ म॒न्युरवा॒य॒ताव॑ बा॒हू म॑नो॒युजा॑ ।
परा॑शर॒ त्वं तेषां॒ परा॒ञ्चं॒ शुष्म॑मर्द॒याधा॑ नो र॒यिमा कृ॑धि ॥१॥

(मन्युः) [शत्रु का] क्रोध (अव = अवस्तात्) नीचे हो जाय, (आयता =आयुतानि) ताने गये धनुष् (अव) अवनत हो जायें, ढीले हो जायें। (मनोयुजा = मनोयुजौ) विचयैषी मनों द्वारा प्रयुक्त हुए (बाहु) दोनों बाहु (अव) नीचे हो जांय। (पराशर। "पर" अर्थात् शत्रुओं का "आ" पूर्णरूप से "शर" विनाश करने वाले! [इन्द्र = सम्राट्!]) (त्वम्) तू (तेषाम्) उन शत्रुओं के (पराञ्चम्) पराङ्मुख हुए (शुष्मम्) सैन्यबल को (अर्दय) हिंसित कर, (अधा = अथा) तत्पश्चात् (रयिम्) उनके धन को (नः) हमें (आ कृधि) प्राप्त करा।

नि॒र्ह॑स्तेभ्यो नैर्ह॒स्तं यं दे॑वाः श॒रुमस्य॑थ ।
वृ॒श्चामि॒ शत्रू॑णां बा॒हून॒नेन॑ ह॒विषा॒ऽहम् ॥२॥

(निर्हस्तेभ्यः) निहत्थे कर दिये शत्रुओं के लिये, अर्थात् हथियारों से रहित कर दिये शत्रुओं के लिये, (देवाः) हे हमारे विजिगीषु सेनाधिकारियो! तुम (नैर्हस्तम्) निहत्था करने वाले (यम्) जिस (शरुम्) हिंसक शर को (अस्यथ) अस्त्ररूप में शत्रुओं पर फैंकते हो, उन (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (बाहून) बाहुओं को, (अनेन) इस (हविषा) युद्ध-यज्ञ साधक हवि द्वारा (अहम् मैं सेनाधिपति, (वृश्चामि) काटता हूं। (देवाः = दिवु क्रीड़ा विजिगी[illegible] आदि; "दिवादिः")।

[अभिप्रा[illegible] विजय प्राप्त कर शत्रुओं को एक वार जब हथियारों से रहि[illegible]या है, समय पा कर यदि वे पुनः युद्ध के लिये, पुनः अपने आप [illegible]गों से युक्त कर लेते हैं, तो वे दण्डनीय हो जाते हैं, और इस दण्[illegible] बाहुओं को मैं काट देता हूं, ताकि वे हथियारों का

प्रयोग पुनः न कर सकें, परन्तु उनके जीवनों का अपहरण मैं नहीं करता। मन्त्र (१) में भी बाहुओं का कथन हुआ है, वहां केवल शत्रुओं को नीचा कर उन के बाहुओं को निकम्मे कर देने का अभिप्राय है, उन्हें काटने का नहीं। "अस्यथ" के प्रयोग द्वारा शत्रुओं पर अस्त्र के फैंकने को सूचित किया। हविषा द्वारा "सैनिक हविः" प्रतीत होते हैं, "अहम्" द्वारा सेना का मुख्याधिकारी है, जिसे बाहु-छेदनरूपी दण्ड प्रदान करने का अधिकार सम्राट् ने दिया है]।

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः।
जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥३॥

(इन्द्रः) सम्राट् ने (प्रथमम्) पहिले (असुरेभ्यः) देवविरोधी प्राण-पोषकों के लिये (नैर्हस्तम्) निहत्थेपन का (चकार) दण्ड दिया। (मेदिना) स्नेही तथा (स्थिरेण) साम्राज्य पद पर स्थिर (इन्द्रेण) सम्राट् की सहायता द्वारा (मम) मुझ सेनाधिपति के (सत्वानः) शक्तिशाली सैनिक (जयन्तु) शत्रु पर विजय पाएं।

[इन्द्रः = "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। असुरेभ्यः =जो केवल जीवन का उद्देश्य प्राणपोषण मात्र मानते हैं अतः देवविरोधी हैं, जो देव कि जीवन को दिव्य बनाने के पक्ष में हैं। इन्द्र स्नेही है। अतः युद्ध में स्वाश्रित सेनाधिपति को असुरों के साथ युद्ध में सब प्रकार की सहायता देता है]।

सूक्त ६६

(१-३)। अथर्वा। चन्द्रमाः, इन्द्रः। अनुष्टुभ्; १ त्रिष्टुभ्।

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान्।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥१॥

(अभिदासन्) हमारा उपक्षय करता हुआ (शत्रुः) शत्रु दल (निर्हस्तः अस्तु) निहत्था हो जाय, हथियारों से रहित हो जाय, (ये) जो शत्रु कि (सेनाभिः) सेनाओं के साथ (अस्मान् युधम्) हमारे साथ युद्ध के लिये (आयन्ति) आते हैं। (इन्द्र) हे सम्राट् (महता वधेन) महावधकारी आयुध के साथ इन्हें (समर्पय) सम्बद्ध कर, (एषाम्) इन शत्रुओं में (अघ-

हारः) पापी शत्रु (विविद्धः) विशेषतया बींधा हुआ (द्रातु) कुत्सित गति को प्राप्त हो।

[अघहारः=पापी, जो कि सेनानायक है। द्रातु=द्रा कुत्सायां गतौ (अदादिः)]।

आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽद्य पराशरीत् ॥२॥

(आतन्वानाः) धनुषों को ताने हुए, (आयच्छन्तः) धनुषों पर वाण चढ़ा कर उन्हें खेंचते हुए, (च) और (अस्यन्तः) वाणों को हम पर फेंकते हुए (ये) जो तुम(शत्रवः) हे शत्रुओ !(धावथ) [फिर भी भय के कारण] दौड़ जाते हो, वे तुम (निर्हस्ताः स्थन) निहत्थे कर दिये गए हो, हथियारों से रहित कर दिये गए हो; (इन्द्रः) हमारा सम्राट् (अद्य) आज (वः) तुम्हारी (पराशरीत्) पराङ्मुख हुओं की हिंसा करे। [परा, अशरीत्; शॄ हिंसायाम् (क्र्यादिः)]।

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै ॥३॥

(शत्रवः) शत्रु (निर्हस्ताः) निहत्थे अर्थात् हथियारों से रहित [सदा के लिये] (सन्तु) हो जांय। (एषाम्) इन के (अङ्गा=अङ्गानि) अङ्गों को (म्लापयामि) हम हर्ष-से-क्षीण करते हैं। (अथ) तदनन्तर (इन्द्र) हे सम्राट् ! (एषाम्) इन के (शतशः वेदांसि) सैंकड़ों प्रकार के धनों को (वि भजामहै) हम विभागपूर्वक बाण्ट लेते हैं। [म्लापयामसि=ग्लै म्लै हर्षक्षये (भ्वादिः)। वेदः धननाम निघं० २।१०)]।

सूक्त ६७

(१-३)। अथर्वा। चन्द्रमाः, इन्द्रः। अनुष्टुप्।

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥१॥

(इन्द्रः) सम्राट् (च) और (पूषा) पोषणाधिकारी (सर्वतः) सब ओर के (वर्त्मानि) मार्गों के (परि सस्रतुः) सब ओर गए हैं। (अमित्राणाम्)

ताकि शत्रुओं की (अमूः) वे (सेनाः) सेनाएं, (अद्य) आज या अब, (परस्तराम्) अतिशयेन (मुह्यन्तु) कार्याकार्य के विवेक से ज्ञानरहित हो जांय।

[युद्ध से पूर्व सम्राट् और पोषक पदार्थों का अधिकारी साम्राज्य के सब मार्गों का निरीक्षण स्वयं करें या करवाएं कि शत्रु सेनाएं किस-किस मार्ग से आक्रमण कर सकती हैं, और किस-किस मार्ग से अपनी सेना को आयुध और खाद्य सामग्री पहुंचाई जा सकती है। इस का निरीक्षण कर, यथोचित प्रबन्ध करें, ताकि शत्रु सेनाओं का सब प्रयत्न विफल हो जाय। सस्रतुः सृ गतौ (भ्वादिः)]।

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः।
तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥२॥

(अमित्राः) हे शत्रुओ! (मूढाः चरत) तुम जय के उपाय के ज्ञान से रहित हुए विचरो, (इव) जैसे (अशीर्षाणः) सिरकटे (अहयः) सांप [इधर-उधर लुढ़कते रहते हैं]। (अग्निमूढानाम्) हमारे अग्रणी की सूचना द्वारा ज्ञानशून्य हुओं (तेषाम् वः) उन तुम में से (वरं वरम्) मुख्य-मुख्य को (इन्द्रः) सम्राट् (हन्तु) मार डाले।

[सेनाधिकारी शत्रु के मुख्यों की सूचना अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री को दें, और प्रधानमन्त्री सम्राट् को सूचना दे। तब सम्राट् मुख्य-मुख्य शत्रुओं को मार देने की आज्ञा दे। शेष सैनिक मारने न चाहिये। अथवा "अग्नि"=आग्नेय-अस्त्र]।

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि।
पराङमित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥३॥

(वृषा) हे समाट्! सुखवर्षी तू (हरिणस्य) हरिण अर्थात् मृगों के (अजिनम्) चर्मों को (एषु) इन निज सैनिकों में (आ नह्य) बान्ध, (अभयम्[2] कृधि) और हमें भय रहित कर। (अमित्रः) शत्रु (पराङ्)

---

१. "अग्निना सूचितानां मूढानाम्" मध्यपदलोपी समास।

२. पदपाठ में "भियं कृधि" पाठ है। अर्थात् शत्रु के लिये भय पैदा कर। वे यह जान कर भयभीत हों कि ये हरिण कोई अद्भुत शक्तियां है जो कि युद्ध कर रही हैं, ये हमारा नाश कर देंगी। अतः वे युद्ध स्थल से भाग जांय।

पराङ्मुख होकर (एषतु) चला जाय, और (गौः) उन की पृथिवी (अर्वाची) हमारी ओर (उप) हमारे पास (एषतु) आ जाय [उन का राज्य हमारे अधीन हो जाय]।

[मन्त्र में हरिणस्य जात्येकवचन है। क्योंकि "एषु" पद द्वारा निज सैनिकों का वहुत्व दर्शाया है। गौः पृथिवीनाम (निघं० १।१)। मृगचर्मों की कवचों से शत्रु के वाणों का भय नहीं रहता]।

सूक्त ६८

(१-३)। अथर्वा। मन्त्रोक्तदेवताः। १ पुरोविराट् अतिशक्वरीगर्भा चतुष्पदा जगती; २ अनुष्टुभ्; ३ अतिजगतीगर्भा त्रिष्टुभ्।

आयमंगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेनं वाय उदुकेनेहिं।
आदित्या रुद्रा वसंव उन्दन्तु सचेतसः सोमंस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः॥

(अयम्) यह (सविता) नापित पुरुष (क्षुरेण) उस्तरे के साथ (आ अगन्) आ गया है, (वायो) हे वायु समान शीघ्र गति करने वाले! तू (उष्णेन उदकेन) गर्म जल के साथ (एहि) आ। (आदित्याः रुद्राः वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु नामक गुरु (सचेतसः) एकचित्त होकर (उन्दन्तु) ब्रह्मचारी [के सिर] को गीला करें, (प्रचेतसः) हे प्रज्ञानियो! तुम (राज्ञः सोमस्य) सौम्य स्वभाव वाले राजमान ब्रह्मचारी का (वपत) परस्पर सहयोग से मुण्डन करो।

[ब्रह्मचारी के उपनयन कर्म में इस सूक्त का विनियोग हुआ है (कौशिक सूत्र ५५।१-३)। उपनयन का अर्थ है "समीप लाना"। आचार्य उपनयन विधि से ब्रह्मचारी को निज ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट करता है, मुण्डन संस्कार द्वारा। मुण्डन संस्कार में "सविता" आदि मनुष्य हैं, अशरीरी देवता विशेष नहीं। (अथर्व० ८।२।१७) में सायणाचार्य ने कहा है कि "हे देव सवितः, संस्कारकपुरुष, त्वं "वप्ता" केशानां छेत्ता "नापितः" सन् क्षुरेण केशश्मश्रुशिरोरोमाणि मुखरोमाणि च वपसि"। इस उद्धरण में सायणाचार्य ने "सविता" को "पुरुष" तथा "नापित" कहा है। व्याख्येय मन्त्र में भी "सविता" का अभिप्राय नापित मनुष्य ही प्रतीत होता है जो कि "क्षुरेण" उस्तरे के साथ "आ अगन्" आया है।

इसी प्रकार "वायु" द्वारा भी "मनुष्य कर्मचारी" प्रतीत होता है जो कि उदक को उष्ण कर के लाता है। अन्तरिक्ष को वायु उदक को उष्ण करके अपने साथ नहीं लाती।

आदित्य, रुद्र और वसु भी ४८, ३६ और २४ वर्षों के स्नातक हैं, जोकि ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुरूप हैं।

अदि॑तिः श्मश्रु॑ वपत्वाप॑ः उन्दन्तु वर्च॑सा।
चिकि॑त्सतु प्रजाप॑तिर्दीर्घायुत्वाय चक्ष॑से ॥२॥

(अदितिः)अदीना-देव माता अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रमवासी गुरुदेवों की मातृ-रूपा, आचार्यपत्नी (श्मश्रु) मोंछों का (वपतु) छेदन करे, (आपः उन्दन्तु) जल, मुण्डन संस्कार हो जाने पर ब्रह्मचारी का जल स्नान करा कर (वचसा) तेज से सम्बद्ध करें। तदनन्तर (प्रजापतिः) आश्रमवासी प्रजाजनों का अधिपति आचार्य (चिकित्सतु[1]) ब्रह्मचारी की चिकित्सा करे, उसके बुरे संस्कार रूपी रोगों का निवारण करे, (दीर्घायुत्वाय) ताकि वह दीर्घजीवी हो, (चक्षसे) और वह दीर्घ काल तक व्यक्त वाणी द्वारा बोल सके। अथवा उसकी चक्षु आदि इन्द्रियां दीर्घकाल तक स्वस्थ रह सकें।

[जैसे चूड़ाकर्म संस्कार में पिता प्रथम पुत्र के कतिपय केशों का छेदन स्वयं करता है, तदनन्तर नापित पूरा मुण्डन करता है। इस विधि को अदिति सम्पन्न करती है। "श्मश्रु" प्रौढ पुरुष के होते हैं बालक के नहीं अतः मन्त्र में प्रौढ़ावस्था के भी पुरुषों के लिये, अध्ययनार्थ, उपनयन विधि द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होने की विधि को सूचित किया है।

चक्षसे=चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि। "असनयोश्च प्रतिषेधः" (पा. वा. २।४।५४) इति स्मरणात् ख्याञादेशाभावः" (सायण)]।

येनाव॑पत् सवि॒ता क्षुरे॑ण सोम॑स्य राज्ञो॒ वरु॑णस्य वि॒द्वान्।
तेन॑ ब्रह्माणो वपतेदम॒स्य गोमा॑नश्व॑वान॒यम॑स्तु प्र॒जावा॑न् ॥३॥

(येन क्षुरेण) जिस उस्तरे द्वारा (सविता) पुरुषनापित ने, (विद्वान्) जोकि केश छेदन को जानता है,—(वरुणस्य) वरण-कर्ता आचार्य के

१. अथवा "ब्रह्मचारी को ज्ञान प्रदान करे"। कित ज्ञाने (सायण)।

(राज्ञ:) विराजमान (सोमस्य) सौम्य स्वभाव वाले बालक का (अवपत्) केशछेदन किया है; (तेन) उस उस्तरे द्वारा (ब्रह्माण:) हे वेद के विद्वानों ! आश्रम के गुरुओं ! तुम (अस्य) इस प्रौढ़ावस्था के ब्रह्मचारी के (इदम् वपत) इस केशछेदन को करो [ताकि विद्या की समाप्ति के अनन्तर] (अयम्) यह [गृहस्थी हो कर] (गोमान्) गौओं वाला, (अश्ववान्) अश्वों वाला तथा (प्रजावान्) प्रशस्त पुत्र पौत्र आदि वाला (अस्तु) हो।

[अवपत्, वपत = डुवप् बीजसन्ताने छेदने च (भ्वादि:)]।

सूक्त ६९

(१-३)। अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)। बृहस्पति: तथा अश्विनौ। अनुष्टुभ्।

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः ।
सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥१॥

(गिरौ) पर्वत में, (अरगराटेषु) अरगराटों में, (हिरण्ये) हिरण्य में, (गोषु) गौओं में (यत्) जो (यश:) यश है; (सिच्यमानायाम्) सींचे जाने वाले (सुरायाम्) शुद्ध जल में, (कीलाले[1]) अन्न में (मधु) जो मिठास है (तत्) वह सब (मयि) मुझ में हो।

[पर्वत में यश है दृढ़ता। अरगराटों अर्थात् अरों वाले घराटों मे यश है अन्न को पीसना; यहां केवल पीसना अर्थ अभिप्रेत है, कुकर्मों तथा व्यसनों को पीस डालना। "अरों वाले घराट" हैं "पनचक्कियां" जो कि पानी के वेग द्वारा चलती हैं। हिरण्य में यश हे हृदयरमणीयता, सबके हृदयों को रमणीय होना। गौओं में यश है निज दुग्ध द्वारा पालन-पोषण, अन्यों को पालना तथा पोषण करना। सुरा है उदक (निघं० १।१२)। कृषि कर्म में सींचा गया, मीठा उदक मीठे अन्न का उत्पादन करता है, खारा-उदक कृषि कर्म में न सींचना चाहिये। भारतीय दर्शन शास्त्रों के अनुसार शुद्ध जल का गुण है माधुर्य। कीलाल है अन्न (निघं० २।७), प्रकरणानुसार मधुर अन्न, न कि खट्टा कसैला अन्न।

सायणाचार्य ने "अरगराटेषु" के निम्नलिखित अर्थ किये हैं "रथचक्रा-

---

१. कीलालम् कील बन्धने (भ्वादि:), तदर्थम् अलम् (पर्याप्तम्, भ्वादि:) जीवात्मा को शरीर के साथ बान्धे रखने में जो पर्याप्त है, समर्थ है—अन्न।

वयवाः कीलकाः अराः । तान् गिरति आत्मना संश्लेषयतीति अरगरो रथः । तेन अटन्ति संचरन्तीति अरगराटाः, रथिनो यशस्विनो राजानः । यद्वा अराः अरयः, तान् गच्छन्तीति अरगाः वीरा भटाः; तेषां राटाः जयघोषः । रट परिभाषणे]।

अश्विना सा॒र॒घेण॑ मा॒ मधु॑नाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा॒ भर्ग॑स्वतीं॒ वाच॑मा॒वदा॑नि॒ जनाँ॒ अनु॑ ॥२॥

(अश्विना) हे दो अश्वियो !, (शुभस्पती) हे शुभकर्मों के स्वामियो ! (मा) मुझे (सारघेण) सरघा अर्थात् मधुमक्खी के (मधुना) मधु सदृश माधुर्य द्वारा (अङ्क्तम्) तुम दोनों सींच दो । (यथा) जिस प्रकार कि (जनान् अनु) सब जनों के प्रति, अनुकूलरूप, (भर्गस्वतीम्) माधुर्य के तेज वाली (वाचम्) वाणी को (आ वदानि) सदा मैं बोलूं ।

[दो अश्वी हैं, या, तो गुरु और गुरुपत्नी, जो कि विद्याओं में व्याप्त हैं, विद्याओं को विशेषतया प्राप्त हैं । अश्व+इन्=अश्विनौ । अश्व=अशूङ् व्याप्तौ । व्याप्ति=वि+आप्तिः, प्राप्तिः । अथवा अश्विनौ=माता-पिता । अश्वः=अश्नुते व्याप्नोतीति (उणा० १।१५१, दयानन्द) "अश्नुते व्याप्नोति अध्वानम्", जो कि अध्वा अर्थात् मार्ग को शीघ्रता से समाप्त करता है] ।

मयि॒ वर्चो॒ अथो॒ यशोऽथो॑ य॒ज्ञस्य॒ यत् पयः॑ ।
तन्मयि॑ प्र॒जाप॑तिर्दि॒वि द्यामि॑व दृंहतु ॥३॥

(मयि) मुझ में (वर्चः) ब्राह्मणवर्चस या विद्याध्ययन के तेज को, (अथो) तथा (यशः) कीर्ति को, (अथो) तथा (यज्ञस्य) यज्ञ का (यत्) जो (पयः) सारभूत फल है; (तत्) उस को (प्रजापतिः) प्रजाओं का स्वामी परमेश्वर (मयि) मुझ में (दृंहतु) सुदृढ़ रूप में स्थापित करे, (दिवि) द्युलोक में (इव) जैसे (द्याम्) द्यौ को उसने स्थापित किया हुआ है, सुदृढ़ रूप में ।

[यज्ञस्य=अथवा ब्रह्मचर्य-यज्ञ का । यथा "पुरुषो वाव यज्ञः" (छान्दोग्य उप० ३।१६)]

सूक्त ७०

(१-३) । काङ्कायनः । अघ्न्या । जगती ।

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥१॥

(यथा) जिस प्रकार [मांसाहारी को] (मांसम्) मांस, (यथा) जैसे [सुरापायी को] (सुरा) सुरा, (यथा) जैसे [कितव को] (अधिदेवने) द्यूतकर्म में (अक्षाः) पासे प्रिय होते हैं, (यथा) जैसे (वृषण्यतः पुंसः) कामाभिलाषी पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्त्री में (निहन्यते) प्रह्वीभूत हो जाता है (एवा) इसी प्रकार (अघ्न्ये) हे अहननीये गौ (ते मनः) तेरा मन (वत्से अधि) वत्स में (निहन्यताम्) प्रह्वीभूत हो जाय ।

[कितव=जुआरी । अक्षाः=dice । अघ्न्या गोनाम (निघं० २।११), तथा पदनाम (निघं० ५।५) । पदनाम का अभिप्राय है "यौगिकनाम" । अघ्न्या द्वारा "अहन्तव्या" यह सामान्य अर्थ भी अभिप्रेत है। गौ के सम्बन्ध में यह निर्देश अनुपपन्न प्रतीत होता है कि "तेरा मन वत्स अर्थात् बछड़े के प्रति प्रह्वीभूत हो" । गौ इस निर्देश को समझ कर तदनुकूल आचरण नहीं कर सकती । गौ का निज जात वत्स के साथ स्वाभाविक प्रेम होता ही है, और गौ के प्रेम को गार्हस्थ्य पारस्परिक प्रेम में उदाहरण रूप में भी कहा है । यथा "अन्यो अन्यमभिजातमिवाघ्न्या" (अथर्व० ३।३०।१) । अतः गौ को कहना कि तू वत्स के प्रति प्रह्वीभूत हो, व्यर्थ प्रतीत होता है । मन्त्र में अघ्न्या पद, सादृश्य में, गृहिणी के लिये प्रयुक्त हुआ, लाक्षणिक है । गौ और गृहिणी दोनों ही सन्तानोत्पादन करतीं तथा सन्तानों को निज दुग्ध पिलाती हैं । अतः मन्त्र में गृहिणी के प्रति कहा है कि गृहस्थ में बच्चों के पालन-पोषण में तेरा विशेष ध्यान होना चाहिये । "मातृमान् पुरुषो वेद"। वत्स शब्द का प्रयोग प्रेम प्रदर्शक भी है जो कि मानुष सन्तान के लिये भी होता है ।

मन्त्र में प्रेमासक्ति के ४ दृष्टान्त दिये हैं, गृहिणी को यह दर्शाने के लिये कि बच्चों के प्रति तेरी भी प्रेमासक्ति इसी प्रकार होनी चाहिये । मन्त्र में चारों दृष्टान्त यद्यपि हीनोपमारूप हैं, परन्तु प्रेमासक्ति के दर्शाने में उपयोगी हैं, सार्थक हैं] ।

यथा हुस्ती हुस्तिन्याः पुदेनं पुदमुंद्युजे ।
यथा पुंसो वृंषण्यत स्त्रियां निंहुन्यते मनंः ।
एवा तें अघ्न्ये मनोऽधिं वत्से नि हंन्यताम् ॥२॥

(यथा) जैसे (हस्ती) हाथी (हस्तिन्याः) हथिनी के (पदेन) पग के अनुकूल (पदम्) निज पद को प्रेमवश हुआ (उद्युजे) उद्-युक्त करता है, चलते समय उठाता है, (यथा) जैसे (वृषण्यतः) कामाभिलाषी (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्त्री में (निहन्यते) प्रह्वीभूत हो जाता है, (एवा) इसी प्रकार (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये ! (ते मनः) तेरा मन (वत्से अधि) वत्स में (निहन्यताम्) प्रह्वीभूत हो जाय। भाव पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[उद्युजे=उद्युङ्क्ते । "लोपस्त आत्मनेपदेषु" (अष्टा० ७।१।४१) द्वारा "त" का लोप तथा छान्दस विकरण का लुक् (सायण)]।

यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधिं ।
यथा पुंसो वृंषण्यत स्त्रियां निंहुन्यते मनंः ।
एवा तें अघ्न्ये मनोऽधिं वत्से नि हंन्यताम् ॥३॥

(यथा) जैसे (प्रधिः) रथचक्र की नेमि, (यथा) जैसे (उपधिः) नेमि से सम्बद्ध रथचक्र का घेरा, वलय, जिस के साथ "अरे" लगे रहते हैं; (यथा) जैसे (नभ्यम्) रथचक्र की नाभि का फलक (प्रधौ अधि) प्रधि अर्थात् नेमि देश के साथ सम्बद्ध रहता है। (यथा) जैसे (वृषण्यतः) कामाभिलाषी (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्त्री में (निहन्यते) प्रह्वीभूत हो जाता है, (एवा) इसी प्रकार (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये ! (ते मनः) तेरा मन (वत्से अधि) वत्स में (निहन्यताम्) प्रह्वीभूत हो जाय। भाव पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[निहन्यताम्=नि (नितराम्)+हन् (गतौ, अदादिः), नितरां गतं भवतु, प्रह्वीभूतं भवतु। "प्रधिः प्रधीयत इति प्रधिः, रथचक्रस्य नेमिः। उपधिः उप तत्समीपे धीयत इत्युपधिः। नेमिसम्बद्धः अराणां सम्बन्धको वलयः। यथा प्रधिः उपधिना सम्बध्यते, उपधिश्च प्रधिना। यथा च नभ्यम् रथचक्रमध्यफलकं [परम्परया] प्रधावधि नेमिदेशे सम्बध्यते।

यथा एते परस्परं दृढ़संबन्धाः, एवं हे अघ्न्ये त्वदीयं मनः वत्से दृढसंबन्धं भवतु"[1] (सायण)।

सूक्त ७१

(१-३)। ब्रह्मा। अग्निः, ३ वैश्वानरः। जगती; ३ त्रिष्टुप्।

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम्।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥१॥

(बहुधा) बहुत प्रकार से (विरूपम्) भिन्न-भिन्न रूपों वाला अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस (अन्नम्) अन्न (यद् अद्मि) जो मैं खाता हूं; तथा (हिरण्यम्) सुवर्ण, (अश्वम्) अश्व, (उत) और (गाम्, अजाम्, अविम्) गौ, बकरी, भेड़ (यद् एव) जो ही (किं च) कुच्छ (अहम्) मैंने (प्रति जग्रह) दानरूप में ग्रहण किया है, (तत्) उस सब को (होता) दाता (अग्निः) परमेश्वर (सुहुतम्) जाठराग्नि में उत्तमाहुतिरूप तथा दाता द्वारा उत्तम विधि पूर्वक दिया हुआ (कृणोतु) करे।

[मन्त्र में दो प्रकार की वस्तुओं का वर्णन हुआ है खाद्यवस्तुओं का, तथा दान में गृहीत वस्तुओं का। "अद्मि" द्वारा खाद्य वस्तुओं का, तथा "प्रतिजग्रह" द्वारा दान में गृहीत वस्तुओं का। व्यक्ति सबके दाता अग्नि नामक परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि आगे से सदा सुहुत होने वाला सात्म्य अन्न मैं खाऊं और धर्म विधि से दान में प्राप्त का ग्रहण करूं, ऐसी कृपा तू कर। परमेश्वर ज्ञानाग्निस्वरूप है, उससे एतद्विषयक ज्ञान प्राप्ति की भी अभिलाषा सूचित की है, ताकि व्यक्ति विवेकपूर्वक अन्न

---

१. अघ्न्या का मन वत्स में किस प्रकार से सम्बद्ध रहना चाहिये, इस में रथ या शकट के चक्र अर्थात् पहिये का दृष्टान्त दिया है। पहिये के केन्द्र में काष्ठ का एक गोल फलक [नभ्य] होता है, जिस के साथ अरों का एक किनारा सम्बद्ध रहता है, और दूसरा किनारा पहिये की प्रधि अर्थात् परिधि के साथ लगा रहता है। और गोलाकार परिधि [प्रधि] भी गोलाकार में झुकी हुई उपधियों अर्थात् पुट्ठियों, अवयवों के जोड़ों द्वारा बनी होकर इन पुट्ठियों [उपधियों] के साथ सम्बद्ध रहती है। पहिये के इन अवयवों का परस्पर में जिस प्रकार दृढ़ सम्बन्ध होता है, वैसा दृढ़ सम्बन्ध माता का निज वत्स [पुत्र, पुत्री] के साथ होना चाहिये, यह भाव मन्त्र का है।

खा सके, और विवेकपूर्वक प्रतिग्रह कर सके। मनु ने तो कहा है कि "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः", कि "प्रतिग्रह श्रेष्ठ कर्म नहीं"। होता=हु दाने (जुहोत्यादिः)]।

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥२॥

(पितृभिः) माता, पिता, आचार्यरूपी पिताओं द्वारा (दत्तम्) दिया गया (हुतम्) यज्ञाग्नि में हुत हुआ अर्थात् हुतशेष तथा (मनुष्यैः) मनुष्यों द्वारा (अनुमतम्) अनुज्ञात (यत्) जो (अहुतम्) यज्ञाग्नि में हुत न हुआ (मा आ जगाम) मुझे अन्न प्राप्त हुआ है, (यस्मात्) जिस अन्न से (मे मनः) मेरा मन (इव) मानो (उद् रारजीति) उद्धर्षित हुआ है, या राग युक्त हुआ है, (तत्) उसे (होता) सबका दाता (अग्निम्) परमेश्वर (सुहुतम्) उत्तम यज्ञशेषरूप (कृणोतु) करे।

[प्राप्त अन्न दो प्रकार का है, हुत और अहुत। पितरों द्वारा प्राप्त अन्न तो हुतरूप है। उस के ग्रहण करने से मन उद्दीप्त होता है, उद्धर्षित होता है [उद् राजृ दीप्तौ], और यज्ञ किये बिना, परन्तु फिर भी सर्व साधारण मनुष्यों द्वारा अनुज्ञात अन्न, जो कि सेवन करने वाले को सांसारिक या धन के राग से रञ्जित कर देता है। इन दोनों प्रकार के अन्नों को, सुहुत करने अर्थात् जाठराग्नि में परिपक्व हो जाने की अभिलाषा प्रकट की गई है। उद्+रञ्ज रागे। रारजीति=यङ्लुगन्तरूप]।

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥३॥

(देवाः) हे दिव्य कोटी के पितरो! [मन्त्र २] (यत्) जो (अन्नम्) अन्न (अनृतेन) अनृत मार्ग से प्राप्त कर (अद्मि) मैं खाता हूं; (दास्यन्) ऋण द्वारा प्राप्त अन्न को वापिस दूंगा (उत अदास्यन्) या न दूंगा तो भी (संगृणामि) मैं प्रतिज्ञा करता हूं [कि दूंगा], (मह्यम्) मेरे लिये वह, सब कुछ, (वैश्वानरस्य) सब नर-नारियों के हितकारी (महतः) महान् परमेश्वर की (महिम्ना) महिमा द्वारा, तथा वह (अन्नम्) प्राप्त अन्न (शिवम्) सुखप्रद तथा (मधुमत्) मधुर (अस्तु) हो। अथवा "दास्यन् अदास्यन्="दे सकूंगा, या न दे सकूंगा" [दानरूप में प्रतिज्ञात धन]।

[यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह अनुचित काम करके भी उस के दुष्फल को प्राप्त करना नहीं चाहता, और तदनुरूप प्रार्थना भी परमेश्वर से करता है। ऐसी प्रार्थनाएं भी अन्ततोगत्वा सुखप्रद हो जाती हैं। बार-बार प्रार्थनाओं के करते किसी समय प्रार्थी में अनुताप प्रकट हो जाता है और वह अनुचित कर्मों के करने से उपरत हो जाता है]।

सूक्त ७२

(१-३)। अथर्वाङ्गिराः। शेपोऽर्कः। अनुष्टुभ्; १ जगती; ३ भुरिक्।

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं सं समकं कृणोतु ॥१॥

(यथा) जैसे (असुरस्य) प्राणप्रदाता परमेश्वर की (मायया) प्रज्ञा द्वारा, (असितः) बन्धन रहित अर्थात् सीमा रहित आकाश (प्रथयते) प्रथित होता है, विस्तृत होता है, और (वशान् अनु) कामनानुसार (वपूंषि) नानाविध शरीरों को (कृण्वन्) वह परमेश्वर पैदा करता है, (एवा) इसी प्रकार (सहसा) साहस द्वारा (ते) हे राजन्! तेरा (शेप राज्य, (अयम् अर्कः) जो कि इस सूर्य को तरह ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित हुआ है [प्रथयते] फैलता है, यह तेरा राज्य (अङ्गेन अङ्गम्[1]) राज्य के प्रत्येक अंग के साथ अन्य अंग को (सम्, सम्, अकम्) परस्पर संगत अर्थात् मेलयुक्त (कृणोतु) करे।

[असुरस्य=असुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)+र (रा दाने, अदादिः)। असितः=अ+षिञ् बन्धने (स्वादिः)+क्तः। वशान्=वश कान्तौ, कान्तिः इच्छा कामना। शेपः=पसः=राष्ट्रम् यथा "विड् वै गभो राष्ट्रं पसः" (श० ब्रा० १३।२।९।६)। कृण्वन् "भवति"]।

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्।
यावत्परस्वतः पसस्तावत्ते वर्धतां पसः ॥२॥

[हे राजन्!] (यथा) जिस प्रकार कि (पसः) राष्ट्र (अरम्) पर्याप्त

---

१. यथा "विशो मेऽङ्गानि सर्वतः" (यजु० २०।८), अर्थात् राष्ट्र में सर्वत्र फैली भिन्न-भिन्न प्रजाएं मेरे अङ्गरूप हैं। ये शरीर के अङ्गों की तरह परस्पर मिली रहें।

(तायात्) विस्तार को प्राप्त हो, [जैसे कि] (वातेन) वात द्वारा [पेट] (स्थूलभम्) स्थूलनिभ (कृतम्) कर दिया जाता है। (परस्वतः) पूर्व सृष्टिकाल के चक्रवर्ती राजा का (यावत्) जितना बड़ा (पसः) राष्ट्र था (तावत्) उतना बड़ा (ते) तेरा (पसः) राष्ट्र (वर्धताम्) बढ़े।

[पसः=राष्ट्रम् (मन्त्र १)। तायात्=तायृ सन्तानपालनयोः (भ्वादिः)। सन्तान=सम्यक् विस्तार। सम्+तनु विस्तारे (तनादिः)। अरम्=अलम्, पर्याप्तम्। वातेन=बात, पित्त, कफ शरीर की धातुएं हैं। वायुविकार द्वारा पेट स्थूल हो जाता है, फूल जाता है। परस्वतः=पूर्वकाल के चक्रवर्ती[1] राजा का]।

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥३॥

(यावद् अङ्गीनम्) जितने अवयवों वाला (पारस्वतम्=पारावतम्) कबूतर का, (हास्तिनम्) हाथी का, (च यत्) और जो (गार्दभम्) गर्दभ का, (यावत्) जितना (वाजिनः अश्वस्य) शक्तिशाली अश्व का (पसः) राष्ट्र या राज्य है [हे राजन्!] (तावत्) उतना (ते) तेरा (पसः) राष्ट्र या राज्य (वर्धताम्) बढ़े, विस्तृत हो। पसः=राष्ट्र, मन्त्र (६।७२।१)।

["पारस्वतम्" छान्दस पाठ है, और लौकिक संस्कृत पाठ है "पारावतम्"। "सकार" हलन्त का विकार "अकार" हुआ है। मन्त्र में "हस्ती" आदि सब अमानुष प्राणिवाचक पद हैं, अतः "पारस्वतम्" पद भी अमानुष प्राणिवाचक पद प्रतीत होता है, जो कि "पारावतम्" सम्भव है। पारावत है कबूतर।

"पारावतम्" आदि द्युलोकस्थ तारागणों की प्राण्याकृतियां अभिप्रेत हैं। इन आकृतियों में जितने-जितने तारा हैं वे उस-उस के अङ्ग हैं, अवयव

१. इन्हें जनराट्, (यजु० १०।८,६।४०); (अथर्व० २०।२१।९); तथा एकराट् (अथर्व० २।४।१) कहा है। अर्थात् पृथिवी के सब जनों का एक राजा, चक्रवर्ती राजा।

हैं । प्रत्येक "पारावत" आदि जितनी डिगरियों [अंशों] में फैला हुआ है, विस्तृत हुआ है, उतने विस्तार वाला उस-उस का मानो राष्ट्र है, राज्य है । राजा के प्रति कहा है कि तेरा राष्ट्र या राज्य भी इन्हीं विस्तारों के सदृश विस्तृत हो । वर्तमान द्युलोक के चित्र अभिप्रेत वैदिक-चित्रों के सर्वथा अनुरूप नहीं हैं । चित्रों की व्याख्या परिशिष्ट में देखिए ।

काण्ड छठा का सातवां अनुवाक सम्पूर्ण

अनुवाक ८

सूक्त ७३

(१–३) । अथर्वा । सांमनस्यम् । मन्त्रोक्तदेवताः । त्रिष्टुप्; १,३ भुरिज् ।

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥१॥

(इह) यहां (आयातु) आए (वरुणः) वरुण राजा, (सोमः) सेनाध्यक्ष, (अग्निः) प्रधानमन्त्री । (बृहस्पतिः) बड़ी सेना का पति भी (इह) यहां (आ यातु) आए, (वसुभिः) वसुओं [रुद्रों, आदित्यों] के साथ । (सर्वे) ये तुम सब (सजाताः) एक साम्राज्य में उत्पन्न हुए, (संमनसः) एक मन हुए (अस्य) इस (उग्रस्य चेत्तुः) सदा सावधान रहने वाले उग्र-सम्राट् की (श्रियम्) साम्राज्य को शोभा सम्पत् में (उप संयात) मिलकर उपस्थित होओ ।

[वरुण के कथन से "सम्राट्" अर्थ आक्षिप्त होता है, यथा 'इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा' (यजु० ८।३७) । वरुण है एकराष्ट्र का राजा और सम्राट् है संयुक्त राष्ट्रों का अधिपति । सोम और बृहस्पति हैं सेना नायक तथा सेनाधिपति (यजु० १७।४०) । अग्नि है अग्रणी प्रधानमन्त्री (निरुक्त ७।४।२४) । वसुभिः पद, रुद्रों और आदित्यों का उपलक्षक है । ये हैं साम्राज्य के विद्वान्[1] शिक्षक । मन्त्र में सम्राट् के दरबार का वर्णन है । साम्राज्य के शासन में परस्पर सांमनस्योत्पादनार्थ विचार के लिये, दरबार लगाया गया है, और अधिकारियों तथा विद्वानों को तदर्थ आमन्त्रित किया है] ।

---

१. वसु, रुद्र और आदित्य तीन वैदिक उपाधियां हैं ब्रह्मचर्य पूर्वक शिक्षा प्राप्त विद्वानों की, देखो (छान्दोग्य उप० ३।१६); जैसे कि बी०.ए०, एम०ए०, डाक्टर । तथा प्राज्ञ, विशारद, शास्त्री आदि ।

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥२॥

(वः) तुम्हारे (हृदयेषु अन्तः) हृदयों के अन्दर (यः) जो (शुष्मः) शत्रुशोषक बल है, (वः) तुम्हारे (मनसि) एकीभूत मन में (या) जो (आकूतिः) कल्पना [अर्थात् संकल्प] (प्रविष्टा) प्रविष्ट हुई है, (तान्) उन बलों और संकल्पों को (हविषा, घृतेन) यज्ञिय हवि और घृत द्वारा यज्ञ करके (सीवयामि) मैं सम्राट् संगठित करता हूं, (सजाताः) हे एक साम्राज्य के पुत्रों ! (वः) तुम्हारी (रमतिः) प्रेमासक्ति (मयि अस्तु) मुझ सम्राट् में हो।

[लगे दरबार में एकत्रित हुए अधिकारियों और शिक्षकों के प्रति सम्राट् का भाषण है। शुष्मम् बलनाम (निघं० २।९)]।

इहैव स्त मापं याताध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु ।
वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥३॥

[हे अभ्यागतो !] (इह एव) यहां ही [मेरे आतिथ्य में] (स्त) होओ रहो, (मा अपयात) हम से जुदा न होओ। (पूषा) अन्नादि द्वारा पोषक अधिकारी (परस्तात्) हम से परे जाने में (वः) तुम्हारा (अपथम्) मार्ग-रोध (कृणोतु) करे। (वास्तोष्पतिः) राजकीय गृहों का स्वामी (अनु) निरन्तर (वः) तुम्हारा (जोहवीतु)बार-बार आह्वान करता रहे (सजाताः) ताकि हे साम्राज्य में उत्पन्न हुए साम्राज्य के पुत्रों ! (मयि) मुझ में (वः) तुम्हारी (रमतिः) प्रेमासक्ति (अस्तु) हो, बनी रहे।

[सम्राट का भाषण है अभ्यागतों के प्रति, जो कि सम्राट् के दरबार में उपस्थित हुए हैं। सम्राट् कहता है कि साम्राज्य का पोषक-अधिकारी पोषकसामग्री द्वारा तुम्हारी इतनी सेवा करे कि वापिस जाने का तुम्हारा मार्ग और अधिक काल तक रुका रहे। तथा साम्राज्य का वास्तोष्पति तुम्हें पुनः-पुनः आने का आह्वान करता रहे, तुम्हें आमन्त्रित करता रहे। इस प्रकार तुम्हारी प्रेमासक्ति को मैं प्राप्त करता रहूं।]

सूक्त ७४

(१—३) अथर्वा। सांमनस्यम्, मन्त्रोक्तदेवताः। अनुष्टुभ्; ३ त्रिष्टुभ् त्रिणामन्देवत्या।

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता ।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥१॥

(वः) तुम्हारे (तन्वः) शरीर (सं पृच्यन्ताम्) परस्पर सम्पर्क किया करें, (मनांसि सम्) मन परस्पर सम्पर्क किया करें, (व्रता=व्रतानि) व्रत या कर्म (सम् उ) परस्पर सम्पर्क किया करें। (अयम् ब्रह्मणस्पतिः) यह वेदों का स्वामी परमेश्वर (वः) तुम्हें (सम् अजीगमत्) परस्पर संगत करे, (भगः) यह भजनीय परमेश्वर (वः) तुम्हें (सम्) परस्पर संगत करे।

[शरीरों, मनों, तथा व्रतों और कर्मों की दृष्टि से तुम आपस में मिले रहो, वेदों का स्वाध्याय करो और एक भजनीय परमेश्वर का भजन किया करो]।

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः ।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥२॥

(वः) तुम्हारे (मनसः) मनों का (संज्ञपनम्) सांमनस्य हो, (अथो) तथा (हृदः) हृदयों का (संज्ञपनम्) सांमनस्य हो। (अथो) तथा (भगस्य) भजनीय परमेश्वर का (यत्) जो (श्रान्तम्) तपोरूप वेदज्ञान है (तेन) उस द्वारा (वः) तुम्हें (संज्ञपयामि) हम एकमत वाले तथा सम्यक् ज्ञान-सम्पन्न करते हैं।

[मनों का साम्मनस्य है एकविचार, हृदयों का साम्मनस्य है एकसदृश भावनाएं। श्रान्तम्=श्रमु तपसि खेदे च (दिवादिः)। तथा 'यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुण्डक १।१।९)।]

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः ।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह ॥३॥

(यथा) जिस प्रकार (आदित्याः) आदित्यकोटि के विद्वान् (वसुभिः) वसु कोटि के विद्वानों के साथ (संबभूवुः) सांमनस्य में होते हैं, (उग्राः) उग्र बलवाले क्षत्रिय सेनाध्यक्ष (मरुद्भिः) मारने में कुशल सैनिकों के साथ (अहृणीयमानाः) विना लज्जा और संकोच के (संबभूवुः) सांमनस्य में

होते हैं, (एवा) इसी प्रकार (त्रिणामन्)[1] तीन लोकों को अपने प्रति नमानेवाले, झुकानेवाले, उन्हें पराजित करनेवाले हे परमेश्वर ! (अहृणीयमानः) विना संकोच किये तू (इमान्) इन (जनान्) प्रजाजनों को (संमनसः) परस्पर सांमनस्य वाले, तथा निज के साथ मिले मनोंवाले (इह) इस जगत् में (कृधि) कर।

[आदित्य उच्चकोटि के विद्वान् हैं, और वसु निचली कोटि के विद्वान् हैं, तब भी गुरुकुलों में परस्पर सांमनस्य में रहते हैं, प्रेमपूर्वक रहते हैं। उग्र सेनाध्यक्ष और सेनाधिपति तथा सैनिक एक-सैनिक स्थान में भी परस्पर सांमनस्य अर्थात् प्रेम में रहते हैं, इसी प्रकार नागरिक प्रजाजनों को भी परस्पर सांमनस्य अर्थात् प्रेम में रहना चाहिये, तथा उपास्य और उपासक में भी परस्पर अनुरागयुक्त होना चाहिये।]

सूक्त ७६

(१—३)। कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)। मन्त्रोक्तदेवताः, इन्द्रः। अनुष्टुभ्; ३ षट्पदा जगती।

निर॒मुं नु॑द॒ ओक॑सः स॒पत्नो॒ यः पृ॑त॒न्यति॑ ।
नै॒र्बा॒ध्ये॑न ह॒विषेन्द्र॑ एन॒ं परा॑शरीत् ॥१॥

(अमुम्) उस शत्रु को (ओकसः) निज राष्ट्रगृह से (निर् नुदे) मैं वरुण-राष्ट्रपति निकाल देता हूं, (यः) जो (सपत्नः) शत्रु कि (पृतन्यति) सेना द्वारा आक्रमण करना चाहता है। (इन्द्रः) सम्राट् (नैर्बाध्येन) नितरां बाधा डालने वाली (हविषा) युद्धयज्ञ में हविरूप सेना द्वारा (एनम्) इस सपत्न को (पराशरीत्) हिंसा करे।

[राष्ट्रपति 'वरुणराजा' निज राष्ट्र को निज ओकस् अर्थात् घर समझ कर उस को रक्षा करता है। इन्द्र है सम्राट्। सम्राट् के सम्बन्ध से राष्ट्रपति है वरुण-राजा। 'इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा' (यजु० ८।३७)।]

प॒र॒मां तं प॑रा॒वत॒मिन्द्रो॑ नुदतु वृत्र॒हा ।
यतो॒ न पुन॒राय॑ति शश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः ॥२॥

१. तथा ओ३म् के अ, उ, म् इन तीन अक्षरों द्वारा निर्दिष्ट नामों वाले ! (माण्डू० उप०; तथा सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास)।

(वृत्रहा) आवरण अर्थात् घेरा डालने वाले शत्रुदल का हनन करने वाला (इन्द्रः) सम्राट् (तम्) उसे (परमां परावतम्) दूर से दूर (नुदतु) धकेल दे, (यतः) जहां से (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वतकालसम्बन्धी वर्षों से भी (पुनः) फिर लौट कर (न आयति) न आये ।

[अभिप्राय यह कि इन्द्र उसे मार डाले, जहां से लौटकर आना नहीं होता । मन्त्र में 'तम्' द्वारा शत्रु-राजा का निर्देश हुआ है । परावतः दूर-नाम (निघं० ३।२६) ।]

एतुं तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति ।
एतुं तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥३॥

शत्रु (परावतः) दूरवर्ती (तिस्रः) तीन भूमियों को (अति एतु) अतिक्रान्त कर जाए, (पञ्च जनान्) पांच जनों को (अति एतु) अतिक्रान्त कर जाए । (तिस्रः रोचनाः) तीन प्रदीप्त लोकों का (अति एतु) अतिक्रमण कर जाय, (यतः) जहां से (न पुनः आयति) न फिर आए, न लौट कर आए (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वतकालसम्बन्धी वर्षों से भी, अर्थात् (यावत्) जितने वर्षों तक (सूर्यः) सूर्य (दिवि) द्युलोक में (असद्) रहें ।

[दूरवर्ती[1] तीन भूमियां हैं—बुध, बृहस्पति, शनैश्चर । पञ्चजन हैं चार वर्णों के जन और एक निषादरूपी, इस प्रकार पांच प्रकार के मनुष्य । शत्रु जब मर कर पृथिवी से दूर चला गया तो उसका सम्पर्क पृथिवीवासी पाञ्चजनों के साथ न रहा । तीन प्रदीप्त लोक हैं द्युलोक, स्वर्गलोक तथा नाकलोक । यथा 'येन द्यौरुग्रा, येन स्वः स्तभितं, येन नाकः' (यजु० ३२।६) ।]

सूक्त ७६

(१—४) । कबन्धः । सान्तपनाग्निः । अनुष्टुभ्; २ ककुम्मती ।

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे ।
सं प्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥१॥

---

१. और समीप की तीन भूमियां हैं, पृथिवी जो कि हमारे अत्यन्त समीप है, शुक्र तथा मंगल ।

(ये) जो (एनम्) इस [क्षत्रिय, मन्त्र ३, ४] के (परिषीदन्ति) चारों ओर बैठते हैं, और (चक्षसे) [अग्नि के] दर्शन के लिये (समादधति) समाहितचित्त होते हैं, उनकी (जिह्वाभिः) जिह्वाओं अर्थात् वाक्यों या भाषणों द्वारा (संप्रेद्धः) सम्यक् प्रदीप्त हुई (अग्निः) क्षात्राग्नि (हृदयात् अधि) क्षत्रिय के हृदय से (उदेतु) उद्गत हो, उठे।

[सूक्त के चारों मन्त्रों के वर्णन कविता में हैं और छायावादानुरूप हैं। जिह्वाभिः=जिह्वा वाङ्नाम (निघ० १।११)। शत्रुओं द्वारा किये गये आक्रमण को सह्य न जानते हुए, क्षत्रिय के हृदय से जो क्षात्राग्नि उद्गत होती है उसके दर्शन के लिये क्षत्रिय के चारों ओर बैठे सैनिकों के उत्साहजनक भाषणों द्वारा यह क्षात्राग्नि सम्यक् प्रदीप्त होकर क्षत्रिय के हृदय से उठती है और प्रजाजन इस अग्नि का दर्शन ध्यानपूर्वक करते हैं।]

अ॒ग्नेः सां॑तप॒नस्या॒हमायु॑षे प॒दमार॑भे ।
अ॒द्धाति॒र्यस्य॒ पश्य॑ति धू॒ममु॒द्यन्त॑मा॒स्य॒तः ॥२॥

[क्षत्रिय कहता है] (सांतपनस्य) शत्रु को सन्तप्त करनेवाली (अग्नेः) अग्नि के (पदम्) पैर को, चरण को (आयुषे) निज, प्रजाजन और राष्ट्र के जीवन के लिये, (अहम्) मैं (आरभे=आलभे) पकड़ता हूं, छूता हूं। (यस्य) जिस अग्नि के (धूमम्) धूएं को (आस्यतः) मुझ क्षत्रिय के मुख से (उद्यन्तम्) उठते हुए को (अद्धातिः) सत्यान्वेषी, मेधावी मनुष्य (पश्यति) देखता है।

[श्रद्धा सत्यनाम (निघं० ३।१०)। अद्धातयः मेधाविनाम (निघं० ३। १५)। अग्नि जब सन्दीप्त होती है तो उस से धुआं उठता है, इसी प्रकार क्षात्राग्नि के मुख से धुआं उठता है। सम्भवतः यह मुख 'फेन' हो।]

यो अ॑स्य स॒मिधं॒ वेद॑ क्ष॒त्रिये॑ण स॒माहि॑ताम् ।
नाभिह्वा॒रे प॒दं नि द॑धाति॒ स मृ॒त्यवे॑ ॥३॥

(यः) जो प्रजाजन (अस्य) इस धर्मयुद्ध की अग्नि की (समिधम्) समिधा को (वेद) जानता है, जो कि (क्षत्रियेण) क्षत्रिय द्वारा (समाहिताम्) सम्यक् अर्थात् धर्मपूर्वक आधानरूप में स्थापित की जाती है, वह प्रजाजन (अभिह्वारे) कुटिल अर्थात् छल-कपट की नीति में (पदम्) पैर को (न निदधाति) नहीं रखता, पदन्यास नहीं करता, और न (मृत्यवे) मृत्यु के लिये पदन्यास करता है।

[अभिह्वारे=अभि+ह्वृ कौटिल्ये (भ्वादिः)। कुटिल है छल-कपट से युद्ध करना। यह नीति सच्चे क्षत्रिय को नहीं भाती। सच्चा क्षत्रिय धर्मानुमोदित छल-कपट रहित युद्ध को अपनाता है। क्षत्रिय की समिधा है 'एकीभूत-राष्ट्रसम्पत्ति' तथा सैन्यवर्ग। वह इन दोनों को युद्ध-यज्ञाग्नि में हुत कर देता है, परन्तु छलकपट का आश्रय नहीं लेता।]

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति।
अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे ॥४॥

(पर्यायिणः) सब ओर घेरा लगाकर आये हुए शत्रु (एनम्) इस क्षत्रिय को (न घ्नन्ति) नहीं मार पाते, (न) और न (सन्नान्) घेरा डाले बैठे शत्रुओं को वह (अवगच्छति) अवगत ही करता है, इन्हें कुछ जानता ही है, न इन की परवाह ही करता है, (यः) जो (क्षत्रियः) क्षत्रिय (विद्वान्) युद्धविद्या या क्षात्रविद्या का विज्ञ हुआ (आयुषे) निज, प्रजाजन और राष्ट्र के दीर्घ जीवन के लिये (अग्नेः) क्षात्राग्नि का (नाम गृह्णाति) नाम ग्रहण करता है, नाम जपता है, इसे प्राप्तव्य देव जानकर इस को उपासना में रत रहता है।

[पर्यायिणः=परित आगन्तारः शत्रवः (सायण)। सन्नान्=सद्+क्तः (कर्तरि)। सीदन्तीति सन्नाः, तान्।]

सूक्त ७७

(१—३)। कबन्धः। जातवेदाः। अनुष्टुभ्।

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम् ॥१॥

(द्यौः) द्युलोक (अस्थात्) स्वस्थान में स्थित है, (पृथिवी अस्थात्) पृथिवी स्वस्थान में स्थित है, (इदम्) यह (जगत्) गतिमान् (विश्वम्) विश्व (अस्थात्) स्वस्थान में स्थित है। (आस्थाने) निज स्थान में (पर्वताः) पर्वत (अस्थुः) स्थित हुए हैं, (स्थाम्नि) स्वस्व स्थान (अश्वान्)[1]

१. तथा अश्वः=आदित्यः। यथा "एको अश्वो वहति सप्तनामा" (ऋ० १। १६४।२)। "एकोऽश्वो वहति सप्तनामादित्यः" (निरुक्त ४।४।२७)।

रश्मियों से व्याप्त तारा-नक्षत्रों को (अतिष्ठिपम्) मैं परमेश्वर ने स्थापित किया है।

[अश्वाम्=अशूङ् व्याप्तौ (स्वादिः), रश्मियों द्वारा व्याप्त। वैदिक-सिद्धान्तानुसार पृथिवी आदि सब चलायमान हैं, अपने-अपने कक्षावृत्तों में। इन्हीं कक्षावृत्तों में परमेश्वर ने इन्हें स्थित किया हुआ है, स्थापित कर रखा है। ये सब चलायमान हैं—यह दर्शाने के लिये मन्त्र में विश्व को 'जगत्' कहा है, गतिशील कहा है। जगत्[1]=गम् (गतौ)+यङ्लुक्+अति प्रत्यय।]

य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम्।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥२॥

(यः) जो (गोपाः) पृथिवी और वेदवाक् का रक्षक परमेश्वर (परायणम्)[2] दूर के मार्गों में (उदानट्) उत्कर्षरूप में व्याप्त है, (यः) जो (न्ययनम्)[2] नीचे के मार्गों में भी (उदानट्) उत्कर्षरूप में व्याप्त है। (यः) जो (आवर्तनम्) सर्जनकाल में सृष्टि में आवे और (निवर्तनम्) प्रलयकाल में सृष्टि से निवृत्त हो जाने को [उदानट्] उत्कृष्टतया प्राप्त करता है (तम्) उस परमेश्वर का (अपि) भी (हुवे) मैं [स्तुति-प्रार्थना में] आह्वान करता हूं।

[उदानट्=नशतिर्व्याप्तिकर्मा। अस्मात् छान्दसे लुङि 'मन्त्रे घस' (अष्टा० २।४।८०) इति च्लेर्लुक्। आडागमः। 'षत्वजश्त्वे' (सायण)। गोपाः=गौः पृथिवीनाम, गौः वाङ्नाम (निघं० १।१; १।११)+पा रक्षणे (अदादिः)। 'अपिः सम्भावनायाम्' (सायण)।]

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥३॥

(जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों को जानने वाले परमेश्वर! (निवर्तय)

१. जगत्=गच्छतीति, गम् धातोः जगादेशः तथा (उणा० २।८५)।

२. दूर के मार्ग=द्युलोक सम्बन्धी। नीचे के मार्ग=अन्तरिक्ष के और भूलोक सम्बन्धी।

हमारे राग-द्वेष आदि की निवृत्ति कर, ताकि (शतम्)[1] सौ (ते आवृतः) तेरे आगमन (सन्तु) हमारे हृदयों में हों। (ते) तेरे (सहस्रम्)[1] हजारों (उपावृतः) हमारी उपासनाओं में समीप आगमन हों, (ताभिः) उन आगमनों और उपागमनों द्वारा (पुनः) बार-बार (आ कृधि) आगमन और उपागमन कर।

सूक्त ७८

(१—३)। अथर्वः। १,२, चन्द्रमाः; ३ त्वष्टा। १—३ अनुष्टुभ्।

तेन॑ भू॒तेन॑ ह॒विषा॒ऽयमा प्या॑यतां॒ पुन॑ः।
जा॒यां याम॑स्मा॒ आवा॑क्षु॒स्तां रसे॑ना॒भि व॑र्धताम् ॥१॥

(तेन) उस (भूतेन) प्रभूत (हविषा) हविःरूप अन्न द्वारा (अयम्) यह पति (पुनः) फिर-फिर सेवन से (आप्यायताम्) वृद्धि प्राप्त करे, बढ़े। (याम् जायाम्) जिस पत्नी को (अस्मै) इस पति के लिये (आवाक्षुः) माता-पिता ने प्राप्त कराया है (ताम्) उसे (रसेन) दुग्ध, दधि, घृत तथा नानाविध रसों द्वारा (अभिवर्धताम्) पति बढ़ाए।

[भोज्य अन्न को हविः कहा है। इसे जाठराग्नि को यज्ञाग्नि समझकर उस में आहुतिरूप में आहुत करना चाहिये। और एक बार प्रभूत अन्न न खा कर बार-बार इसका सेवन करना चाहिये। ऐसे सेवक को 'आत्मयाजी' कहते हैं। पत्नी ने सन्तानोत्पादन करना है, अतः उस का पोषण रसदार पौष्टिक भोज्यों द्वारा करते रहना पति का कर्तव्य है। अभिवर्धताम्= अभिवर्धयतु, णिलोपः (सायण)]।

अ॒भि व॑र्धतां॒ पय॑सा॒ऽभि रा॒ष्ट्रेण॑ वर्धताम्।
र॒य्या स॒हस्र॑वर्चसे॒मौ स्ता॒मनु॑पक्षितौ ॥२॥

[पति-पत्नी दोनों] (पयसा) दुग्धादि द्वारा (अभिवर्धताम्) बढ़ें, (राष्ट्रेन) राष्ट्र या राष्ट्रिय भावना द्वारा (अभिवर्धताम्) बढ़ें। (इमौ) ये दोनों (सहस्रवर्चसा) अपरिमित तेजप्रद (रय्या) सम्पत्ति द्वारा (अनुपक्षितौ)[2] उपक्षीण न (स्ताम्) हों, इनकी सम्पत्ति बढ़ती रहे।

---

१. ये दोनों पद "बहुत्व" के सूचक हैं।

२. ये दोनों ऐसे अन्नादि का सेवन करें कि गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी इन का तेज बढ़ता रहे।

त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टाऽस्यै त्वां पतिम् ।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥३॥

(त्वष्टा) शिल्पकारी रचयिता परमेश्वर ने (जायाम्) जाया अर्थात् पत्नी को (अजनयत्) पैदा किया,(त्वष्टा) शिल्पकारी रचयिता परमेश्वर ने (अस्यै) इस जाया के लिये (त्वाम्) तुझ (पतिम्) पति को पैदा किया। (त्वष्टा) शिल्पकारी रचयिता परमेश्वर ने (सहस्रम्) हजारों (आयूंषि) आयुएं तुम्हारी कीं [भूतकाल में], वह (वाम्) तुम दोनों की (आयुः) [वर्तमान] आयु को (दीर्घम् कृणोतु) दीर्घ करे।

[त्वष्टा=त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः (निरुक्त ८।२।११)। सहस्रम् आयूंषि=जन्म-जन्मान्तरों में हजारों आयुएं त्वष्टा ने तुम्हारी कीं। अथवा हजार वर्षों की दीर्घ आयु तुम्हारी करे। आयुः=जीवनकाल]।

सूक्त ७९

(१—३)। अथर्वा। संस्फानः। गायत्री; ३ त्रिपदा प्राजापत्या जगती।

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु ।
असमातिं गृहेषु नः ॥१॥

(अयम्) यह (नभसस्पतिः) मेघ का पति (संस्फानः) सम्यक् वृद्धि करनेवाला परमेश्वर (नः) हमारी (अभिरक्षतु) पूर्णतया रक्षा करे और (नः)हमारे (गृहेषु) घरों में (असमातिम्) मापरहित धान्य की रक्षा करे।

[मेघ के वर्णन से तदुत्पादित धान्य की असमाति अभिप्रेत है। असमाति का अर्थ है मापराहित्य अर्थात् प्रभुत्व। अ+सं[1]+मातिः, माप=माप-राहित्य। सं स्फानः=सम्+स्फायी वृद्धौ (भ्वादिः)]।

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय ।
आ पुष्टमेत्वा वसु ॥२॥

(नभसस्पते) हे मेघ के पति ! (त्वम्) तू (नः गृहेषु) हमारे घरों में (ऊर्जम्) बलदायक और प्राणप्रद अन्न (धारय) स्थापित कर, जिस से (पुष्टम्) पुष्ट अन्न (आ एतु) आए, (वसु) और धन (आ एतु) आए।

---

१. समातिः=समातिः माप सहित। असमातिः मापरहित।

[ऊर्जम्=ऊर्क् अन्ननाम(निघं०२।७)। ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः)। पुष्ट अन्न के विक्रय द्वारा वसु की प्राप्ति होती है]।

देव संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे।
तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥३॥

(संस्फान) सम्यक् वृद्धि करनेवाले (देव) हे दाता परमेश्वर! (सहस्रापोषस्य) हजार प्रकार के पोषक धन का(ईषिषे)तू अधीश्वर है,(तस्य) उस का भाग (नः) हमें (रास्व) दे, (तस्य) उस का भाग (नः) हमारे लिये (धेहि) धारित या पोषित कर [निर्धारित कर] (ते) तेरे (तस्य) उस अन्न के (भक्तिवांसः) भागवाले (स्याम) हम हों। अथवा उस तुझ की भक्तिवाले, भजन करने वाले हम हों, तेरे दिये अन्न के सेवन द्वारा जीवित हुए तेरा भजन करें।

सूक्त ८०

(१-३)। अथर्वा। चन्द्रमाः। अनुष्टुभ्; १ भुरिक्; ३ प्रस्तारपङ्क्तिः।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥१॥

(अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष के मार्ग द्वारा (पतति) उड़ता है, (विश्वा भूता=विश्वानि भूतानि) सब भूत-भौतिक तत्त्वों का (अव) जो कि नीचे हैं उन्हें (चाकशत्) देखता है, उस (दिव्यस्य) द्युलोकस्थ (शुनः) श्वा का (यत्) जो (महः) तेज है (तेन हविषा) उस हविः द्वारा (ते) तेरी (विधेम) परिचर्या हम करते हैं।

[मन्त्र में परमेश्वर की परिचर्या का वर्णन है। विधेम परिचरणकर्मा (निघं० ३।५)। द्युलोकस्थ श्वा है Sirius, जिसे Dogstar भी कहते हैं तथा canicula भी। द्युलोक में सर्वाधिक चमकीला यह तारा है जो कि cannis major में स्थित है। यह जब सूर्य के साथ उदित और अस्त होता है उन दिनों को Dogdays कहते हैं। यह सर्वाधिक चमकीला है इसलिये परमेश्वर की चमक को श्वा की चमक के सदृश कहा। चमक के कारण परमेश्वर को 'आदित्यवर्णम्' भी कहा है (यजु० ३१।१८)। श्वा के महः अर्थात् तेज को हविः कहा है। इस तेज तो लक्ष्य कर के परमेश्वर की स्तुति करना परमेश्वर की परिचर्या है।

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः ।
तान्त्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये ।।२।।

(ये) जो (त्रयः) तीन (कालकाञ्जाः) काल को अभिव्यक्त करनेवाले (दिवि) द्युलोक में (देवाः) अन्य देवों अर्थात् द्योतमान तारा-नक्षत्रों (इव) के सदृश (श्रिताः) आश्रित हैं, (तान् सर्वान्) उन सब अर्थात् दोनों का (अह्व) मैं आह्वान करता हूं (ऊतये) रक्षा के लिये और (अस्मै अरिष्टतातये) इस अविनाश के करने के लिये या विस्तार के लिये ।

[कालकाञ्जाः=काल+क (स्वार्थे)+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (रुधादिः)। ये तीन हैं सूर्य, चन्द्रमा तथा सप्तर्षिमण्डल। तीनों द्वारा काल की अभिव्यक्ति होती है। राष्ट्रिय तथा सामाजिक और वैयक्तिक कालगणना के लिये इन तीनों[1] कालों का आह्वान करना चाहिये, इस से लेखे ठीक रहते हैं, उनका विनाश नहीं होता। अथवा कालकाञ्जाः=काल+क्र (डः औणादिकः (२।६७), डित्वात् टिलोपः)+अञ्जू (अभिव्यक्तिः)[2]]।

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ।।३।।

(अप्सु) मेघस्थ जलों में (ते) तेरा (जन्म) प्रादुर्भाव होता है, (दिवि) द्युलोक में (ते) तेरी (सधस्थम्) तारा आदि के साथ स्थिति है, (ते) तेरी (महिमा) महिमा (समुद्रे अन्तः) समुद्र के अन्दर, (पृथिव्याम्) और पृथिवी में है। (शुनो दिव्यस्य आदि) व्याख्या मन्त्र (१) के सदृश।

[मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन है यह दर्शाने के लिये कि तू ही सूर्य, चन्द्र तथा सप्तर्षिमण्डल का तथा इन द्वारा ज्ञेय काल का निर्माण करता है, तथा सर्वत्र तेरी अभिव्यक्ति तथा विद्यमानता है। जन्म=जनी प्रादुर्भावे (दिवादिः)]।

---

१. जैसे कि वर्तमान में विक्रम, ईसा, शक आदि कालों का प्रयोग होता है वैसे सौरकाल, चान्द्रकाल और सप्तर्षिकाल का प्रयोग व्यवहार में चाहिये।

२. काल का निर्माण करने वाले तथा उस की अभिव्यक्ति करने वाले तीन, सूर्य, चन्द्रमा, सप्तर्षिमण्डल।

सूक्त ८१

(१—३) । त्वष्टा । मन्त्रोक्तदेवताः; तथा दितिः । अनुष्टुभ ।

यन्ताऽसि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि ।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥१॥

[हे पति] (यन्ता असि) तू गृहस्थ का नियन्ता है, (हस्तौ) नियन्त्रण के लिये तू अपने दोनों हाथों का सहारा (यच्छसे) देता है, (रक्षांसि) राक्षसी प्रवृत्तियों को तू (अप सेधसि) गृहस्थ जीवन से अपगत करता है, पृथक् करता है । (प्रजाम्) सन्तान (धनम् च) और धन का (गृह्णानः) संग्रह करता हुआ (अयम्) यह पति (परिहस्तः) पत्नी के हाथ का ग्रहण करनेवाला, पाणिग्रहण करनेवाला (अभूत्) हुआ है ।

[मन्त्र में विवाहसम्बन्धी पाणिग्रहणविधि का संकेत, तथा पति के कर्तव्यों का वर्णन हुआ है । परिहस्तः = परिगृहीतहस्तः, जिस ने पत्नी के पाणि का ग्रहण किया है, पाणिग्रहण की विधि के अनुसार] ।

परिहस्त विधारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमागमयागमे ॥२॥

(परिहस्त) हे पत्नी के हस्त का ग्रहण करनेवाले पति ! (गर्भाय धातवे) गर्भाधान के लिये (योनिम् विधारय) योनि का विशेषरूप में तू धारण-पोषण कर । (मर्यादे) और हे मर्यादे ! (पुत्रमाधेहि) तू पुत्र का आधान कर, (तम्) उस पुत्र को (त्वम्) तू (आगमे) आगमनकाल में, प्रसवकाल में (आगमय) हमें प्राप्त करा ।

[गर्भाधान से पूर्व पत्नी की योनि परिपुष्ट होनी चाहिये । निर्बलावस्था में गर्भाधान होने पर सन्तान निर्बल पैदा होती, और गर्भपात की आशका होती है । गर्भाधान की मर्यादा से गर्भाधान होने पर पुत्रोत्पत्ति होती है । मर्यादा की तिथियों का निर्देश मनुस्मृति में हुआ है । आगमनकाल है १० मासों का काल । परिहस्त = परिगृहीतहस्त, मध्यपदलोपी समास] ।

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या ।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥३॥

(पुत्रकाम्या) पुत्र की कामना वाली (अदितिः) अक्षतयोनि पत्नी ने (यम् परिहस्तम्) जिस हस्तग्रहण करने वाले पति को (अबिभः) धारित किया है, स्वीकृत किया है, (तम्) उसे (त्वष्टा) जगत् के रचयिता ने (अस्यै) इस पत्नी के लिये (आ बध्नात्) गठजोड़े की विधि में बान्ध दिया है, (यथा) ताकि (पुत्रम्, जनात्, इति) यह पत्नी पुत्र को पैदा करे, इसलिये ।

[अदितिः=अ+दो अवखण्डने (दिवादिः)+क्तिन् । विवाह में पाणि-ग्रहण तथा पति-पत्नी में गठ-जोड़ किया जाता है]।

सूक्त ८२

(१—३) । भगः (जायाकामः) इन्द्रः । अनुष्टुभ् ।

आगच्छंत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः ।
इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥१॥

(आयतः) सब प्रकार से प्रयत्नशील, उद्यमी, अथवा संयमी [मैं हूं; विवाहार्थ] । (आगच्छतः) आ रहे, [अपितु] (आगतस्य) आ गए, (वृत्रघ्नः) विवाहमण्डप पर घेरा डालनेवाले विरोधियों का हनन करने वाले, (वासवस्य) प्रजा को वसानेवाले, (शतक्रतोः) प्रजासुखार्थ सैकड़ों यज्ञ करनेवाले (इन्द्रस्य) सम्राट् के (नाम) नाम को (गृह्णामि) मैं घोषित करता हूं, (वन्वे) और उस से याचना करता हूं [विवाह की सफलता के लिये]।

[आयतः=आ+यती प्रयत्ने (भ्वादिः)+अच्, अथवा आ+यम उप-रमे (भ्वादिः) क्तः । सम्राट् भी विवाह में उपस्थित है विघ्नकारियों के हनन के लिये । 'राज्ञः वन्वे' (पैप्प० शाखा) । वन्वे=वनु याचने, तना-दित्वात् 'उः' प्रत्ययः]।

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा ।
तेन मामब्रवीद् भगो जायामा वहतादिति ॥२॥

(येन पथा) जिस मार्ग अर्थात् विधि द्वारा (अश्विना) घुड़सवार माता-पिता ने [पुत्र के लिये] (सावित्रीम्) जीवित पिता की पुत्री (सूर्याम्) सूर्या-स्नातिका का (ऊहतुः) [पुत्र के घर] प्राप्त किया, (तेन)

उस मार्ग अर्थात् विधि द्वारा (भगः) ऐश्वर्यशाली इन्द्र (मन्त्र १) अर्थात् सम्राट् ने (माम्) मुझे (अब्रवीत्) कहा है कि (जायाम्) पत्नी का (आवहतात्) तू आवहन कर (इति) यह।

[सावित्री=जन्मदाता पिता की पुत्री, अर्थात् जीवित पिता की पुत्री। वेद ने जैसे अभ्रातिका भगिनी के विवाहसम्बन्ध को नियन्त्रित किया है [निरुक्त अ० २। पाद १। खण्ड १—६] वैसे जीवित-पितृका-पुत्री के विवाह को भी नियन्त्रित किया है (अथर्व० काण्ड १४, सूक्त १।२)। इस १४ वें काण्ड में विवाह की विधि भी निर्दिष्ट की है। जैसे आदित्य-स्नातक का विवाह सर्वोत्कृष्ट है वैसे सूर्या-स्नातिका का विवाह भी सर्वोत्कृष्ट है। आदित्य-स्नातक के विवाह के लिये सूर्या-स्नातिका सुयोग्या है। अश्विनौ =अश्व+इनिः (अत इनिठनौ, अष्टा० ५।२।११५), अर्थात् घुड़सवार माता-पिता, वर के]।

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः।
तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥३॥

(इन्द्र) हे सम्राट्! (यः) जो (ते) तेरा (वसुदानः) सम्पत्ति का विभाग कर, देने वाला, (हिरण्ययः) सुवर्णनिर्मित (बृहत् अङ्कुशः) बड़ा राजदण्ड है, (तेन) उस द्वारा (मह्यम् जनीयते) मुझ पत्नी चाहने वाले के लिये (शचीपते) हे कर्मों और प्रज्ञा के पति सम्राट्! (जायाम्) पत्नी (धेहि) प्रदान कर।

[अङ्कुश=हाथी को हांकने के लिये लोहनिर्मित दण्डा। ऐसे प्रजा के शासन के लिये राजा[1] का दण्डा। इस राजदण्डे को sceptre कहते हैं। यह राजा का दण्डा है अतः वेदानुसार सुवर्णनिर्मित होना चाहिये, लोहनिर्मित नहीं। वसुदानः=(यजुर्वेद अ० ३०। मन्त्र ४) में वसुविभक्ता को 'विभक्तारं हवामहे' द्वारा निर्दिष्ट किया है शची=कर्मनाम, प्रज्ञानाम (निघं० २।१; ३।९)। सूक्त में दर्शाया है कि वसुविभाग तथा विवाह, राजकीय नियमों द्वारा नियन्त्रित होने चाहियें]।

अनुवाक आठवां सम्पूर्ण

१. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः (मनु)।

अनुवाक ९

सूक्त ८३

(१—५)। अङ्गिराः। मन्त्रोक्तदेवताः । अनुष्टुभ्; ४ एकावसाना द्विपदा निचृदार्च्यनुष्टुभ् ।

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु ॥१॥

(अपचितः)[1] हे गले से आरम्भ करके नीचे की ओर सञ्चित हुई, फैली हुई गण्डमालाओं ! [सायण], (प्रपतत) शीघ्र उड़ जाओ, (इव) जैसे कि (सुपर्णः) पक्षी (वसतेः) अपने निवास-स्थान से शीघ्र उड़ जाता है। (सूर्यः) सूय [की रश्मियां] (भेषजम्) चिकित्सा (कृणोतु) करें, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (वः) तुम्हें (अप उच्छतु) स्थानच्युत करे।

[अपचितः = अपचयन की हुई गण्डमालाएं; अपचयन=बुरी तरह से चिनी गई या [अपाक्] नीचे की ओर चिनी गई गण्डमालाएं। ये गण्डमालाएं क्षय रोग की सूचिकाएं हैं। सूर्य की रश्मियां सप्तविध होती हैं, जो कि वर्षा ऋतु में इन्द्रधनुष् में दिखाई देती हैं। सूर्य की रश्मियों द्वारा 'रश्मिचिकित्सा' अभिप्रेत है। चन्द्रमा की रश्मियों द्वारा भी गण्डमाला की चिकित्सा सूचित की गई है। अपोच्छतु=अप उछी विवासे]।

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥२॥

(एनी) ईषद्रक्तमिश्रित श्वेतरक्तवाली [सायण] गण्डमाला (एका) एक प्रकार की होती है, (श्येनी) अत्यन्त शुभ्रवर्णवाली गण्डमाला (एका) एक प्रकार की होती है, (कृष्णा) काली गण्डमाला (एका) एक प्रकार की होती है, (रोहिणी) लाल गण्डमालाएं (द्वे) दो प्रकार की होती हैं। (सर्वासाम्) उन सब गण्डमालाओं के (नाम) नाम (अग्रभम्) मैंने कथित कर दिये हैं, (अवीरघ्नीः) हे अवीरों अर्थात् निर्बलों की हत्या करनेवाली गण्डमालाओ ! (अपेतन) तुम अपगत हो जाओ, हट जाओ।

१. अपपचितः="अप" चिञ् चयने, अथवा "अपाक्" चिञ् चयने ।

[गण्डमाला क्षय रोग है जो कि निर्बलों का हनन करती है। अतः पौष्टिक अन्न और औषधों के सेवन करने का विधान हुआ है]।

असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥३॥

(असूतिका) पूयस्राव न करती हुई (रामायणी) कृष्णा (अपचित्) गल-गण्डमाला (प्रपतिष्यति) शीघ्र उड़ जायगी, (ग्लौः) हर्षक्षय करनेवाली अर्थात् दुःखप्रदा गण्डमाला (इतः) इस रोगी से (प्रपतिष्यति) शीघ्र उड़ जायगी, (सः) वह रोग (गलुन्तः) गल कर, स्रवित होकर (नशिष्यति) नष्ट हो जायगा।

[असूतिका=पीप पैदा न करनेवाली गण्डमाला। रामायणी[1]=रामा अर्थात् काली गण्डमाला (मन्त्र २) (निरुक्त १२।२।१३), यथा 'रामोऽध-स्तात् कृष्णः'। गलुन्तः=गलन्तः, उकारः छान्दसः। गल स्रवणे (चुरादिः) +झच् (उणा० ३।१२६), झोऽन्तः (अष्टा० ७।१।३), अतः गलुन्तः या गलन्तः=गण्ड, जो कि स्रवित होता है, पीपवाला है। गलन्तः=गल्+अन्तः, यथा वसन्तः, भदन्तः, हेमन्तः आदि (उणा० ३।१२८-१३०]।

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥४॥

[हे अपचित्[2]-रोगी !] (मनसा) मन से (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक तू (स्वाम् आहुतिम्) अपने भोज्यान्न को आहुतिरूप में (वीहि) खाया कर, [और संकल्प कर कि] (यद् इदम्) जो यह भोज्यान्न (जुहोमि) मैं जाठ-राग्नि में आहुतिरूप में देता हूं उसे (मनसा) विचारपूर्वक (स्वाहा) और स्वाहोच्चारणपूर्वक देता हूं।

[मन्त्र २ में निर्दिष्ट किया है कि अपचित्-रोग निर्बलों का हनन करता है, यतः यह क्षय का ही रूप है, तदर्थ पौष्टिक अन्न का सेवन करना चाहिये। मन्त्र ४ में अतः निर्देश किया है कि भोज्यान्न को आहुतिरूप में जाठराग्नि में आहुत करना चाहिये, और दृढ़संकल्पपूर्वक भोज्यान्न का

१. रामायणी=रामः कृष्णवर्णः, तस्य अयनम्, प्राप्तिः यस्यां गण्डमालायाम्, सा।

२. अथर्व० ६।२५।१-३ में "अपचितामिव" द्वारा अपचितों और गण्डमालाओं में उपासनोपमेय भाव दर्शाने से इन दोनों में अर्थ भेद ज्ञात होता है।

चुनाव करना चाहिये। अपचित् है 'गले के scrofulous glands का सूजन'। गण्डमाला के लिये देखो (अथर्व० ६।२५।१-३)]।

सूक्त ८४

(१—४)। अङ्गिराः। निर्ऋतिः। १ भुरिग् जगती; २ त्रिपदार्ची बृहती; ३ जगती; ४ भुरिक् त्रिष्टुभ्।

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम्।
भूमिरिति त्वाभि प्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः॥१

(एषाम् बद्धानाम्) इन बद्ध शिष्यों के (अवसर्जनाय) बन्ध से छुटकारे के लिये (कम् अभि) और मोक्षसुख की प्राप्ति को लक्ष्य कर, (यस्याः ते) जिस तुझ के (आसनि) मुख में (जुहोमि) मैं आहुतियां देता हूं, (त्वा) उस तुझ को (जनाः) सर्वसाधारण जन (भूमिः इति प्रमन्वते) भूमि मानते हैं, (अहम्) मैं (त्वा) तुझे (सर्वतः) सब ओर विद्यमान (निर्ऋतिः इति) कष्टापत्तिरूप (परिवेद) ठीक प्रकार से जानता हूं।

[कृच्छ्रापत्ति अर्थात् कष्टापत्ति एक उपाय है, जो कि व्यक्ति को संसार से विरक्त कर परमेश्वर की ओर प्रेरित करता है। इस निमित्त शिष्य सद्गुरु का आश्रय लेता है, और परमेश्वरनिमित्त यज्ञविधि द्वारा सद्गुरु उसे शरणागत कर लेता है। वर्णन कविताशैली में मन्त्र में हुआ है। आहुतियां तो यज्ञाग्नि के मुख में ही देनी हैं।[1] कम्=यथा 'कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत' (निरुक्त २।४।१४)। भूमिरिति=प्रकृतिवादी यह मानते हैं कि हम भूमि से ही पैदा हुए, भूमि से ही पलते, भूमि में ही रहते, अतः भूमि ही 'निर्ऋति' है। 'निर्ऋति' वस्तुतः कृच्छ्रापत्ति है, कष्टापत्ति है, जो कि व्यक्ति और जनता अर्थात् जनसमुदाय के दुष्कर्मों का परिणाम है, फलरूप है]।

भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु।
मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥२॥

(भूते) हे भूतकालसम्बन्धिनी कृच्छ्रापत्ति ! (हविष्मती) हमारी हवि

---

१. मोक्षाभिलाषी शिष्यों के सद्गुरु का कथन सूक्त ८४ में है।

को ग्रहण करनेवालो (भव) तू हो जा, (एषः) यह हवि (ते भागः) तेरा भाग है [तेरा आंशिक स्वरूप है, तू ही तद्रूप है] जो कि (अस्मासु) हम में है। (इमान्) इन्हें अर्थात् शिष्यों को (अमून्) तथा उन्हें [जो कि इन से अतिरिक्त है] (एनसः) पाप से (मुञ्च) मुक्त कर दे, (स्वाहा) तदर्थ हम परमेश्वरार्पित आहुतियां प्रदान करते हैं।

[कृच्छ्रापत्ति को कवित्वशैली में सम्बोधित करके सद्गुरु कहता है कि 'इस में कृच्छ्रापत्ति विद्यमान है, वह तू ही आंशिकरूप में विद्यमान है। तू तो सर्वत्र व्याप्त प्राणियों में विद्यमान है। तेरे नाम पर हमने हवि प्रदान की है, उसे तू स्वीकार कर। और मेरे इन शिष्यों और उन भावी शिष्यों को पापकर्म करने से मुक्त कर, छुड़ा।' जैसे-जैसे यज्ञिय कर्म किये जाते हैं वैसे-वैसे पापकर्मों का क्षय होते जाना स्वाभाविक ही है]।

एवो ष्वं१स्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान् विचृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥२॥

(निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ति ! (अनेहा) पाप से छुड़ानेवाली (त्वम्) तू (एव उ) ही (सु) सुष्ठु प्रकार से (अस्मत्) हम से (अयस्मयान्) लोहे सदृश सुदृढ़ (बन्धपाशान्) बान्धने वाले फन्दों को (विचृत) खोल दे, या काट दे। (यमः) नियन्ता परमेश्वर (पुनः इत्) पुनः (त्वाम्) तुझ को (मह्यम्) मुझे (ददाति) देता है (तस्मै) उस (यमाय मृत्यवे) मृत्यु नामक नियन्ता के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो।

[कृच्छ्रापत्ति पापों से छुड़ाती है एतदर्थ देखो मन्त्र (१) की व्याख्या। अनेहा यथा अनेहसम्=अपापाम् (सायण अथर्व० ७।७।१)। पाशान्=ये फन्दे त्रिविध हैं, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। इन फन्दों में जीवात्मा बन्धा हुआ है। यम और मृत्यु परमेश्वर के नाम हैं। यथा 'स महायमः, स एव मृत्युः' (अथर्व० काण्ड १३। अनुवाक ४। पर्याय १। मन्त्र ५); तथा (अथर्व० काण्ड १३।४।३। मन्त्र ४ [२५])। ददाति=तुझे फन्दों से छुड़ा कर पुनः मुझ गुरु को देता है]।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥

[हे निर्ऋ ति !] (अयस्मये) लोहसदृश सुदृढ़ (द्रुपदे) काष्ठनिर्मित पादबन्धन में (वेधिष) तू जब विद्ध कर देती है, तब (ये सहस्रम्) जो सहस्रविध मृत्युएं हैं उन (मृत्युभिः) मृत्युओं के द्वारा (इह) इस भूलोक में (अभिहितः) जीवात्मा बद्ध हो जाता है। हे मुमुक्षु ! (त्वम्) तू जब (यमेन) नियन्ता परमेश्वर और (पितृभिः) माता-पिता-आचार्यरूपी रक्षकों के साथ (संविदानः) ऐक्यमत का प्राप्त हाता है तब हे निर्ऋ ति ! तू (इमम्) इस (मुमुक्षु) को (उत्तमं नाकम्) सर्वोत्तम नाक पर (अधिरोहय) चढ़।

[जीवात्मा निर्ऋ ति के कारण विद्ध हो जाता है और नित्य होने के कारण अनादिकाल से हजारों योनियों में जन्म पा कर, सहस्रविध कृच्छ्रापत्तियों को भोगता, और अपने को वन्धा हुआ अनुभव कर मुमुक्षु हो जाता है और नियन्ता परमेश्वर और पितरों द्वारा प्रदत्त मति के साथ ऐक्यमत को प्राप्त हो जाता है, तदनुकूल अपनी मति बना लेता है; तब निर्ऋ ति इस मुमुक्षु को नाक अर्थात् माक्ष पद पर अधिरूढ करती है। नाकम्=न+अ+कम् (सुखम्)। मोक्ष में न तो सांसारिक सुख होता है न किसी प्रकार सुखाभाव ही। अपितु मोक्ष में इन दोनों से भिन्न आनन्दानुभूति होती है। मोक्ष में जोवात्मा का संग परमेश्वर के साथ रहता है और वह परमेश्वरीय आनन्दमात्रा में लीन रहता है। परमेश्वर और पितरों को शिक्षानुसार तदनुरूप मति वाला हुआ भो मुमुक्षु जब तक सांसारिक सुख-दुःखों से विरक्त नहीं होता तब तक वह 'नाक' को प्राप्त नहीं होता। इसलिये 'नाक' पर अधिरोहण में अन्तिम कारण निर्ऋ ति कहा है। मन्त्र में अपेक्ष्य निर्ऋ ति पद स्त्रीलिङ्ग में है और 'संविदानः' पद पुंलिङ्ग में है। अतः मन्त्र में दो का वर्णन हुआ है एक का नहीं]।

सूक्त ८५

(१—३) अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)। वनस्पतिः। अनुष्टप्।

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥१॥

(अयम्) यह (देवः) दिव्यगुणों वाला (वरणः) वरण नाम वाला, या यक्ष्म का निवारण करनेवाला (वनस्पतिः) वनस्पति (वारयातै) यक्ष्म को

निवारित करे। (यः) जो (यक्ष्मः) यक्ष्म अर्थात् क्षय रोग (अस्मिन्) इस क्षय रोगी में (आविष्टः) प्रविष्ट है (तम्) उसे (उ) निश्चय से (देवाः) दिव्यगुणी वैद्यों ने (अवीवरन्) निवारित किया है।

इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च ।
देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥२॥

(इन्द्रस्य) विद्युत्-सम्बन्धी, (मित्रस्य) सूर्यसम्बन्धी, (च) और (वरुणस्य) जलसम्बन्धी, (वचसा) वेदवाणी द्वारा (वयम्) हम [वैद्य] तथा (सर्वेषाम् देवानाम्) सब देवों सम्बन्धी (वाचा) वेदवाणी द्वारा (ते यक्ष्मम्) तेरे यक्ष्म को (वारयामहे) निवारित करते हैं।

[अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वेदवाणी में प्रोक्त नाना दिव्य तत्त्वों विद्युत् आदि द्वारा यक्ष्म का निवारण सम्भव है। यह तत्तत् वेदवाणी में अनुसंधेय है। जैसे कि मन्त्र ३ में भी वरुणसम्बन्धी जल को तथा वैश्वानर अग्नि को यक्ष्मनिवारक कहा है]।

यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः ।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥३॥

(यथा) जैसे (वृत्रः) आवरण करनेवाले मेघ ने (विश्वधा) सब के धारण-पोषक (यतीः) तथा सर्वत्र गतिशील (इमाः आपः [अपः]) इन जलों को (तस्तम्भ) रोका है, (एव) इसी प्रकार (ते यक्ष्मम्) तेरे यक्ष्म को (वैश्वानरेण अग्निना) वैश्वानर अग्नि द्वारा (वारये) मैं निवारित करता हूं।

[वृत्रः = 'मेघ इति नैरुक्ताः' (२।५।१६)। विश्वधा = विश्व + डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः)। यतीः[1] = इण् गतौ + शतृ (स्त्रियाम्)[2]। वैश्वानर अग्नियां तीन हैं, पार्थिव अर्थात् यज्ञियाग्नि, वैद्युत तथा आदित्य। यथा 'यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते' (निरुक्त ७।२।३१)। मन्त्र २ में 'सर्वेषां देवानाम्' के उदाहरणरूप में मन्त्र ३ में 'वैश्वानर अग्नि' पठित हैं]।

१. यण् "इणो यण्" (अष्टा० ६।४।८१)।
२. ऋन्नेभ्यो ङीप् (अष्टा० ४।१।५)।

सूक्त ८६

१-३ । अथर्वा (वृषकामः) । एकवृषः । अनुष्टुभ् ।

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम् ।
वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥१॥

(अयम्) यह परमेश्वर (इन्द्रस्य) विद्युत् का (वृषा) मुखिया है, (दिवः) द्युलोक का (वृषा) मुखिया है, (पृथिव्याः) पृथिवी का (वृषा) मुखिया है। (विश्वस्य) समग्र (भूतस्य) भूत भौतिक जगत् का (वृषा) मुखिया है, (त्वम्) हे राजन् ! तू (एकवृषः), अकेला सब का मुखिया (भव) हो।

[वृषा का अभिप्रेत अर्थ है वीर्यवान्, अर्थात् शक्तिशाली; अतः एव मुखिया। इस अभिप्राय में मन्त्र २ में "ईशे" का प्रयोग हुआ है। अथवा "वृषा" का अर्थ है वर्षा करने वाला शक्ति का प्रदाता]।

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी ।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥२॥

(समुद्रः) समुद्र (ईशे=ईष्टे) अधीश्वर है (स्रवताम्) प्रवाहो नदियों का, (अग्निः) अग्नि (पृथिव्याः) पृथिवी का (वशी) वशयिता अर्थात् स्वामी है, (चन्द्रमाः) चान्द (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों का (इशे=ईष्टे) अधीश्वर है, (त्वम्) तू हे राजन् ! (एकवृषः भव) अकेला सब का मुखिया हो। [ईशे="लोपस्त आत्मनेपदेषु" (अष्टा० ७।१।४१) द्वारा "त" का लोप]।

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् ।
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥३॥

(असुराणाम्) असुरों का (सम्राट् असि) सम्राट् तू है, (मनुष्याणाम्) मनुष्यों में (ककुद्) सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ है। (देवानाम्) देवों का (अर्धभाग् असि) अर्धभागी है, (त्वम्, एकवृषो भव) पूर्ववत्।

[सम्राट् असुरों का भी सम्राट् है और मनुष्यों का भी। असुरों, मनुष्यों के संयुक्त साम्राज्य का वह सम्राट् है। बृहदारण्योपनिषद् के अनुसार प्रजापति के तीन पुत्र हैं देव, मनुष्य और असुर। और तीनों ही मिल कर प्रजापति के आश्रम में ब्रह्मचारी रहे और विद्याध्ययन करते रहे

(अध्याय ५। ब्राह्मण २) । अतः इन तीनों का संयुक्त साम्राज्य भी सम्भव है और एक सम्राट् भी। अतः देव, असुर और मनुष्य गुणकर्मकृत् हैं, जातिपरक नहीं। देवानाम्, अर्धभाग् = इन के नाना अर्थ हैं। (१) देव-कोटि[1] के ऋषि-मुनियों के आसन में एकासन के अर्धभाग का अधिकारी। (२) 'देवानाम्' के दो अभिप्राय हैं, विजिगीषु सैनिक, तथा व्यवहारी अर्थात् व्यापारी। 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार' आदि (दिवादिः)।

विजिगीषु सेना को देवसेना अथवा देवानां सेना कहा भी है। यथा 'देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्' (यजु० १७।४०)। ये देवसेनाएं शत्रुसेनाओं को परास्त कर जब उन्हें 'नैर्हस्तम्' (अथर्व० ६।६५।२,३) कर दें, तो युद्धस्थल में शत्रुसेनाओं को जो सम्पत्ति उपलब्ध हो, उस को आधी सम्पत्ति सम्राट् की, और शेष आधी सैनिकों की हो। इसी प्रकार व्यापारियों को व्यापार में जो लाभ हो उस का आधा-आधा सम्राट् और व्यापारियों का हो। यह आधा हिस्सा 'राजकर' अर्थात् टैक्स रूप में है। व्यापारियों के लाभ को 'उत्थितम्' कहा है, और मूलधन को 'चरितम्'[2] (अथर्व० ३।१५।४)]।

सूक्त ८७

(१-३)। अथर्वा। ध्रौव्यम्। अनुष्टुभ्।

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥१॥

(त्वा) तुझे (आहार्षम्) मैं लाया हूं, (अन्तः अभूः) तू राष्ट्र के अन्दर का निवासी हुआ है। [राष्ट्र का अपना प्रजाजन हुआ है], (ध्रुवः तिष्ठ) तू स्थिर रूप में [राजासन पर] स्थित हो, (अविचाचलत्) बिना विचलित हुए। (सर्वाः विशः) सब प्रजाएं (त्वा) तुझे (वाञ्छन्तु) चाहें,

---

१. यथा "देवाः = साध्याऽऋषयश्च" (यजु० ३१।९)। साध्याः = योगसाधना-सम्पन्नाः। ऋषयः = मन्त्रद्रष्टारः, या मन्त्रार्थद्रष्टारः।

२. चरित है मूलधन, जिसे कि व्यापार में लगाया है, और उस द्वारा प्राप्त लाभ है "उत्थित"। इस लाभ का आधा "कर" रूप है।

(राष्ट्रम्) राष्ट्र (त्वत् अधि) तुझ से (मा) न (भ्रशत्) अधःपतित हो, पतनोन्मुख न हो, अथवा छीना न जाय ।

[वेदानुसार वंशपरम्परागत व्यक्ति राजा नहीं होता । किसी योग्य व्यक्ति का नाम प्रस्तावित होना चाहिये । मन्त्र प्रस्तावक के मुख से कहलाया है । भ्रशत्=भ्रंशु अधःपतने]।

इहैवैधि माऽपं च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत् ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥२॥

(इह) इस राज्यासन पर (एव) ही (एधि) हो, (मा अप च्योष्ठाः) अपच्युत न हो, (पर्वतः इव) पर्वत के सदृश (अविचाचलत्) विना विचलित हुए । (इन्द्रः इव) सम्राट् के सदृश (इह) इस राज्यासन पर (ध्रुवः तिष्ठ) स्थिररूप में स्थित रह, (इह) इस राज्यासन पर स्थित हुआ (राष्ट्रम्) राष्ट्र का (धारय) धारण-पोषण कर ।

[इन्द्र है सम्राट्, साम्राज्य का अधिपति । मन्त्र में एक राष्ट्र के राजा का वर्णन हुआ है। यथा 'इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा' (यजु० ८।३७)]।

इन्द्रं एतमंदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधिब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥३॥

(इन्द्रः) सम्राट् ने (ध्रुवेन हविषा) स्थिर 'राष्ट्रकर' द्वारा (एतम्) इस राष्ट्र के राजा को (ध्रुवम्) स्थिर रूप में (अदीधरत्) धारित किया है । (तस्मै) उस राजा के लिये (सोमः) राष्ट्र का सेनानायक (च) और (ब्रह्मणस्पतिः) वेदों का विद्वान् (अधि) स्वाधिकार से (ब्रवत्) परामर्श कहा करें, दिया करें ।

[राष्ट्राधिपति साम्राज्य का अंग है। अतः सम्राट् उस के स्थिर 'राज्यकर' का प्रबन्ध करता है । तथा राष्ट्र का सेनानायक (यजु० १७। ४०), और ब्रह्मणस्पति दोनों सम्राट् द्वारा अधिकृत हुए, स्वाधिकार से राजा को परामर्श देते हैं] ।

सूक्त ८८

(१-३) । अथर्वा । ध्रुवः । अनुष्टुभ्; ३ त्रिष्टुभ् ।

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥१॥

(ध्रुवा) ध्रुव है (द्यौः) द्युलोक, (ध्रुवा) ध्रुव है (पृथिवी) पृथिवी लोक, (ध्रुवम्) ध्रुव है (इदम् विश्वम्) यह विश्व (जगत्) जो कि गतिमान् है। (ध्रुवासः) ध्रुव हैं (इमे पर्वताः) ये पर्वत, (ध्रुवः) ध्रुव है (अयम्) यह (विशाम् राजा) प्रजाओं का राजा।

[ध्रुव का अभिप्राय गतिरहित नहीं, अपितु स्व-स्वकार्यों में स्थिरता है। विश्व को जगत् अर्थात् गतिमान् कहा है, जगत् =गम् गतौ। राजा भी स्वकार्य में ध्रुव है, परन्तु चलता फिरता है निश्चल नहीं, गतिमान् है]।

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥२॥

[हे प्रजाजन !] (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (वरुणः राजा) राष्ट्राधिपति राजा (ध्रुवम्) स्थिर करे, (देवः) दिव्यगुणी (बृहस्पतिः) साम्राज्य की बड़ी सेना का अधिपति (ध्रुवम्) स्थिर करे। (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (इन्द्रः) सम्राट् (ध्रुवम्) स्थिर रूप में (च) और (अग्निः) साम्राज्य प्रधानमन्त्री, - ये दोनों (धारयताम्) धारित करें।

[साम्राज्य के प्रत्येक राष्ट्र का धारण-पोषण राष्ट्रपति वरुणनामक राजा, तथा साम्राज्य के अधिकारी मिल कर करें। 'इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा' (यजु० ८।३७)। बृहस्पतिः (यजु० १७।४०)। अग्निः= अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)]।

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥३॥

हे सम्राट् ! (ध्रुवः) तू स्थिररूप और (अच्युतः) च्युतिरहित हुआ (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणीहि) मार, (शत्रूयतः) और शत्रुता चाहनेवालों को (अधरान् पादयस्व) अपने नीचे कर। (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं के वासी प्रजाएं (संमनसः) एक मनवाली, (सध्रीचीः) तथा तेरे साथ मिल

कर चलनेवाली हों, (ध्रुवाय ते) स्थिररूप में विद्यमान तेरे लिये (इह) इस साम्राज्य में (समितिः) राष्ट्रों के राजाओं की सभा अर्थात् राजसभा (कल्पताम्)[1] सामर्थ्यसम्पन्न हो।

[सध्रीचीः= सह अञ्चन्त्यः, गतिमत्यः। समितिः='यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः' (यजु० १२।८०)]।

सूक्त ८९

(१-३)। अथर्वा। मन्त्रोक्तदेवताः। अनुष्टुभ्।

इदं यत् प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥१॥

(इदम्) यह (प्रेण्यः) प्रणय[2] वाली पत्नी का (शिरः) शिरस्थ-प्रणय, (यत्) जो कि (वृष्ण्यम्) सुखवर्षी है, जो कि (सोमेन) जगदुत्पादक परमेश्वर नें (दत्तम्) दिया है, (ततः परिप्रजातेन) उस से उत्पन्न हुए प्रणय के कारण (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदयवर्ती चित्त को (शोचयामसि) हम शोकयुक्त करते हैं।

[मन्त्र में कारणवश कुपित-पत्नी के प्रति कथन हुआ है। उसे कहा है कि परमेश्वर द्वारा प्रदत्त प्रणय, जिसका स्थान सिर है, वह पति-पत्नी के प्रति सुखवर्षी रूप है; सिर से प्रकट हुए प्रणय द्वारा तेरे चित्त को हम गृहस्थवासी शोकयुक्त या सन्तप्त करते हैं, तुझे समझा कर तुझे प्रकोप करने के कारण प्रायश्चित्तरूप में दुःखित करते हैं, ताकि इस प्रकोप का तू परित्याग कर दे। शिरः=लक्षणया शिरःस्थ प्रणय। यथा 'मञ्चाः क्रोशन्ति=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति'। सोमेन=षु प्रसवे। हार्दिम्= हृदयवर्ती चित्त। यथा 'हृदये चित् संवित्' (योग० ३।३४)। सायणाचार्य के अनुसार सम्बोधन 'हे जायापत्योरन्यतर' द्वारा मन्त्र १ में भी जाया और पति में से अन्यतर का है, मन्त्र २ की व्याख्यानुसार। परन्तु मन्त्र तीन की व्याख्या में सायणानुसार सम्बोधन जायापरक है, यथा—'हे जाये']।

---

१. कृपू सामर्थ्ये (भ्वादिः)।

२. प्रेण्यः=प्रेमप्रापकस्य यत् इदं शिरः (सायण)। तथा प्रेणा=प्रेम्णा (उद्गीथ तथा वेङ्कटमाधव; ऋ० १०।७१।१)।

शोचयामसि ते हार्दं शोचयामसि ते मनः।
वातं धूम इव सध्र्य१ङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥२॥

[हे पत्नी !] (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदयगत चित्त को (शोचयामसि) हम शोकयुक्त करते हैं, (ते) तेरे (मनः) संकल्पविकल्पात्मक मन को (शोचयामसि) हम शोकयुक्त करते हैं। (धूमः) धुआं (इव) जैसे (वायुम्) वायु के (सध्र्यङ्) साथ गति करता है वैसे (ते) तेरा (मनः) मन (माम् एव) मेरा हो (अनु एतु) अनुगमन करे।

[सध्र्यङ्='सह' को 'सध्रि' आदेश 'सहस्य सध्रिः' (अष्टा० ६।३। ९५)+अञ्चु गतौ (भ्वादिः)]।

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥३॥

(मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (त्वा) तुझे (मह्यम्) मुझ पति के लिये; तथा (मह्यम्) मुझ पति के लिये (देवी सरस्वती) दिव्य ज्ञान सम्पन्ना वेदवाणी (समस्यताम्) परस्पर सम्बद्ध करें। (मह्यम्) मुझ पति के लिये (भूम्याः मध्यम्) भूमि का मध्यभाग (उभौ अन्तौ) जैसे दोनों अन्त के भागों को (समस्यताम्) सम्बद्ध करता है, वैसे हम दोनों को परस्पर सम्बद्ध करे।

[भूमि का मध्यभाग अर्थात् भूमध्यरेखा [Equator] जैसे भूमि के प्रान्तभागों अर्थात् उत्तरध्रुवीय तथा दक्षिणध्रुवीय भागों को परस्पर सम्बद्ध करता है, वैसे मेरे मित्र तथा स्नेही मुख्यमन्त्री तथा वरुणनामक राजा निज विवाह-सम्बन्धी नियमों द्वारा हम दोनों को परस्पर सम्बद्ध करे। तथा ज्ञानसम्पन्न वेदवाणी भी ज्ञान प्रदान कर हम दोनों को परस्पर सम्बद्ध करे]।

सूक्त ९०

(१-३)। अथर्वा। रुद्रः। १, २ अनुष्टुभ्; ३, आर्षी भुरिग् उष्णिक्।

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च।
इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥१॥

[हे वाण विद्ध !] (ते) तेरे (अङ्गेभ्यः) अङ्गों के लिये, (च) और

(हृदयाय) हृदय के लिये, (रुद्रः) रुद्र ने (याम्, इषुम्) जिस वाण को (आस्यत्) फेंका है, (ताम्) उसे (इदम्) यह (अद्य) आज या इस समय (त्वत्) तुझ से (विषूचीम्) विमुख करके (वयम् विवृहामसि) हम निकाल देते हैं।

[रुद्र है परमेश्वर जोकि कर्मानुसार रुलाता है, "रोदयतेर्वा" (निरुक्त १०।१।६) तथा (यजु० अध्याय १६)। रोगादि रुद्र के इषु अर्थात् वाण हैं]।

यास्ते॑ श॒तं ध॒मन॒योऽङ्गा॒न्यनु॒ विष्ठि॑ताः ।
तासां॑ ते॒ सर्वा॑सां व॒यं निर्वि॒षाणि॑ ह्वयामसि ॥२॥

(ते) तेरी (याः) जो (शतम्) सौ (धमनयः) रक्त नाड़ियां (अङ्गानि) अङ्गों (अनु) में (विष्ठिताः) विविध स्थानों में स्थित हैं, (ते) तेरी (तासाम्, सर्वासाम्) उन सब नाड़ियों के (विषाणि) विषों को (वयम्) हम (निर् ह्वयामसि) बाहर कर देते हैं।

[रोग अङ्गों में विष फैला देते हैं। धमनियां हैं, लाल रक्त-की-नाड़ियां, जिन में स्पन्दन होता रहता है]।

नम॑स्ते रुद्रास्य॑ते॒ नम॑ः प्रति॑हितायै ।
नमो॑ विसृ॒ज्यमा॑नायै॒ नमो॒ निप॑तितायै ॥३॥

(रुद्र) हे रुलाने वाले परमेश्वर ! (अस्यते) रोगरूपी इषु फेंकते हुए (ते) तुझे (नमः) नमस्कार हो, (प्रतिहितायै) धनुष पर स्थापित इषु के लिये (नमः)नमः हो। (विसृज्यमानायै) छोड़ जाते हुए इषु के लिये (नमः) नमः हो, (विपतितायै) लक्ष्य पर गिरे इषु के लिये (नमः) नमः हो।

[मन्त्र के प्रथम पाद में नमः द्वारा रुद्र-परमेश्वर को नमः अर्थात् नमस्कार किया है, शेष तीन पादों में इषुरूप-रोगों के प्रति नमः कहा है। इन तीन पादों में रोग की तीन अवस्थाएं निर्दिष्ट की हैं, रोग का पूर्वरूप, मध्यरूप, तथा रोग का आविर्भाव। इन तीन अवस्थाओं में रोग के अपाकरण के उपाय का वर्णन "नमः" द्वारा किया है। इन अवस्थाओं में "नमः" का अर्थ है "यथोचित अन्न"। नमः अन्ननाम(निघं० २।७)। अन्न-दोष से रोगोत्पन्न होते हैं। अतः अन्न पर नियन्त्रण का कथन तीन पादों में हुआ है। रोगों को नमस्कार करने से रोगों का शमन नहीं होता। इस लिये सूक्त ९१ में नाना औषधों के योगों का वर्णन भी हुआ है]।

सूक्त ९१

(१-३) । भृग्वङ्गिराः । मन्त्रोक्तदेवताः । अनुष्टुभ् ।

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः ।
तेना ते तन्वो३ रपोऽपाचीनमप व्यये ॥१॥

(इमम्) इस (यवम्) जौ को, (अष्टायोगैः) अष्टवर्ग के योगों के साथ (षड्योगेभिः) तथा षड्-औषधों के योगों के साथ (अचर्कृषुः) कृषि द्वारा पैदा किया है। (तेन) इस दोनों योगों से युक्त यव द्वारा, हे रुग्ण ! हे रोगिन् ! (ते तन्वः) तेरे शरीर के (रपः) पाप तथा तज्जन्य रोग को (अपाचीनम्) हटने वाला करके (अपव्यये) मैं पृथक् कर देता हूं।

[मन्त्र में "यव" द्वारा भोज्यान्न का उत्पादन, तथा "योगैः" पदों द्वारा अष्टाङ्गवर्ग का, तथा अत्यावश्यक षडङ्ग-वर्ग की औषधों का उत्पादन, कृषि द्वारा कहा है। यव और व्रीहि दोनों भोज्यान्न होते हुए, औषधरूप भी हैं। यथा "शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ । एतौ यक्ष्मं विबाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः" (अथर्व० ८।२।१८)। मन्त्र में व्रीहि और यव शिवौ, अवलासौ, मधुर, यक्ष्मनाशक, यक्ष्मोत्पादक पाप से मुक्त करने वाले कहा है। अवलासौ = अबल (बलाभाव) + असौ (असु क्षेपणे, द्विवचन)]।

तथा

अध्यात्मदृष्टि से क्षेत्र है शरीर। यथा "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" (गीता १३।१)। इस क्षेत्र में भी कृषि कर्म हो रहा है, कर्मबीज बोए जाते हैं। प्राणायाम तथा श्वास-प्रश्वास मानो हल जोते जा रहे हैं। यमनियमादि ८ योगाङ्ग बैल हैं, तथा ५ ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन ये षट् भी बैल हैं। इसी लिये इन छः के विषयों को गोचर कहते हैं जिन में कि गौएं विचरती हैं। गौ = बैल। भोजन तो योगी को भी चाहिये, जिस का कथन "यव" शब्द द्वारा हुआ है। "यव" सात्विक और पौष्टिक तथा पापहारी अन्न जो कि तनू के अंहस् का नाशक है। अंहस् को मन्त्र में "रपः" कहा है। "रपः रिप्रमिति पापनामनी" (निरुक्त ४।३।२१)। इस प्रकार सात्त्विक भोजन, प्राणायाम तथा शुद्ध वायु में श्वास-प्रवास तनू के शोधक हैं]।

न्य॑ग्वातो॑ वाति॒ न्य॑क् तपति॒ सूर्यः॑ ।
नी॒चीन॑म॒घ्न्या दु॑हे॒ न्यग्भ॑वतु ते॒ रपः॑ ॥२॥

(न्यक्) नीचे को (वातः) झञ्झा वायु (वाति) बहती है, (न्यक्) नीचे की ओर (सूर्य) सूर्य (तपति) तपता है। (अघ्न्या) गौ (नीचीनम्) नीचे की ओर झुक कर (दुहे) दुही जाती है, (ते) तेरा (रपः) पाप भी (न्यक् भवतु) नीचे को ओर से पृथक् हो जाए।

[मन्त्र में मनोबल द्वारा पापी के पाप को शान्त किया है। शरीर के उपरि भाग के पापों समेत नीचे की इन्द्रिय के पापों को पृथक् करने का निर्देश हुआ है]।

आप॒ इद्वा उ॑ भेष॒जीरापो॑ अमीव॒चात॑नीः ।
आपो॒ विश्व॑स्य भेष॒जीस्तास्ते॑ कृण्वन्तु भेष॒जम् ॥३॥

(आपः) जल (इद् वै उ) ही निश्चय से (भेषजीः) चिकित्सक हैं, औषध हैं, (आपः) जल (अमीवचातनीः) रोग और रोगजनक "अमीवा" नामक रोग कीटाणु के विनाशक हैं। (आपः) जल (विश्वस्य) सब रोग समूह के (भेषजीः) चिकित्सक हैं, औषध हैं, (ताः) वे जल (ते) तेरी (भेषजम्) चिकित्सा या औषध (कृण्वन्तु) करें।

[मन्त्र में "जलचिकित्सा" का वर्णन है। तथा देखो (अथर्व० १।४।४; १।५।१-४; १।६।१-४ आदि)। तथा आपः=शरीरगत रक्त। यथा—

"को अस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरुवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥"
(अथर्व० १०।२।११)

सिन्धु=हृदय। तीव्राः=स्वाद में। अरुणाः=ईषद् रक्त। लोहिणीः=अधिक लाल तथा लोहे वाली। ताम्रधूम्राः=ताम्बे के धूंए जैसे नीलवर्ण, अर्थात् सिराओं के कृष्णरक्त, पुरुष शरीर में ऊर्ध्व, नीचे की ओर तथा आड़े फैले हुए।

जैसे-जैसे खान-पान सात्त्विक होता जाता, और प्राणायाम तथा श्वास प्रश्वास में शुद्ध वायु का सेवन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे रक्त रूपी "आपः" में रोगों के निरोध तथा शमन करने की शक्ति बढ़ती जाती है, यह दर्शाने के लिये "रक्तरूपी" आपः का यहां कथन किया है]।

सूक्त ९२

(१-३) । अथर्वा । वाजी । त्रिष्टुभ्; १ जगती ।

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥१॥

(वाजिन्) हे वेग वाले अश्व ! (वातरंहाः) झंझा वायु के वेग वाला (भव) तू हो जा, (युज्यमानः) जुता जाता हुआ [तय्यार किया जाता हुआ] तू (इन्द्रस्य) सम्राट् की (प्रसवे) प्रेरणा पर (मनोजवाः) मनोवेगी हुआ (याहि) युद्धभूमि में जा। (विश्ववेदसः) समग्र युद्ध विद्या के जानने वाले (मरुतः) मारने में कुशल सैनिक (त्वा युञ्जन्तु) तुझे युक्त करें [संनाह साज द्वारा तय्यार करें], (त्वष्टा) कारीगर-परमेश्वर (ते) तेरे (पत्सु) पैरों में (जवम्) वेग (आ दधातु) स्थापित करे।

[इन्द्रश्च सम्राट् (यजु० ८ ३७)। मरुतः=मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः (उणा० १।९४; दयानन्द), तथा "मरुतो यन्त्वग्रम्" (यजु० १७।४०)। मन्त्र में "वाजिन्" पद जात्येकवचन में है। युद्ध भूमि में तो वाजी पर्याप्त संख्या में चाहियें, एक अश्व विजय कैसे दे सकता है (मन्त्र २) "समने पारयिष्णुः"]।

जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः ।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥२॥

(अर्वन्) हे अश्व ! (ते) तेरी (गुहा) हृदय गुहा में (यः जवः, निहितः) जो वेग स्थापित हुआ है, (उत) तथा (यः) जो (परीत्तः) परमेश्वर द्वारा दिया गया (श्येने) श्येन पक्षी में, (वाते) और झंझा वायु में (अचरत्) विचरता है, (वाजिन्) हे वेग वाले अश्व ! (तेन) उस (बलेन) बल द्वारा (बलवान् त्वम्) बलशाली हुआ तू (आजिम् जय) संग्राम को जीत, (समने) और संग्राम में (पारयिष्णुः) पार करने वाला हो।

[परीत्तः[1]=परि+दा+क्त; "अच उपसर्गात्तः" (अष्टा० ७।४।४७) द्वारा तादेश। समनम् संग्रामनाम (निघं० २।१७)]।

---

१. परीत्तः=परी=परि+त्=दा+क्तः; परिदत्तः ।

तनूष्टे वाजिन् तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम् ।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥३॥

(वाजिन्) हे वेग वाले अश्व ! (ते तनूः) तेरी तनू (तन्वम्) अश्वारोही की (तन्वम्) तनू को (नयन्ती) युद्धभूमि में ले जाती हुई, (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (वामम्) सुन्दर रूप में (धावतु) दौड़े, (तुभ्यम्) जोकि तेरे लिये भी (शर्म) सुख पहुंचाए। (महः) महान् [सौर मण्डल] के (धरुणाय) धारण के लिये (अह्रुतः) अकुटिल हुआ (देवः) द्युतिमान् सूर्य (इव) जैसे (दिवि) द्युलोक में या दिन में (स्वम्, ज्योतिः) निज ज्योति को (आ मिमीयात) पूर्णतया प्राप्त होता है [वैसे हे अश्व ! तू भी निज शक्ति को, वेग को प्राप्त हो]।

[देवः=दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा (निरुक्त ७।४।१५)। शर्म सुखनाम (निघं० ३।६)। दिवि=दिवा अहर्नाम; दिवेदिवे अहर्नाम (निघं० १।९)। मिमीयात्=मी गतौ (चुरादिः); गतेस्त्रयोऽर्थाः, दानम्, गतिः, प्राप्तिश्च। प्राप्त्यर्थं अभिप्रेत है]।

काण्ड छठा का नवां अनुवाक सम्पूर्ण

अनुवाक १०

सूक्त ९३

(१-३) । शन्तातिः । रुद्रः, १ यमो मृत्युः शर्वः, २ भवः शर्वः, ३ विश्वे देवाः ।

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥१॥

(यमः) सेना का नियन्ता, (मृत्युः) मृत्यु दण्ड का निश्चय करने वाला (अघमारः) व्यक्ति के पाप के अनुसार मृत्यु का निर्णय देने वाला, (निर्ऋथः) मृत्यु से भिन्न प्रकार के कष्ट देने वाला, (बभ्रुः) भरण-पोषण करने वाला (शर्वः) तलवार द्वारा मारने वाला (अस्ता) तामसास्त्र फेंकने वाला (नीलशिखण्डः) नीलो ज्वाला देने वाला, (देवजनाः) ये देवजन हैं । युद्ध में (सेनया) सेना के साथ ये देवजन भी (उत्तस्थिवांसः) उठते¹ हैं, (ते) वे देवजन (अस्माकम्) हमारे (वीरान्) वीरों को (परिवृञ्जन्तु) परित्यक्त कर दें । भ्रम से कहीं उन्हें न मारें ।

[मन्त्र में मुख्य रूप में देवजनों का वर्णन है और सेना का वर्णन गौण है। देवजन सेना के भिन्न-भिन्न विभागों के अध्यक्ष हैं । युद्ध में जो शत्रु पकड़ लिये जाते हैं उन के अपराधों के अनुसार दण्ड का निश्चय तो "अघमार" अधिकारी करता है, और जो निश्चित किये दण्ड को क्रियात्मक रूप देता है वह "मृत्यु" संज्ञक अधिकारी है, "बभ्रु" है सैनिकों को भरण-पोषण अर्थात् खान-पान की सामग्री पहुंचाने वाला अधिकारी; तलवार द्वारा युद्ध का व्यवस्थापक है "शर्वः" अधिकारी 'शॄ हिंसायाम्; क्र्यादिः"; अस्ता है "तामसास्त्र" को शत्रु पर फेंकने वाला अधिकारी, असु क्षेपणे; "नीलशिखण्ड" है सूर्य की नीलो शिखा, ज्वालारूपा सौर रश्मियों का देने वाला अधिकारी "नीलां शिखां ददातीति", सूर्य की नीलो रश्मियां, शत्रु दल पर फेंकने से शत्रुदल जला दिया जाता है । सूर्य की शुक्ल रश्मि सात प्रकार की रश्मियों का समूहरूप होती है। ये सप्तविध रश्मियां वर्षा-ऋतु में इन्द्रधनुष् में सप्तविध, रश्मि पट्टियों में दृष्टि गोचर होती हैं । इसी लिये

१. 'उत्थान' पारिभाषिक शब्द है । यथा "war, battle" (आप्टे) ।

सूर्य को "सप्तरश्मिः" कहते हैं 'यः सप्तरश्मिः" (अथर्व० १०।३४।१२), तथा 'एकोऽश्वो वहति सप्तनामादित्यः, सप्तास्मै रश्मयो रसान् सं नामयन्ति" (निरुक्त ४।४।२७)। सप्त रश्मि का संक्षिप्तनाम है "नीलरोहित", यथा "नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि" (अथर्व० ८।८।२४)। सूर्य की सप्त रश्मियों में एक ओर ता लोहित रश्मि होती है, दूसरी ओर नील (violet), और इन दोनों के मध्य में शेष ५ रश्मियां।

तामसास्त्र यथा—

"असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानभ्येत्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्" ॥
(अथर्व० ३।२।६)

यह तामसास्त्र शत्रु सेना पर फेंका जाता है ताकि शत्रु सेना अन्धकाराविष्ट हो कर मिथः हनन करती रहे। स्वकीय सेना भी इसी अन्धकार में शत्रु सेना के साथ युद्ध कर रही है। अतः हमारे सेनाधिकारी भ्रमवश कहीं निज सैनिकों का भी वध न कर दें, इस लिये "अस्माकं परि वृजन्तु वीरान्" द्वारा उन्हें सचेत किया गया है। मन्त्र में "मरुतः" हैं मारने में सिद्धहस्त सैनिक (यजु० १७।४०)]।

मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्रं उत राज्ञे भवाय।
नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु ॥२॥

(शर्वाय) शत्रुसेना के हिंसक के लिये, (अस्त्रे) तामसास्त्र फेंकनेवाले के लिये, (उत) तथा (भवाय राज्ञे) सुखसम्पत्ति के उत्पादक राजा के लिये, और (नमस्येभ्यः) नमस्कारयोग्य (एभ्यः) इन देवजनों के लिये (नमः कृणोमि) मैं नमस्कार करता हूं, वे (मनसा) मननपूर्वक (होमैः) सैनिकों को आत्माहुतियों द्वारा (हरसा) शत्रुहारी (घृतेन) वीर्यशक्तिद्वारा (अघविषाः) घातक विष के प्रयोक्ताओं की सेना को (अस्मदन्यत्र) हम से भिन्न स्थानों में (नयन्तु) ले जायं, प्राप्त करा दें; णीञ् प्रापणे (भ्वादिः) पहुंचा दें।

[घृतेन=रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् (अथर्व० ११।८।२९)। अघविषाः=अघम् 'आहन्ति'+विषम्; जो कि घातक विषवाली हैं]।

त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम ॥३॥

(विश्वे देवाः) हे राष्ट्र के सब दिव्य अधिकारियो! तथा (विश्ववेदसः) सब [वेदों] के वेत्ता (मरुतः) ऋत्विजो! (नः) हम प्रजाजनों को, (अघविषाभ्यः) घातक विषवाली प्रजाओं द्वारा किये गए (वधात्) वध से (त्रायध्वम्) सुरक्षित करो। तथा (अग्नीषोमा = अग्नीषोमौ) सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्री और सेनाप्रेरक सेनानायक, (वरुणः)[1] राष्ट्र द्वारा चुना गया राजा, जो कि (पूतदक्षाः)[1] पवित्र और वृद्धिकारक हैं, वे सब हमें सुरक्षित करें, ताकि (वातापर्जन्ययोः) वायुसदृश प्राणप्रद और पर्जन्यसदृश सुखवृष्टिप्रद परमेश्वर की (सुमतौ) सुमति में, अनुकूल मति में (स्याम) हम हों।

[अघविषाभ्यः = घातक विषधारी प्रजाओं से सुरक्षा। मरुतः ऋत्विङ्नाम (निघं० ३।१८)। यज्ञों में ऋत्विक् सामान्यतया ४ होते हैं। होता = ऋग्वेदवेत्ता, उद्गाता = सामवेदवेत्ता, अध्वर्यु = यजुर्वेदवेत्ता, ब्रह्मा = चतुर्वेदवेत्ता। यथा —

'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायत्रीशक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत त्वः॥'
(ऋ० १०।७१।११; निरुक्त १।३।८)

ब्रह्मा = सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति (निरुक्त)। इस द्वारा ब्रह्मा = चतुर्वेदवेत्ता।

ऋत्विक् यज्ञों द्वारा वायुमण्डल को पवित्र करते, तथा मन्त्रोपदेशों द्वारा प्रजाओं को पवित्र विचार-आचारवान् करते हैं।

अग्निः - अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)। सोमः = सेनाध्यक्ष (यजु० १७।४०)। वरुणः = राजा (यजु० ८।३७)। पूतदक्षाः = पवित्र तथा वृद्धिकारक; दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः)।

अथर्ववेद में पूतदक्षाः सकारान्त पाठ है जो कि वरुणः का विशेषण

---

(१) अथर्व० ५।२२।१ में भी पूतदक्षाः विशेषण है वरुणः का। यथा "वरुणः पूतदक्षाः"।

है। पूतदक्षम् अकारान्त पाठ नहीं। ऋग्वेद में सकारान्त तथा अकारान्त द्विविध पाठ हैं। अतः ऋग्वेद में इन दोनों पाठों में अर्थभेद आवश्यक है]।

सूक्त ९४

(१-३)। अथर्वाङ्गिराः। सरस्वती। अनुष्टुभ्; २ विराड् जगती।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥१॥

(वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सं नमामसि) परस्पर के प्रति हम नत करते हैं, झुकाते हैं, (व्रता =व्रतानि) व्रतों, कर्मों को (सम्) परस्पर के प्रति नत करते हैं झुकाते हैं, (आकूतीः) संकल्पों को (सम् नमामसि) परस्पर के प्रति नत करते हैं, झुकाते हैं। (अमी) ये (ये) जो (विव्रताः) परस्पर विरोधी व्रतों, कर्मों वाले हो (तान् वः) उन तुम को (सं नमयामसि) परस्पर के प्रति हम नत करते हैं, झुकवाते हैं।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥२॥

(अहम्) मैं (मनसा) मन द्वारा (मनांसि) तुम्हारे मनों को (गृभ्णामि) पकड़ता हूं, (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त के अनुकूल (चित्तेभिः) चित्तों के साथ (एत) आओ। (मम) मेरे (वशेषु) वशों में (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदयों को (कृणोमि) मैं करता हूं, (मम) मेरे (यातम्, अनु वर्त्मानः) मार्ग के अनुसार मार्गवाले हुए (एत) आओ, अर्थात् ममानुगामी बनो।

[मन्त्र १, २ में अथर्व० ७।१३ (१२) सूक्त की भावनाएं हैं। पकड़ता हूं=इधर-उधर भटकने नहीं देता। यह कथन सभापति का है सभासदों के प्रति। मन्त्र १ में नत कराना या झुकवाना शासक-वर्ग के व्यक्ति (whip) द्वारा है]।

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति ॥३॥

जैसे (द्यावापृथिवी, द्यौः और पृथिवी (ओते) पट में ताने-बाने के सदृश परस्पर ओतप्रोत हैं, परस्पर सम्बद्ध हैं, और उनमें (देवी सरस्वती) जलदात्री मेघोया वाणी (ओता) ओत-प्रोत है, सम्बद्ध है। और उन्हीं में (इन्द्रः)अन्तरिक्षीय विद्युत् (च) तथा (अग्निः) पार्थिवाग्नि (ओतौ) ओत-प्रोत हैं, वैसे (सरस्वति) ज्ञान-विज्ञान वाली हे वेदवाणि ! (इदम्) इस राष्ट्र को प्राप्त कर (मे) मेरी (द्यावापृथिवी) नर-नारी प्रजा[1], (इन्द्रः) सम्राट् (च) और (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (ऋध्यास्म) हम सब ऋद्धि को प्राप्त हों, बढ़ें।[2]

[मन्त्र में वेद विद्या के प्रचार का फल दर्शाया है सर्वतो वृद्धिः। सरस्वती=सरो विज्ञानमुदकं वा विद्यते ऽस्यां सा सरस्वती वाक्, नदी वा (उणा० ४।१९०, दयानन्द)]।

सूक्त ९६

(१-३)। भृग्वङ्गिराः। वनस्पतिः। मन्त्रोक्तदेवता। अनुष्टुभ्।

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥१॥

(इतः) यहां से (तृतीयस्याम्) तीसरे (दिवि) द्युलोक में (अश्वत्थ[3]ः) अश्वत्थ है (देवसदनः) दिव्यगुणों का घर। (तत्र) उस अश्वत्थ में (अमृतस्य चक्षणम्)[4] अमृत की दृष्टि (देवाः) देवों ने की, और उसे (कुष्ठम्) कुष्ठरूप में (अवन्वत) याचित किया।

[अभिप्राय यह कि अश्वत्थ के भी वही गुण हैं, जोकि कुष्ठ के हैं। अवन्वत=वनु याचने (तनादिः)]।

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥२॥

---

१ यथा "द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह संभवाव प्रजामाजनयावहै।" (ऋ० १४।२।७१)।

२ सूक्त ९४ में कथन, राष्ट्र के राजा द्वारा हुआ है, जिसे कि वरुण कहते हैं। (यजु० ८।३७)।

३ गूलर ?, Holy fig tree (आप्टे), ficus religiosa, अथवा पीपल।

४ चक्षिङ् "अयं दर्शनेऽपि" (अदादिः)।

(हिरण्ययी) सुवर्णमयी (हिरण्यबन्धना) सुवर्ण के रस्से से बन्धी हुई (नौः) नौका (दिवि) द्युलोक में (अचरत्) चली है, (तत्र) उस काल में (देवाः) देवों ने (अमृतस्य चक्षणम्) अमृत की दृष्टि के रूप में (पुष्पम्) फूल को (कुष्ठम्) कूठ रूप (अवन्वत) याचित किया।

[अभिप्राय यह कि कुष्ठ के फूल के भी वही गुण हैं जोकि कुष्ठ के हैं। द्युलोकस्थ नौका के तारागण हिरण्यसदृश चमकते हैं, और उन की रश्मियां रस्सी रूप हैं जिन द्वारा तारा गण परस्पर बन्धे हुए हैं, और नौका के नौकारूप को बनाए हुए हैं। रात्रीकाल में द्युलोक में यह नौका "विशेष समय" में दृष्टिगोचर होती है, नौका काल में कुष्ठ या कुष्ठ पुष्प का संग्रह करना चाहिये।

नौः अचरत् पृथिवी निज धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर भ्रमण [Revolve) करती है, अतः द्युलोक पूर्व-से-पश्चिम की ओर गति करता प्रतीत होता है। नौका भी द्युलोकस्थ है, अतः वह भी द्युलोक रूपी-समुद्र में पूर्व-से-पश्चिम की ओर चलती हुई [अचरत्] प्रतीत होती है]।

गर्भो असि ओषधीनां गर्भो हिमवतामुत।
गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥३॥

(ओषधीनाम्) ओषधियों का (गर्भः[1]) गर्भरूप (असि) तू है, (उत) तथा (हिमवताम्) हिम प्रदेशों वाले औषधों का (गर्भः) गर्भरूप है। (विश्वस्य भूतस्य) समग्र प्राणियों का (गर्भः) गर्भरूप है, (मे) मेरे (इमम्) इस रोगी को (अगदम्) रोगरहित (कृधि) तू कर।

[प्रकरण की दृष्टि से कुष्ठ-औषध का वर्णन प्रतीत होता है]।

सूक्त ९६

(१-३)। भृग्वङ्गिराः। वनस्पतयः, ३ सोम्याः। अनुष्टुप्; ३ त्रिपदा विराट् नाम गायत्री।

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१॥

---

१. जैसे गर्भस्थ शिशु, माता के गर्भ से, पोषण तथा गुण ग्रहण करता है, वैसे कुष्ठ में मानो सब ओषधों की पुष्टियां तथा गुण विद्यमान हैं।

(सोमराज्ञीः) सोम-औषधी जिन में राजा है, (वह्वीः)जो बहुत अर्थात् अनेकविध हैं, (शतविचक्षणाः) सौ जिन में विख्यात हैं, (याः) ऐसी जो (ओषधः) ओषधियां (बृहस्पतिप्रसूताः) वेद विद्वान् द्वारा प्रेरित अर्थात् प्रयुक्त की जाती हैं (ताः) वे (नः) हमें (अहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

[शरीर में लगभग सौ [१०७] मर्मस्थल हैं अतः मर्मस्थलों की दृष्टि से लगभग सौ में ओषधियों को विभक्त किया है। बृहस्पतिप्रसूताः = बृहती वेदवाक्, तस्याः पतिः, तेन प्रसूताः, (प्र+षू प्रेरणे, क्तः)। रोग पैदा होते हैं पापों से, यह वेदमन्तव्य है। पाप से मुक्त हो जाने पर तज्जन्य रोगों से मुक्त हो जाता है]।

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या॒दुत ।
अथो॑ य॒मस्य॒ पड्वी॑शाद् विश्व॑स्माद् देवकिल्बि॒षात् ॥२॥

ओषधियां (मा) मुझे (मुञ्चन्तु) मुक्त करें (शपथ्यात्) शपथ से उत्पन्न पाप से, (अथो) तथा (वरुण्यात्) जलोदर रोग से, (उत) भी। (अथो) तथा (यमस्य) नियन्ता-परमेश्वर या मृत्यु के (पड्वीशाद्) पादबन्धन अर्थात् पाद रोग से, तथा (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्विषात्) इन्द्रिय जन्य पाप से। देवाः = इन्द्रियाणि (महीधर, यजु० ४०।४)।

[शपथ झूठी होती है। यह भी रोगरूप है। सत्यवादी शपथ नहीं करता। वरुण का अर्थ है मेघ। अतः वरुण्य है जलीय रोग, अर्थात् जलोदर। पड्वीश = है पादों में प्रविष्ट रोग, श्लीपद्, Elephantiasis देव हैं इन्द्रियां। किल्बिष है पाप, जोकि निश्चय से विषरूप होता है, किल+विष]।

यच्चक्षु॑षा मन॑सा यच्च॑ वा॒चोपारि॒म जाग्र॑तो यत् स्व॒पन्तः॑।
सोम॒स्तानि॑ स्व॒धया॑ नः पुनातु ॥३॥

(यत्) जो पाप (चक्षषा) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, (मनसा) संकल्प-विकल्प द्वारा, (यत् च) और जो (वाचा) वाणी आदि कर्मेन्द्रियों द्वारा (जाग्रतः) जागते हुए, (यत्) तथा जो (स्वपन्तः) स्वप्नावस्था में

(उपारिम) हम ने उपगत किया है, प्राप्त किया है, (तानि नः) उन हमारे पापों को (सोमः) सोम-औषध, (स्वधया) स्वनिष्ठ शक्ति द्वारा, (पुनातु) पवित्र करे, उन का संशोधन करे।

[उपारिम=उप+ऋ (गतौ), लिटि। सोम पद द्वारा सोम, और सोम जिनका राजा है वे सैकड़ों ओषधियां अभिप्रेत हैं (मन्त्र १)]।

सूक्त ९७

(१-३) अथर्वा। मित्रावरुणौ। त्रिष्टुभ्; २ जगती, ३ भुरिक्।

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥१॥

(यज्ञः) संग्राम यज्ञ या संग्राम विजयनिमित्त प्रारब्धयज्ञ (अभिभूः) शत्रु का पराभवकारी हो, (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (अभिभूः) पराभवकारी हो, (सोमः) सेनाध्यक्ष (अभिभूः) पराभवकारी हो, (इन्द्रः) सम्राट् (अभिभूः) पराभवकारी हो। (अहम्) मैं वरुण-राजा (विश्वाः पृतनाः) शत्रु की सब सेनाओं का (यथा अभि असानि) जिस प्रकार पराभवकर्त्ता होऊं (एव) इस प्रकार (अग्निहोत्राः) युद्धाग्नि में आहुति देने वाले हम (इदम्) इस (हविः) आत्माहुति को (विधेम) समर्पित करें।

[अग्निः अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)। सोमः=सेनाप्रेरक सेनाध्यक्ष (यजु० १७।४०)। इन्द्रः='इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। यज्ञः=जिस प्रकार हविर्यज्ञ में यज्ञाग्नि में हविः की आहुतियां दी जाती हैं, इसी प्रकार युद्धारम्भ करने से पूर्व, सामूहिक रूप में, युद्धाग्नि में आत्माहुतियां देने के दृढ संकल्प किये जाते हैं]।

स्वधाऽस्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम्।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥२॥

(विपश्चिता=विपश्चितौ) हे मेधावी (मित्रावरुणा=मित्रावरुणौ) स्नेही मुख्यमन्त्रिन्! तथा वरुण-राजन्। (स्वधा) आत्मधारणयोग्य अन्न (अस्तु) राष्ट्र में हो, (इह) इस राष्ट्र में (क्षत्रम्) क्षात्रबल को (प्रजावत्) सन्तान के तुल्य (मधुना) मधुर व्यवहार तथा मधुर जल द्वारा (पिन्वतम्) सींचा करो। (निर्ऋतिम्) कष्ट को (पराचैः) पराङ्मुख करने के उपायों

द्वारा (दूरम्) दूर (बाधेथाम्) हटाया करो, (कृतं चित्) हम प्रजा द्वारा किये गए (एनः) पाप कृत्य को (अस्मत्) हम से (प्रमुमुक्तम्) छुड़ाया करो।

[विपश्चित् मेधाविनाम ((निघं० ३।१५)। मित्रावरुणौ मेधावी हैं। अतः ये मनुष्य हैं। मित्र=ञिमिदा स्नेहने (भ्वादिः)। पिन्वतम् =पिवि सेचने (भ्वादिः, इत्येके)। निर्ऋतिः=कृच्छ्रापत्तिः (निरुक्त २।२।८)। (कृतम् एनः) किये गए एक भी पाप से मुक्ति की अभिलाषा प्रकट की गई है]।

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥३॥

(इमम्) इस (वीरम्) वीर, (उग्रम्) उग्र, (ग्रामजितम्) ग्राम-ग्राम कर के जीतते हुए, (गोजितम्) शत्रु की पृथिवो को जीत लेने वाले, (वज्र-बाहुम्) वज्रसमान कठोर बाहुओं वाले, (अज्म) संग्राम को (जयन्तम्) जीतते हुए, और (ओजसा) बल द्वारा (प्रमृणन्तम्) शत्रु सैनिकों को मारते हुए (इन्द्रम्) सम्राट् के (अनु) अनुकूल होकर (हर्षध्वम्) प्रसन्न होओ, और (सखायः)मित्रभूत सैनिकों ! (अनु) इसके अनुसार(संरभध्वम्) मिलकर युद्धारम्भ करो।

[अज्म संग्रामनाम (निघं० २।१७) । गोजितम्=गौः पृथिवीनाम (निघं० १।१), तथा गोपशु। इन्द्रम्=सम्राजम्, यद्वा इन्द्रः संग्रामाधिदेवता (सायण)]।

सूक्त ९८

(१-३)। अथर्वा। इन्द्रः। त्रिष्टुभ्; २ बृहतीगर्भास्तारपंक्तिः।

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्योऽभवेह ॥१॥

(इन्द्रः) सम्राट् (जयाति) विजयी हो या विजयी होता है (परा जयातै न) पराजित न हो, या पराजित नहीं होता, (अधिराजः) वह राजाधिराज (राजसु) राजाओं पर (राजयातै) राज्य करे या करता है। (चर्कृत्यः) वह अतिशय शत्रुछेदक है, (ईड्यः) स्तुत्य है, (वन्द्यः) अभि-

वादन योग्य है, (उपसद्यः) सेवनीय है, (इह) इस साम्राज्य में वह तूं (नमस्यः) नमस्कार योग्य (भव) हो, बना रहे।

[मन्त्र के वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्र मनुष्य है, न कि चेतन अधिदेवता। "अस्मिन् संग्रामे अस्य राज्ञः साहाय्यार्थम् आगत इन्द्रः, तदात्मको वा अयं राजा जयाति" (सायण)। इस प्रकार विकल्प में सायण ने भी इन्द्र पद द्वारा मानुष राजा माना है, जोकि "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७) की भावना के अनुकूल है]।

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभि भूतिर्जनानाम्।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥२॥

(इन्द्र) हे सम्राट्! (त्वम्) तूं (अधिराजः) राजाधिराज है, (श्रवस्युः) श्रवणीय कीर्तिमान् है, (त्वम्) तूं (जनानाम्) सब जनों का (अभिभूतिः) पराभव कर्त्ता (भूः) है, [सब जनों में उत्कृष्ट है]। (त्वम्) तूं (इमाः) इन (दैवीः विशः) दिव्यगुणों वाली प्रजाओं पर (विराज) विराजमान हो, शासन कर, (ते) तेरा (क्षत्रम्) क्षात्रबल (आयुष्मत्) चिरकाल तक बना रहे, और (अजरम्) जरा रहित, यौवनशक्ति सम्पन्न (अस्तु) हो।

[इन्द्राभेदेन राज्ञः स्तुतिः (सायणः)]।

प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहोऽसि।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥३॥

(इन्द्र) हे सम्राट्! (त्वम्) तूं (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा का (राजा असि) राजा है, (वृत्रहन्) हे वृत्रों अर्थात् घेरा डालने वालों का हनन करने वाले! (उत) और तूं (उदीच्याः दिशः) उत्तर की दिशा के (शत्रुहः असि) शत्रुओं का हनन करने वाला है। (यत्र) जिस ओर (स्रोत्याः) प्रस्रवनशील जलप्रवाह (यन्ति) जाते हैं, प्रवाहित होते हैं (तत्) वह भी (ते) तेरा (जितम्) जीता हुआ है, (हव्यः) हम द्वारा आहूत अर्थात् व्यामन्त्रित हुआ तूं (वृषभः) वर्षा करने वाले मेघ के सदृश सुखों को वर्षा करता हुआ, (दक्षिणतः) दक्षिण प्रदेश से (एषि) तू आता है।

[मन्त्र में पूर्व और उत्तर दिशाओं का वर्णन स्वशब्दों द्वारा हुआ है। पृथिवी के पश्चिम तथा दक्षिण दिशाओं का कथन "यत्र यन्ति स्रोत्याः"

द्वारा किया है। पृथिवी की नदियों के प्रवाह प्रायः पश्चिम तथा दक्षिण के समुद्रों में होते हैं। इन्हें भी इन्द्र ने जीत लिया है। वर्षा ऋतु में मेघ पश्चिम तथा दक्षिण के समुद्रों से ही उठते हैं।

इन्द्र अर्थात् सम्राट् की राजधानी भी दक्षिण में होनी चाहिये ऐसा निर्देश मन्त्र द्वारा मिलता है, जहां से कि सम्राट् आमन्त्रित होने पर आता है। इन्द्र अर्थात् मेघीय-विद्युत् भी दक्षिण दिशा से मेघ के साथ आती है।

इन्द्र समग्र पृथिवी का सम्राट् प्रतीत होता है, तभी इसे "अधिराजः, और राजसु राजयातै" द्वारा वर्णित किया है। वस्तुतः इन मन्त्रों में इन्द्र है इन्द्रेन्द्र। इन्द्रेन्द्र को ही संक्षेप में इन्द्र कहा है। जैसे कि देवदत्त को देव या दत्त कह दिया जाता है। इसी अभिप्राय को दृष्टिगत कर कहा है कि "कृत्स्नं भूमण्डलं त्वदायत्तमेवेत्यर्थः (सायण)। भूमण्डलव्यापी राज्यवालों को "चक्रवर्ती राजा" कहते हैं। अथर्ववेद में चक्रवर्ती राजा को "इन्द्रेन्द्र" कहा है। यथा "इन्द्रेन्द्र मनुष्या[1]ः परेहि" (अथर्व० ३।४।६) इन्द्रेन्द्रः = इन्द्राणामिन्द्र। सम्राटों का सम्राट्! ऐसा ही अभिप्राय (अथर्व० ३।४।१-७) के मन्त्रों में प्रकट होता है]। मनुष्यान अथवा मनुष्याः = हे मनुष्य! (इन्द्रेन्द्र)।

सूक्त ९९

(१-३)। अथर्वा। इन्द्रः। ३ सौम्या सावित्री च। अनुष्टुभ्, ३ भुरिग् बृहती।

अ॒भि त्वे॑न्द्र॒ वरि॑मतः पु॒रा त्वां॑हूर॒णाद्धु॑वे।
ह्व॒याम्यु॒ग्रं चे॒त्तारं॑ पु॒रुणा॑मानमेक॒जम् ॥१॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्य वाले परमेश्वर! (वरिमतः) सर्वव्यापक होने से (अंहूरणात्) हनन होने से (पुरा) पूर्व ही (त्वा) तुझे (अभि हुवे) स्वाभिमुख बुलाता हूं। (उग्रम्) तुझ उग्र को; (चेत्तारम्) ज्ञानी को, (पुरुणा-

१. अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में पाठ है, "मनुष्य"। इससे इन्द्रेन्द्र को मनुष्य कहा है। "मनुष्याः" पाठ अर्थसङ्गत नहीं होता। सायणाचार्य को भी "मनुष्याः" पाठ संगत नहीं प्रतीत हुआ, अतः उस ने मनुष्याः का अर्थ किया है "मनुष्यान्", तथा "यद्वा मनोरपत्यभूताः प्रजाः"। अथवा "मनुष्याः विशः"।

मानम्) बहुत नामों वाले अथवा नाना शत्रुओं को नत करने वाले को, तथा (एकजम्) अकेले ही जगत् पैदा करने वाले को (ह्वयामि) मैं आह्वान करता हूं।

[देवासुर-संग्राम में आसुर शक्तियों अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि द्वारा निज हनन को अनुभव करता हुआ उपासक, जगत् के कर्त्ता का, साक्षात् आह्वान करता है। वरिमतः=उरु+इमनिच्; वर् आदेश, "प्रियस्थिर" (अष्टा० ६।४।१५७) द्वारा। अंहूरणात् ="अंहुरः अंहस्वान्; अंहूरणमित्यप्यस्य भवति" (निरुक्त ६।५।२७), तथा ४।२५); अंहूर = आ+हन+र। एकजम्=अथवा "एकेन प्रकृतिरूपेण कारणेन जनयतीति" (अथर्व० १०।८।५)]।

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते।
इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥२॥

(अद्य) आज (यः) जो (सेन्यः वधः) आसुरी सेना[1] का वधकारी आयुध, (नः जिघांसन्) हमारी हत्या चाहता हुआ (उदीरते) उठा है, (तत्र) उस अवस्था में (इन्द्रस्य) परमेश्वर की (बाहू) दा बाहुओं को (समन्तम्)अपने सब ओर (परिदद्मः)हम घेरे के रूप में धारित करते हैं।

[अद्य=उपासक जिस दिन आसुरी सेना से पूर्णतया व्यथित हो गया, वह दिन। मन्त्र में समूहोपासना का वर्णन है। बाहू=बल और वीरता; यश और बल]।

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः।
देव सवितः सोम राजन् सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ॥३॥

(त्रातुः) पालक (इन्द्रस्य) परमेश्वर की (बाहू) बाहुओं अर्थात् बल और वीरता, यश और बल को (समन्तम्) अपने सब ओर (परिदद्मः) हम घेरे के रूप में धारित करते हैं (नः) हमारी (त्रायताम्) वे पालना करें। अतः (देव) हे देव! (सवितः) हे प्रेरक!, (सोम) हे सौम्य स्वभाव वाले! (राजन्) सब के राजा परमेश्वर! (मा) मुझ को (सुमनसम्) सुप्रसन्नचित्त या शोभनमन वाला (कृणु) कर (स्वस्तये) कल्याण के लिये।

१. काम क्रोध लोभ आदि सब द्वारा आक्रमण।

[सामूहिक उपासना में बैठ कर, प्रत्येक उपासक, परमेश्वर से पालना की याचना करता है जिस से कि आसुरी भावों द्वारा वह व्यथित न हो। आसुरी भावों से छुटकारा पा कर उपासक प्रसन्नचित्त हो जाता है, तथा शुभ मन वाला हो जाता है, और कल्याण मार्ग का पथिक हो जाता है। त्रातुः, त्रायताम् (त्रैङ् पालने (स्वादिः)] ।

सूक्त १००

(१-३) । गरुत्मान् । वनस्पतिः । अनुष्टुभ् ।

देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात् पृथिव्यदात् ।
तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥१॥

(देवाः अदुः) देवों ने दिया है, (सूर्यः अदात्) सूर्य ने दिया है, (द्यौः अदात्) द्युलोक ने दिया है, (पृथिवी अदात्) पृथिवी ने दिया है, (तिस्रः सरस्वतीः) तीन सरस्वतियों ने (सचित्ताः) एकचित्त हो कर (अदुः) दिया है (विषदूषणम्) विषनिवारक औषध ।

[देवाः=साध्याः, ऋषयश्च । यथा "तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये" (यजु० ३१।९) । साध्याः है योगसाधनाओं से सम्पन्न योगी और ऋषयः हैं मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रार्थद्रष्टा । ये दोनों मनोबल तथा अध्यात्म शक्ति के द्वारा रोगों का विनाश कर सकते हैं, और विष का भी । इन की इन शक्तियों को विदूषण-औषध कहा है । हस्त स्पर्श द्वारा ये महानुभाव रोगी में शक्ति का संचार कर उस के रोग का निवारण कर सकते हैं । हस्तस्पर्श चिकित्सा के लिये देखो (अथर्व० ३।११।२, ८); (अथर्व० २०।९६।७); (अथर्व० ४।१३।६,७) आदि ।

सूर्यः=सूर्य की सप्तविध रश्मियों द्वारा "रश्मिचिकित्सा" विषदूषण है।

द्यौः=द्युलोक असंख्य नानाविध शक्तियों वाले सूर्यों से भरा हुआ है। इन की शक्तियों के प्रयोगों को विषदूषण आदि में उपयुक्त करने का निर्देश किया है।

तिस्रः सरस्वतीः=सायणाचार्य के अनुसार ये तीन "त्रयी" रूपा हैं, ऋक्, यजुः, सामरूपा । यह त्रयी मानो एकचित्त होकर, परस्पर अविरोध रूप में विषदूषण के उपायों का ज्ञान देती है ।

पृथिवी =पृथिवी तो औषधों का भण्डार है, जिस द्वारा समग्र रोगों का उपचार हो रहा है। बिच्छु, भिड, सांप आदि ने जहां काटा है वहां मिट्टी के प्रलेप द्वारा भी विषदूषण किया जा सकता है]।

यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम् ।
तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥२॥

(उपजीकाः) हे दीमको! (देवाः) दिव्य तत्त्वों ने (वः) तुम्हारे [मुखों में] (धन्वनि) मरु प्रदेश में (यत्) जो (उदकम्) मुखरस [Saliva] (आसिञ्चन्) सींचा है, (देवप्रसूतेन) दिव्य तत्त्वों द्वारा उत्पादित (तेन) उस उदक द्वारा (इदम् विषम्) इस विष को (दूषयता) दूषित कर दो, विकृत कर दो, विष के विषत्व को नष्ट कर दो।

[वैदिक वर्णन प्रायः कविता के शब्दों में होते हैं। कविता में ही दीमकों को सम्बोधित किया है। दीमकों को "उपजीकाः" कहा है। उपजीकाः — उप+ज्या वयोहानौ (क्र्यादिः) "ज्या" के यकार को सम्प्रसारण द्वारा इकार हो कर, दीर्घ+कन् (अल्पार्थे)। दीमक जिस के समीप लग जाती है उस के वयः की हानि कर देती है, उसे विनष्ट कर देती है।

संसार के दिव्य तत्त्वों द्वारा सब प्राणी, उन के अवयव, तथा उन अवयवों में जीवनीय रस पैदा होते हैं। इन्हीं तत्त्वों द्वारा दीमक के मुख में उदक अर्थात् मुख रस पैदा होता है। इस मुख रस को दीमकें जिस काष्ठ आदि पर सींचतीं हैं उसे वल्मीक रूप में मिट्टी बना देती है। इस मुखरस द्वारा विष को भी दूषित किया जा सकता है, विष के विषत्व को नष्ट किया जा सकता है। जैसे दीमक का मुखरस [उदक] काष्ठ आदि के स्वरूप को विकृत कर उसे रूपान्तर में परिवर्तित कर देता है, वैसे वह विष के स्वरूप को विकृत कर, उसे रूपान्तर में परिवर्तित कर, उस के विषत्व को नष्ट कर देता है।

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा ।
दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम् ॥३॥

हे उपजीका! (असुराणाम्) असुरों की (दुहिता) बेटी (असि) तू है, (सा) वह तू (देवानाम्) देवों की (स्वसा) बहिन (असि) है। (दिवः पृथिव्याः) द्युलोक के ताप और प्रकाश, तथा जलतत्त्व से, तथा पृथिवी के

पार्थिवतत्त्व के मेल से (सम्भूता) तू उत्पन्न हुई है, (सा) उस तू ने (विषम्) विष को (अरसम्) नीरस, निर्वीर्य अर्थात् शक्तिरहित (चकर्थ) कर दिया है।

[कविता के शब्दों में भाव छिपा हुआ है। असुर हैं विनाशक। उपजीका अर्थात् दीमक भी वस्तु के वयस् की हानि करती है। दोनों के गुण समान है। अतः इन में जनक-जन्य भाव है। देव हैं दिव्यगुणी, और उपजीका अर्थात् दीमक भी दिव्यगुणों से सम्पन्न वल्मीक-मृत्तिका को उत्पन्न कर, तद्द्वारा विष का विनाश करती है। दोनों में दिव्यता समान है। इस दिव्यतागुण की समानता से देवों और दीमक को भाई-बहिन कहा है।]

सूक्त-१०१

(१-३)। अथर्वाङ्गिराः। शेपः प्रथनकामः। ब्रह्मणस्पतिः। अनुष्टुभ्।

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च।
यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि ॥१॥

हे पुरुष ! (श्वसिहि) तू प्राणशक्तिसम्पन्न बन, (आवृषायस्व) और शक्तिशाली वृषभ के सदृश शक्तिशाली बन, (वर्धस्व) शरीर से बढ़, (प्रथयस्व) और परिवार को बढ़ा। (यथाङ्गम्) अन्य अङ्गों के सदृश (शेपः) तेरी प्रजनन इन्द्रिय (वर्धताम्) बढ़े, (तेन) उस बढ़ी इन्द्रिय के साथ (योषितम्) प्रीति करनेवाली पत्नी को (इत्) ही (जहि) जाया कर।

[मन्त्र में गृहस्थसम्बन्धी उत्तम शिक्षा दी गयी है। (१) श्वसिहि (श्वस प्राणने, अदादिः), प्राणशक्ति का सञ्चय शरीर में कर। (२) और शक्तिशाली बैल के सदृश शक्तिशाली बन। (३) अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों की दृष्टि से बढ़। (४) फिर अपने परिवार को फैला। (५) परन्तु परिवार फैलाने से पूर्व यह देख ले कि तेरी प्रजनन इन्द्रिय परिवार फैलाने योग्य अभी हुई है या नहीं। (६) यदि इस योग्य हो गयी हो तो निज पत्नी का ही प्रसङ्ग किया कर। अन्य स्त्रियों का कीर्तन तक भी नहीं करना, "नान्यासां कीर्तयाश्च" (अथर्व ७।

३८।२; ३९।४)। योषित्=जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः) जो प्रीति करे और सेवा करे वह पत्नी (उणा० १।९७)। जहि=हन हिंसागत्योः, गत्यर्थ अभिप्रेत है। जहि=गच्छ (सायण)।]

येनं कृशं वाजयन्ति येनं हिन्वन्त्यातुरम्।
तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥२॥

(येन) जिस उद्देश्य से (कृशम्) निर्बल को (वाजयन्ति) वाजीकरण द्वारा सबल करते हैं, और (येन) जिस उद्देश्य से (आतुरम्) रोगार्त को (हिन्वन्ति) प्रीणित करते हैं, पोषित करते हैं, (तेन) उस उद्देश्य से (ब्रह्मणस्पते) हे वेद के पति! (अस्य) इस प्रजननेन्द्रिय के रोगी को (पसः) जनन-इन्द्रिय को (धनुः इव) धनुष् के सदृश (आ तानय) विस्तारित कर दे, या तान दे।

[पति यदि रोगवश इन्द्रियरोगी हो जाय, और उसकी इन्द्रिय आनुपातिक दृष्टि से ह्रसित हो जाय, तो वेदज्ञ विद्वान् वेदोपदिष्ट विधि से इन्द्रिय को उचित परिमाण से सम्पन्न कर देता है। उद्देश्य है सन्तानोत्पादन और गृहस्थ धर्म का पालन, न कि कामवासना से प्रेरित भोग। हिन्वन्ति - हिवि प्रीणने (भ्वादिः)।]

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥३॥

(अहम्) मैं ब्रह्मणस्पति [मन्त्र २] (ते) तेरी (पसः) प्रजननेन्द्रिय को (आतनोमि) पूर्णतया विस्तारित करता हूं, (धन्वनि अधि) धनुष् पर चढ़ाई (ज्याम् इव) ज्या अर्थात् डोरी के सदृश। (ऋशः) हरिण (इव) जैसे (रोहितम्) हरिणी की ओर, वैसे तू (क्रमस्व) [पत्नी की ओर] पग बढ़ा, (सदा अनवग्लायता) सदा ग्लानिरहित मन से, प्रसन्न चित्त से।

[रोहितम् - रोहित्+अम् (द्वितीया विभक्ति, पदानुक्रमणी)। अनवग्लायता=अ+नुट्+अव+ग्लै हर्षक्षये (भ्वादिः)+तृतीयैकवचन। क्रमस्व=क्रमु पादविक्षेपे (भ्वादिः)।

समग्र सूक्त में कोई अश्लीलता का अंशमात्र भी नहीं। गृहस्थधर्म में रोग का केवल वर्णन और उसकी निवृत्ति का कथनमात्र हुआ है। डाक्टरी की पुस्तकों में भी ऐसे विषयों का वर्णन पाया जाता है, और पढ़ाया भी जाता है।]

सूक्त १०२

(१-३) । जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः) । अश्विनौ । अनुष्टुप् ।

यथायं वाहो अंश्विना समैति सं च वर्तते ।
एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥१॥

(अश्विना=अश्विनौ) हे दो अश्वियो ! (यथा) जैसे (अयम्) यह (वाहः) रथवाहक अश्व (समैति) [रथ में जुतने के लिये] सम्यक् प्रकार से, अर्थात् विना प्रतिरोध के आ जाता है, (च) और [मार्ग पर] (सम् वर्तते) सम्यक् प्रकार से वर्तता है, चलता है, (एवा) इसी प्रकार [हे पत्नी] (ते मनः) तेरा मन (माम् अभि) मुझ पति के अभिमुख (समैतु) सम्यक् प्रकार से आये, प्रवृत्त हो, (च) और (सम् वर्तताम्) सम्यक् वर्ताव करे ।

[वाहः है अश्व । इसलिये अश्विनौ को सम्बोधित किया प्रतीत होता है । अश्विनौ सम्भवतः अश्वशिक्षक हैं । मन्त्र में रुष्ट हुई पत्नी को पति स्वाभिमुख करने का अभिलाषी है ।]

आहं खिंदामि ते मनो राजाश्वः पृष्टयामिव ।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥२॥

हे रुष्ट पत्नी ! (ते मनः) तेरे मन को (अहम्) मैं पति (आ खिदामि) दैन्ययुक्त करता हूं, (इव) जैसे (राजाश्वः) अश्वों का राजा अर्थात् शक्तिशाली अश्व (पृष्टयाम्) अश्वा को दैन्ययुक्त करता है। तथा (यथा) जैसे (रेष्मछिन्नम्) प्रबल वायु से कटा (तृणम्) तिनका [वायु में] (वेष्टताम्) लिपट जाता है वैसे (ते मनः) तेरा मन (मयि) मुझ में (वेष्टताम्) लिपट जाय ।

[पृष्टयाम्=अथर्ववेद की कई प्रतिलिपियों में 'पृष्ठयाम्' पाठ है । इस का अर्थ है अश्व के पृष्ठ के साथ संलग्न होकर रथ में जुती अश्वा घोड़ी । साथ-साथ जुते होने के कारण राजाश्व अश्वा को भोग के लिये दैन्ययुक्त कर देता है । 'आखिदामिं' खिद दैन्ये (दिवादिः, रुधादिः), और अश्वा भोगार्थ राजा के अनुकूल हो जाती है । यही अवस्था पति, पत्नी के मन को कर देता है ।

रेष्मच्छिन्नम्=रिष हिंसायाम्+मन् (औणादिक, १।१४०–१४४)+ छिन्नम् । हिंसा करने वाली, वृक्षों वनस्पतियों, तिनकों को छिन्न-भिन्न कर देने वाली; प्रवल वायु ।]

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च ।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥३॥

(आञ्जनस्य) शरीर से शोभा वाला तथा तेरी कामना वाला, (मदुघस्य) मधुर वचनों का दोहन करनेवाला अर्थात् मधुरभाषी, (कुष्ठस्य) मेरे प्रति तेरी विरक्तता के कारण कुत्सितावस्था में स्थित, (च) और (नलदस्य) तुझे भाषण देने वाला अर्थात् तेरे साथ बोल रहा, (तुरः) तेरी कामनाओं को शीघ्र पूर्ण करने वाला, (भगस्य) तथा ऐश्वर्यसम्पन्न जो मैं हूं, उस मेरे (हस्ताभ्याम्) निज हाथों द्वारा (अनुरोधनम्) तेरी कामना का (उद्भरे) मैं उद्धार करता हूं, उसे पूर्ण करता हूं ।

[मन्त्र में हस्ताभ्याम् से पूर्व "तस्य मम" का अध्याहार अपेक्षित है । आञ्जनस्य=अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (रुधादिः) में अभिव्यक्ति और कान्ति अर्थात् कामना अभिप्रेत है । मदुघस्य=मधुदुघस्य । यथा मदुघात्=मधुदुघात्, दुह प्रपूरणे । मधुशब्दोपपदात्, अस्मात् "दुहः कब् घश्च" (अष्टा० ३।२।७०) इति कप् प्रत्ययः, तत्सन्नियोगेन घत्वं च [हकारस्य] । मधुशब्दे धुलोपश्छान्दसः" (सायण, अथर्व १।३४।४) । कुष्ठस्य= कु=(कुत्सितावस्था)+स्थ, अथवा "कौ (पृथिव्याम्)+स्थितस्य" अर्थात् जीवित । नलदस्य=नल च (भाषार्थः, चुरादिः)+दा दाने । तुरः= त्वरायुक्तस्य । अनुरोधनम्=अनो रुध कामे (दिवादिः) । उद्भरे= हृग्रहोर्भः छन्दसि ।

(१०वां अनुवाक सम्पूर्ण)



अनुवाक ११

सूक्त १०३

(१-३) । उच्छोचनः । इन्द्राग्नी, बृहस्पतिः, सविता, मित्रः, अर्यमा, भगः, अश्विना । अनुष्टुभ् ।

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत् ।
संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना ॥१॥

(वः) हे शत्रुओ ! तुम्हारा (संदानम्) बन्धन (बृहस्पतिः) साम्राज्य की बड़ी-सेना का पति (करत्) करे, (संदानम्) बन्धन (सविता) सेना का प्रेरक सेनाध्यक्ष करे। (मित्रः) सब का मित्रभूत (अर्यमा) न्यायाधीश (सन्दानम्) वन्धन करे, (भगः) कोषाध्यक्ष तथा (अश्विना) दो अश्वो (संदानम्) वन्धन करें।

[युद्ध में परास्त हुए शत्रुओं का बन्धन, विजयी राज्य का कोई भी अधिकारी निज आज्ञा द्वारा कर सकता है। अश्विनौ दो अधिकारी हैं अश्वारोहियों के तथा रथारोहियों के अश्वों के। संदानम्="संपूर्वो दयति-बंन्धने वर्तते" (सायण)]।

सं परमान्त्समवमानथो सं द्यामि मध्यमान् ।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥२॥

(परमान्) शत्रु सेना के उत्कृष्ट अधिकारियों को [युद्धस्थल में] (संद्यामि) मैं सेनाध्यक्ष बान्धता हूं, (अवमान्) नीचे के अधिकारियों को (सम्) बान्धता हूं, (अथो) तथा (मध्यमान्) मध्यम अधिकारियों को (सम् द्यामि) बान्धता हूं। परन्तु (अग्ने) हे अग्रणो प्रधानमन्त्रिन् ! (तान्) उन अधिकारियों को (दाम्ना) रस्सी द्वारा (त्वम्) तू [स्थिर रूप में] (संद्य) बान्ध। (इन्द्रः) सम्राट् (पर्यहाः) जिन्हें चाहे बन्धन से परित्यक्त करदे।

[युद्धस्थल में सभी प्रकार के शत्रुसेना के अधिकारियों को सेनाध्यक्ष बान्ध सकता है परन्तु उन्हें स्थिररूप में रस्सी द्वारा बान्धे रखने का अधिकार प्रधानमन्त्री का है। उन बद्धों में से जिन्हें चाहे सम्राट् बन्धन

से मुक्त कर सकता है। पर्यहाः = परि (पूर्णतया) + अ (अट् लुङि) + हा (ओहाक् त्यागे, जुहोत्यादिः)। "हरतेर्लुङि च्लेः सिच्। "बहुलं छन्दसि" (अष्टा० ७।३।९७) इति इडभावे, "हल्ङ्या" (अष्टा० ६।१।६८) इत्यादिलोपे, "रात् सस्य" (अष्टा० ८।२।२४) इति सलोपः" (सायण)]।

अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥३॥

(अमी) वे (ये) जो (केतून् कृत्वा) झण्डे लेकर, (अनीकशः) संघरूप में (युधम्) युद्ध के उद्देश्य से (आयन्ति) आते हैं (तान्) उन्हें (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् (दाम्ना) रस्सी द्वारा स्थिर रूप में (त्वम्) तू (संद्य) बान्ध, (इन्द्रः) सम्राट् (तान्) उन में से जिन्हें चाहे (पर्यहाः) परित्यक्त कर दे।

सूक्त १०४

(१-३)। प्रशोचनः। बहुदेवताः, इन्द्रः, अग्निः। अनुष्टुभ्।

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि।
अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥१॥

(आदानेन) पकड़ने [arrest] द्वारा, (संदानेन) और बान्धने [Binding] द्वारा (अमित्रान्) शत्रुओं को (आ दयामसि) हम [विजेता] बान्ध लेते हैं। (च) और (एषाम्) इन अमित्रों के (ये) जो (अपानाः प्राणाः) प्राणापान हैं, श्वास-प्रश्वास हैं; (तान् असून्) उन प्राणापानों को (असुना) प्राणवान् अर्थात् बलवान् वधक के द्वारा (समच्छिदन्) हमने काट दिया है [गले काट कर उन के श्वास-प्रश्वासों की गति रोक दी है]।

[युद्धस्थल में शत्रुओं को पकड़ कर उन के सामयिक बन्धन कर दिये हैं, तत्पश्चात् प्रधानमन्त्री की आज्ञा द्वारा उन्हें स्थिर[1] रूप में बान्ध दिया है। असुना = लक्षणा द्वारा असुना का अर्थ है असुमता, प्राणवता, बलवता पुरुषेण, वधकेन]।

---

१. बन्धीकृत कर दिया है, जेल में बन्द कर दिया है।

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् ।
अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥२॥

(इदम्) इस (आदानम्) आदान-पाश अर्थात् शत्रु को पकड़ने के साधन का प्रयोग (अकरम्) मैं सेनाध्यक्ष ने किया है, जो कि (इन्द्रेण) सम्राट् ने (तपसा) तप के द्वारा (संशितम्) निर्मित किया है । (अत्र) इस संग्रांम में (ये) जो (नः) हमारे (अमित्राः) शत्रु (सन्ति) हैं (तान्) उन्हें (अग्ने) वे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (त्वम्) तू (आ दय) बन्द[1]-दण्ड दे ।

[यह आदान-पाश है जाल । यथा, अथर्व० ८।८।५।८,१२; १०।१।३०)। तपसा=परिश्रमेण] ।

ऐनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥३॥

(इन्द्राग्नी) इन्द्र सम्राट् और अग्रणी प्रधानमन्त्री (मेदिनौ) स्नेही होकर, इसी प्रकार (सोमः) सेनाध्यक्ष (च) और (राजा) राष्ट्रपति वरुण नामक राजा भी (मेदिनौ) स्नेही होकर, (एनान्) इन शत्रुओं को (आ द्यताम्) बन्द करने का दण्ड दें । (मरुत्वान्) सेनाधिपति (इन्द्रः) सम्राट् (नः) हमारे (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आदानम्) पकड़ने के जाल का प्रयोग (कृणोतु) करे ।

[सम्राट्, प्रधानमन्त्री, सेनाध्यक्ष तथा वरुण राजा—ये चारों स्नेहार्द्र-हृदय होकर बन्द करने के दण्ड का प्रयोग करें, विद्वेष भावना से नहीं । इन्द्रः राजा="इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७) । अग्निः= "अग्रणीर्भवति" (निरुक्त ७।४।१४) । सोमः=सेनाध्यक्ष (यजु० १७।४०)। मरुतः=मारने में कुशल सैनिक (यजु० १७।४०,४१) । मेदिनौ=ञिमिदा स्नेहने (भ्वादिः, दिवादिः) स्नेहिनौ, न कि मेदस्विनौ=स्थूलकायौ] ।

सूक्त १०५

(१-३) । उन्मोचनः । कासा । अनुष्टुभ् ।

---

१. जेल में बन्द करने का दण्ड ।

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥१॥

(यथा) जैसे (आशुमत्) वेगयुक्त (मनः) मन, (मनस्केतैः) निज मानसिक ज्ञानों द्वारा (परापतति) दूर के प्रदेशों तक गति करता है, (एव) इसी प्रकार (कासे) हे शासन व्यवस्था ! (त्वम्) तू (मनसः) मन के (प्रवाय्यम्) दूर के गन्तव्य प्रदेशों के (अनु) अनुरूप (प्रपत) दूर तक गति कर, पहुंच । पत =पत्लृ गतौ (भ्वादिः) ।

[मन्त्र में "कासा" का वर्णन है "कासा" का प्रसिद्ध अर्थ है "खांसी"; कासृ शब्दकुत्सायाम् (भ्वादिः) । परन्तु सूक्त में खांसी अर्थ उपपन्न नहीं प्रतीत होता । "कासा" का अर्थ "शासन व्यवस्था" भी सम्भव है जोकि सूक्त में अधिक समन्वित होता हैं । "कासा" =कसि गतिशासनयोः, कस इत्येके (अदादिः) । कस+घञ्+टाप्=शासन व्यवस्था । वर्तमान में जैसे भिन्न-भिन्न राज्यों की दृष्टि से समुद्र और वायुमण्डल में शासन-व्यवस्था लागू है, वैसे उस दूर की ऊर्ध्वदिशा में भी शासन-व्यवस्था लागू होनी चाहिये जहां तक कि मनुष्य पहुंच सकता है और मन की वास्तविक गति या पहुंच सम्भव है । ताकि मनुष्यों में वहां तक पहुंच कर भी युद्ध न हो सके, यह मन्त्र का अभिप्राय है । वर्तमान काल के "Starwar" को रोकना, इस व्यापी शासन व्यवस्था द्वारा सम्भव हो सकता है] ।

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥२॥

(यथा) जैसे (सु संशितः) उत्तम-साधित (वाणः) शब्द (आशुमत्) शीघ्र (परा पतति) दूर के प्रदेशों तक गति करता है, पहुंच जाता है, (एव =एवम्) इस प्रकार (कासे) हे शासन व्यवस्था ! (त्वम्) तू (पृथिव्याः) पृथिवी की (संवतम्) संप्राप्ति की (अनु) अनुकुलता तक (प्र पत) गति कर, पहुंच ।

[वाणः =शब्दः । यथा "वण शब्दार्थः" (भ्वादिः), अर्थात् वाणो । शब्द या वाणी, यन्त्रों द्वारा सुसाधित होकर शीघ्र दूर-दूर के प्रदेशों तक पहुंच जाती है, जैसे कि टैलीफोन तथा रेडियो और टैलीविजन द्वारा वर्तमानकाल में पहुंच रही है । इसी प्रकार शासन व्यवस्था को भी, समग्र

पृथिवी पर, जहां तक पृथिवी की सम्यक्-प्राप्ति[1] है लागू करना चाहिये। संवतम्=सम्प्राप्तम् (सायण, अथर्व० ६।२६।३)।

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥३॥

(यथा) जैसे (सूर्यस्य रश्मयः) सूर्य की रश्मियां (आशुमत्) शीघ्रता से (परापतन्ति) दूर के प्रदेशों तक गति करती हैं, (एवा=एवम्) इसी प्रकार (कासे) हे शासनव्यवस्था! (त्वम्) तू (समुद्रस्य) समुद्र [की लहरों] के (विक्षरम्) विविध संचलन स्थानों को (अनु) लक्ष्य करके (प्र पत) शीघ्रता से पहुंच, वहां तक गति कर।

[सूक्त में, पृथिवी की ऊर्ध्वदिशा में, समुद्रों से घिरी पृथिवी पर, तथा समुद्रों पर शासन व्यवस्था की व्याप्ति का वर्णन हुआ है; विक्षरम्=वि+क्षर संचलने (भ्वादिः)]।

सूक्त १०६

(१-३)। प्रमोचनः। दूर्वा, शाला। अनुष्टुभ्।

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥१॥

हे शाला! (ते) तेरे (आयने) आने के मार्ग में, (परायणे) और जाने के मार्ग में (पुष्पिणीः) फुलों से पुष्पित (दूर्वाः) घास (रोहन्तु) उगें, (तत्र) वहां अर्थात् शाला में (वा) या तो (उत्सः) फुआरा (जायताम्) हो, (वा) या (पुण्डरीकवान्) कमलों से युक्त (ह्रदः) तालाब।

[शाला (मन्त्र ३) आने और जाने के मार्ग अलग-अलग होने चाहियें, ताकि एक मार्ग द्वारा शाला में आ सकें, और दूसरे मार्ग द्वारा शाला से वापिस जा सकें]।

---

१. पृथिवी सब ओर से समुद्रों से घिरी हुई है, इन समुद्रों के भीतर पृथिवी की सम्प्राप्ति होती है। वेदों में समग्र पृथिवी पर शासन व्यवस्था को लागू करने वाले को "एकराट्" तथा "जनराट्" कहते हैं।

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥२॥

शाला के समीप (१) या तो (इदम्) यह (अपाम्) जल का (न्ययनम्) नीचे गिराना अर्थात् जलप्रपात हो; (२) या (समुद्रस्य) समुद्र की (निवेशनम्) स्थिति हो; (३) या (नः) हमारे (गृहाः) घर (ह्रदस्य) तालाब के (मध्ये) मध्य में हों। (मुखा=मुखानि) घरों में मुख (पराचीना=पराचीनानि) परस्पर पराङ्मुख (कृधि) हे गृहस्थी तू कर।

[गर्मी के निवारणार्थ, घरों के निर्माण स्थलों का निर्देश, मन्त्र में किया है। मुखानि का अभिप्राय है खिड़कियां और दरवाजे। ये परस्पर पराङ्मुख होने चाहिये, विरोधी दिशाओं में अर्थात् आमने-सामने की दिशाओं में होने चाहियें। निवेशनम्=अथवा सामुद्रिक जल का पृथ्वी में प्रवेश, खाड़ी, Inlet, Bay Gulf.।]

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि ।
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥३॥

(शाले) हे शाला! (त्वा) तुझे (हिमस्य) बर्फ के (जरायुणा) गर्भ-वेष्टन के सदृश वेष्टन द्वारा (परिव्ययामसि) हम सब ओर वेष्टित करते हैं, (नः) हमारे लिये (हि) निश्चय से (शीतह्रदा) ठण्डे तालाब के सदृश (भुवः) तू हो जा। (अग्निः) यज्ञियाग्नि (भेषजम्) हमारी रोग चिकित्सा (कृणोतु) करे।

[ऐसे शीतगृहों की आवश्यकता अत्यन्त गर्म प्रदेशों में ही सम्भव है। तदर्थ बर्फ जमा सकना वैज्ञानिकता का सूचक है।]

सूक्त १०७

(१-४) शंतातिः । विश्वजित् । अनुष्टुभ् ।

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि ।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥१॥

(विश्वजित्) हे विश्वविजयी परमेश्वर! (त्रायमाणायै) निज पालक शक्ति के प्रति (मा) मुझे (परिदेहि) प्रदान कर, सुपुर्द कर, समर्पित कर। (त्रायमाणे) हे पालक शक्ति! (नः) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपात्) दो

पायों (च) और (चतुष्पात्) चौपायों को, (च) और (यत् स्वम्) जो धनादि सम्पत्ति है उस की (रक्ष) रक्षा कर।

[परमेश्वर को नाना शक्तियां हैं, न्यायानुकूल कर्मफल देने की, तथा संहार को शक्ति आदि। परन्तु उस की पालक शक्ति भी है। वर्षा प्रदान, अन्न प्रदान, प्राण प्रदान आदि शक्तियां पालक शक्तियां हैं। प्रार्थी, परमेश्वर की पालक शक्तियों के प्रति, प्रार्थी को ले लेने की प्रार्थना करता है। पुत्र-पुत्रियां, दोहते-दुहितियां, पोते-पोतियां आदि द्विपात् हैं; गौएं, अश्व, बैल आदि चतुष्पात् हैं।]

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि।
विश्वजित् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥२॥

(त्रायमाणे) हे पालक शक्ति ! (मा) मुझे (विश्वजिते) विश्वविजयी परमेश्वर के प्रति (परिदेहि) प्रदान कर, सुपुर्द कर, समर्पित कर। (विश्वजित्) हे विश्वविजयी परमेश्वर ! (शेष पूर्ववत्, मन्त्र १)।

[धन-अन्न आदि के हो जाने पर मनुष्य परिपालित हो कर प्रायः निज पालक परमेश्वर को भूल जाते हैं, उस से पराङ्मुख हो जाते हैं। अतः मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि परमेश्वरप्रद पालक शक्तियां हमें विश्वजित् के आधीन ही रखे, उस से विमुख न होने दे।]

विश्वजित् कल्याण्यै मा परि देहि।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥३॥

(विश्वजित्) हे विश्वविजयी परमेश्वर ! (कल्याण्यै) निज कल्याणी शक्ति के प्रति (मा) मुझे (परिदेहि) प्रदान कर, सुपुर्द कर, समर्पित कर। (कल्याणि) हे परमेश्वरीय कल्याणी शक्ति (शेष पूर्ववत्, मन्त्र १)।

[त्रायमाणा-शक्ति द्वारा पालित हो कर प्रार्थी, परमेश्वर को कल्याणकारिणी शक्ति का प्रार्थी है। पालित होकर प्रार्थी, कल्याण मार्ग पर ही चलने का अभिलाषी है। मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि कल्याण मार्ग और गृहस्थ-जीवन में विरोध नहीं। सन्तानों, पशुओं, तथा धन सम्पत की प्राप्ति में भी व्यक्ति कल्याण-मार्गी हो सकता है। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)।]

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥४॥

(कल्याणि) हे परमेश्वरीय कल्याणकारिणी शक्ति ! (सर्वविदे) सर्ववेत्ता परमेश्वर के प्रति (मा) मुझे (परिदेहि) प्रदान कर, सुपुर्द कर, समर्पित कर। (सर्वविद्) हे सर्ववेत्ता परमेश्वर ! (यत्) जो (नः) हमारे (द्विपात्) दोपाय (च) और (चतुष्पात्) चौपाए हैं उन (सर्वम्) सब की (रक्ष) रक्षा कर (च) और (नः) हमारी (स्वम्) धन-सम्पत् की रक्षा कर।

[चार मन्त्रों में परमेश्वर को विश्वजित् तथा सर्वविद् द्वारा निर्दिष्ट किया है, और उसकी शक्तियों को त्रायमाण तथा कल्याणी पदों द्वारा निर्दिष्ट किया है। परमेश्वर की त्रायमाणा शक्ति द्वारा परिपालित हो कर मनुष्य को चाहिये कि वह अपने आप को परमेश्वर की कल्याणी शक्ति के प्रति समर्पित कर दे, और कल्याण मार्ग पर चलता हुआ सर्वविद् परमेश्वर के प्रति अपने-आप को समर्पित कर दे।

इन मन्त्रों में आध्यात्मिक-और-गृहस्थ जीवनों में समन्वय दर्शाया है, अतः वेदानुसार परमेश्वर की प्राप्ति के लिये गृहस्थत्याग आवश्यक नहीं। गृहस्थ में रहता हुआ मनुष्य यदि गृहस्थ के नियमों के अनुसार गृहस्थ जीवन व्यतीत करता है, तो वह गृहस्थ में ही परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है।]

सूक्त १०८

(१-५)। शौनकः। मेधा, ४ अग्निः। अनुष्टुभ्; २ उरोबृहती; ३ पथ्याबृहती।

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि।
त्व सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥१॥

(मेधे) हे मेधा शक्ति ! (त्वम्) तू (नः) हमारे लिये (प्रथमा) प्रथम उपादेया है, तू (गोभिः अश्वैः) गौओं और अश्वों के साथ (आ गहि) आ। (त्वम्) तू (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य को रश्मियों के साथ आ, अर्थात् प्रातः काल में आ, (त्वम्) तू (नः) हमारे लिये (यज्ञिया) सत्कार योग्य और संगतियोग्य है।

[मेधा है धारणाशक्ति। जो गुरुमुख से सुना और स्वयं पढ़ा उसे चित्त में स्थिर रखना। प्रातः काल स्वाध्याय का श्रेष्ठ समय है, क्योंकि यह सात्त्विक काल है। गृहस्थ जीवन के लिये गौओं और अश्वों का भी उपार्जन करना आवश्यक है।]

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥२॥

(ब्रह्मण्वतीम्) ब्रह्मसम्बन्ध, अर्थात् आस्तिक, (ब्रह्मजूताम्) वेदद्वारा प्रेरित, (ऋषिष्टुताम्) ऋषियों द्वारा स्तुत, (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियों द्वारा (प्रपीताम्) प्रकर्षरूप में पी गई या प्रवर्धित हुई, (प्रथमाम्) श्रेष्ठ (मेधाम्) वेद विद्या सम्बन्धी धारणावती बुद्धि को (हुवे) मैं आह्वान करता हूं, प्राप्त करता हूं, (देवानाम्) दिव्यगुणों की (अवसे) रक्षा के लिये ।

[जूताम्=जवति गतिकर्मा (निघं० २।१४), तथा जूतिः गतिः प्रीतिः वा (निरुक्त १०।३।२८) । प्रपीताम्=प्र+पा पाने (भ्वादिः), अथवा प्र+ओप्यायी वृद्धौ (भ्वादिः), +प्यायः पी (अष्टा० ६।१।२८) ।]

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि ॥३॥

(याम् मेधाम्) जिस मेधा को (ऋभवः) ऋभु लोग (विदुः) जानते हैं, (याम् मेधाम्) जिस मेधा को (असुराः) असुर (विदुः) जानते हैं, (याम्) जिस (भद्राम्) सुखकारिणी और कल्याणी (मेधाम्) मेधा को (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रार्थद्रष्टा (विदुः) जानते हैं, (ताम्) उस वेदानुमोदित मेधा को (मयि) मुझ में (आवेशयामसि) हम प्रविष्ट करते हैं ।

[समूह में बैठे मेधार्थी हैं (आवेशयामसि); उन में से प्रत्येक (मयि) मेधावेशन का इच्छुक है । ऋभवः=शिल्पी लोग, तथा सत्यानुष्ठान को ज्योति द्वारा प्रकाशमान् महात्मा । यथा 'ऋभव उरु भान्तीति वा । ऋतेन भान्तीति वा । ऋतेन भवन्तीति वा" (निरुक्त ११ । २ । १५) ।

असुराः="असुः प्राणनाम, तेन तद्वन्तः" । प्राणवाले अर्थात् बलिष्ठ (निरुक्त ३।२।८), पञ्चजनाः की व्याख्या में । तथा "असुः प्रज्ञानाम" (निघं० ३।९); असुराः प्रज्ञावन्तः ।]

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥४॥

(भूतकृतः) सत्यकर्मों के करने वाले (ऋषयः) ऋषि, तथा (मेधाविनः) मेधावाले प्रज्ञानी; (याम् मेधाम्) जिस मेधा को (विदुः) जानते हैं,

(तया मेधया) उस मेधा द्वारा (अग्ने) हे ज्ञानमय परमेश्वर ! (माम्) मुझे (अद्य) आज (मेधाविनम्) मेधासम्पन्न प्रज्ञानी (कृणु) कर।

[भूत=भू सत्तायाम् (भ्वादिः)+क्तः । अग्निः=परमेश्वर, यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यः" (यजु० ।३२।१)।]

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥४॥

(मेधाम्) मेधा को (सायम्) सायंकाल में, (मेधाम्) मेधा को (प्रातः) प्रातःकाल में, (मेधाम्) मेधा को (मध्यन्दिनं परि) मध्याह्न काल के आस-पास, (मेधाम्) मेधा को (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) रश्मियों के साथ अर्थात् सूर्योदय काल में, (वचसा) वेदवाणी के [स्वाध्याय] द्वारा (आवेशयामहे) हम चित्त में आविष्ट करते हैं, स्थापित करते हैं।

[स्वाध्याय काल का क्रम है, सूर्योदय, प्रातः, मध्यन्दिन, सायम्।]

सूक्त १०९

(१-३)। अथर्वा । पिप्पली; भैषज्यम् । अनुष्टुभ् ।

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३ तातिविद्धभेषजी ।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥१॥

(पिप्पली) पिपली (क्षिप्तभेषजी) विक्षिप्त चित्त की, या शरीराङ्गों के विक्षेप अर्थात् हिलते-जुलते रहने की, (उत) तथा (अतिविद्धभेषजी) वाण आदि द्वारा गहरा वेध हो जाने की, औषध है। (देवाः) दिव्यगुणी वैद्यों ने (ताम्) उस पिप्पली को (समकल्पयन्) सामर्थ्ययुक्त माना कि (इयम्) यह (जीवितवै) जीने के लिये (अलम्) पर्याप्त है।

[जीवितवै=तुमर्थे "तवै" प्रत्ययः। जीवित रखने के लिये। सम् अकल्पयन्=कृपू सामर्थ्ये [भ्वादिः)।]

पिप्पल्यः१ समवदन्तायतीर्जननादधि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥२॥

(जननात् अधि) उत्पत्तिस्थान से (आयतीः)] आती हुई (पिप्पल्यः) पिप्पलियों ने (सम्) परस्पर मिल कर (अवदन्त, कहा कि (यम्) जिस (जीवम्) जीवित को (अश्नवामहै) विशेषतया हम प्राप्त हो जांय, (सः) वह (पूरुषः) पुरुष (न रिष्याति) न हिंसित हो।

[पिप्पल्यः=वहुवचन द्वारा पिप्पली के नाना भेद सूचित किये हैं। आयतीः="जनन स्थान से आती हुई" द्वारा पिप्पलियों के ताजापन को सूचित किया है। पुरानी पिप्पली की अपेक्षया ताजी पिप्पली गुणाधिक है। हिंसित होना=विनष्ट होना, मरना।]

असुरास्त्वा न्यऽखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः।
वातीकृतस्य भेषजीमथा क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥३॥

(वातीकृतस्य) वातविकार द्वारा उत्पन्न रोग की (भेषजीम्) औषध रूप, और (क्षिप्तस्य) चैत्त—विक्षेप अर्थात् उन्माद या अङ्गविक्षेप रोग की (भेषजीम्) औषध रूप (त्वा) हे पिप्पलो तुझे उद्देश्य कर के, (असुराः) प्राणवान् अर्थात् शरीरबल वालों ने (न्यखनन्) भूमि को खोदा, और (देवाः) व्यवहारी भूमिस्वामियों ने (त्वा) तुझे (पुनः) तदनन्तर (उद् अवपन्) उत्तम बीज को उत्तम विधि से बोया।

[मन्त्र में पिप्पली के कृषिकर्म का वर्णन है। बलवान् मजदूर तो भूमि को खोदते हैं, और भूमिस्वामी बीज बोते हैं। उदवपन्=उद्+डुवप् बीज-सन्ताने छेदने च (भ्वादिः)।]

सूक्त ११०

(१-३)। अथर्वा। अग्निः। त्रिष्टुभ्; १ पंक्तिः।

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥१॥

(हि) निश्चय से [अग्निः, परमेश्वर] (अध्वरेषु) हिंसारहित [आध्यात्मिक] यज्ञों में(ईड्यः) स्तुत्य है,(प्रत्नः) वह पुराना है, [पुरातनकाल से विद्यमान है] ((सनात् च) और सनातन काल का (नव्यः च) तथा अभिनवकाल का (होता) दाता है। (सत्सि) तू हमारे हृदयों में स्थित है। (अग्ने) अग्निनामक परमेश्वर ! (स्वाम्, तन्वम्) निज विस्तृत-

स्वरूप को (पिप्रायस्व) हमारे हृदयों में पूर्णरूप में प्रकट कर. (च) और (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (सौभगम्) सौभाग्य (आ यजस्व) आध्यात्मिक यज्ञ में, प्रदान कर।

[कम् =पदपूरण:, "पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु अनर्थका: कम्, ईम्, इत्, उ इति" (निरुक्त १।३।९)। अथवा "कम्" सुखस्वरूप परमेश्वर "ईड्य:" स्तुत्य है। अध्वरेषु = "ध्वरतिर्हिंसाकर्मा [अकार:] त: प्रतिषेध:" (निरुक्त १।३।८)। होता=दाता, हु दानादनयो: (जुहोत्यादि:)। अग्ने= परमेश्वर (यजु० ३२।१)। पिप्रायस्व = प्रा पूरण (अदादि:)। आ यजस्व =यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु (भ्वादि:)।]

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परिपाह्येनम्।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥२॥

(ज्येष्ठघ्न्याम्) जेठ का हनन करने वाली पत्नी में (जात:) पैदा हुआ है, (एनम्) इसे (यमस्य) मृत्यु के (विचृतो:) विशिष्ट दो हिंसकों सम्बन्धी (मूलबर्हणात्) मूल पुरुष की हिंसा से (परि पाहि) हे परमेश्वर ! [मन्त्र १] तू सर्वत: सुरक्षित कर। (एनम्) इसे (विश्वा = विश्वानि, दुरितानि) सब दुष्फलों से (अतिनेषत्) वह परमेश्वर अतिक्रान्त करे, छुड़ा दे, (दीर्घायुत्वाय) दीर्घायु के लिये, (शतशारदाय) सौ शरद्-ऋतुओं की प्राप्ति के लिये।

[मन्त्रोक्ति देवर की पत्नी की है। पत्नी है जेठ की पत्नी जिस ने कि जेठ का हनन किया है। उससे पुत्र पैदा हुआ है। उसकी सुरक्षा अभीष्ट है, क्योंकि वह मूलपुरुष है भावी वंश परम्परा का। विचृतौ हैं दो तत्त्व, जो कि उत्पन्न पुत्र के हिंसक हैं। वे हैं रजोगुण और तमोगुण। यथा "रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठा:" (अथर्व० ८।२।१)। मन्त्र में ज्येष्ठ शब्द है, जिसे कि "जेठ" कहते हैं, "ज्येष्ठा" शब्द नहीं, जिस का अर्थ "ज्येष्ठा-नक्षत्र" किया जा सके।]

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥३॥

(वीर:) वीर-पुत्र (व्याघ्रे) व्याघ्र सदृश गर्म स्वभाव वाले (अहनि) दिन में (अजनिष्ट) पैदा हुआ है। (नक्षत्रजा:) अक्षतवीर्य-पिता से उत्पन्न

हुआ वह (जायमानः) पैदा होता हुआ (सुवीरः) उत्तम-वीर होता है। (सः) वह (मा वधीत्) न वध करे (पितरम्) पिता का (वर्धमानः) आयु में बढ़ता हुआ, (मा) न (जनित्रीम्) जन्मदात्री (मातरम्) माता की (प्रमिनीत्) हिंसा करे। मिनीत्=मीञ् हिंसायाम् (क्र्यादिः)।

[माता ने ज्येष्ठ अर्थात् देवर की पत्नी के जेठ का हनन किया है (मन्त्र २), जिस से कि वीर या सुवीर पैदा हुआ है। सम्भवतः निज जन्म दात्री माता का बदला लेने की दृष्टि से वीर-पुत्र उस के वध के लिए तय्यार हो जाय, अतः उसे कहा है कि जन्मदात्री माता को तू हिंसा न कर, और न पितृ समान सम्बन्धी किसी पिता का ही वध कर। नक्षत्रजाः =न+क्षत्-वीर्य+"र" वाले से+जाः (उत्पन्न); यथा "अथो नक्षत्राणा-मेषामुपस्थे सोम आहितः" (अथर्व० १४।१।२), सोम=उत्पादक वीर्य; semen. जायमानः सुवीरः=अक्षतवीर्य पिता से उत्पन्न होता हुआ ही वह सुवीर रूप में पैदा होता है, वर्धमान होता हुआ वह निज सुवीरता को प्रकट करता है।]

मन्त्र २, ३ के प्रसिद्धार्थों में:—

(१) ज्येष्ठ=ज्येष्ठा नक्षत्र जो कि अथर्व० १९।७।३ के अनुसार १५वां नक्षत्र है। अथर्ववेद की नक्षत्र गणना कृत्तिका-नक्षत्र से प्रारम्भ होती है। वर्तमान नक्षत्र गणनानुसार ज्येष्ठा १८वां नक्षत्र[1] है।

(२) विचृतौ=ये दो तारे हैं (काण्ड २।८।१; ३।७।४; ६।१२१।३)। इन की व्याख्याएं भी यथास्थान कर दी जायेंगी। ये दो तारे वृश्चिक राशि में हैं, मूलबर्हणात् (मन्त्र २) में मूलनक्षत्र भी वृश्चिक राशि की पूंछ में स्थित है। काण्ड ६।२ में "विचृतोः" का, और "विचृतौ" दो ताराओं का परस्पर अर्थ में भेद है।

सूक्त १११

(१-४)। अथर्वा। अग्निः। अनुष्टुभ्, १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्।

---

१. अथर्ववेद में २८ नक्षत्र माने हैं। यथा "अष्टाविंशानि शिवानि शामानि सह योगं भजन्तु मे" (१९।८।२)। यतः अथर्ववेद में "अभिजित्" नक्षत्र अधिक माना है (१९।७।४)। नक्षत्र २७ माने जाते हैं।

इमं म अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति ।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति ॥१॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (मे) मेरे (इमम्, पुरुषम्) इस पुरुष को (मुमुग्धि) मुक्त कर दे, (यः) जो (अयम्) यह (बद्धः) बन्धा हुआ, (सुयतः) ठीक जकड़ा हुआ (लालपीति) प्रलाप करता रहता है। (अतः अधि) अब से (ते) तेरे लिये हे अग्नि ! (भागधेयम्) भाग (कृणवत्) दिया करेगा, (यदा) जबकि (अनुन्मदितः) यह उन्माद से रहित (असति) हो जायगा ।

[उन्माद=काम क्रोध भय आदि द्वारा चित्तसम्मोह, पागलपन, चित्त-विभ्रम, बुद्धिस्खलन हो जाता है। मन्त्र में यज्ञिय अग्नि को कविता शैली में सम्बोधित किया है। यदानुन्मदितः=उन्मादावस्था में तो हे यज्ञिय-अग्नि ! यह तेरे लिये हविर्भाग देने में असमर्थ है। उन्माद से रहित हो कर यह उन औषधों से आहुतियां तेरे प्रति नियमतः दिया करेगा जिससे उन्माद का पुनः आक्रमण न हो सके। औषधों को आहुतियों से उत्थित धूम फेफड़ों में जाकर रक्त में मिल जाता है, जिससे उन्माद आदि रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।]

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि ॥२॥

(अग्निः) यज्ञियाग्नि (ते) हे उन्मादरोगी तेरे उन्माद को (निशमयतु) नितरां शान्त करे, (यदि ते मनः) यदि तेरा मन (उद्युतम्) उत्तेजित है। (विद्वान्) उन्माद चिकित्सा का जानने वाला मैं तेरे लिये (भेषजम्) औषध (कृणोमि) तय्यार करता हूं, (यथा) जिस प्रकार कि (अनुन्मदितः) उन्माद से रहित (अससि) तू हो जाय।

[अग्नि और भेषज शब्दों द्वारा यह प्रतीत होता है कि अग्नि की सहायता द्वारा औषध तय्यार करनी है। वह है अग्नि में औषध की आहुतियों से उत्थित धूम रूप औषध। इस धूम को नासिका के श्वासों द्वारा गृहीत करना है। इस से धूम विशुद्धरूप में और शीघ्र रक्त में मिल कर उन्माद को शीघ्र निवृत्त कर देता है।]

दैवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोऽसति ॥३॥

(दैवेनसात्) देवों अर्थात् इन्द्रियों द्वारा किये पाप से (उन्मदितम्) उन्माद प्राप्त को, तथा (रक्षसस्परि) राक्षसी स्वभाव और कर्मों से [अथवा परमेश्वर द्वारा प्रदत्त पापफल से] (उन्मत्तम्) उन्मादो को लक्ष्य करके (विद्वान्) ज्ञानी चिकित्सक मैं (भेषजम्, कृणोमि) भेषज करता हूं (यदा =यथा) जिस प्रकार (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असति) वह हो जाय ।

[देव=इन्द्रियां "देवा द्योतनात्मकाश्वसुरारीन्द्रियाणि" महीधर (यजु० ४०।४) । रक्षसः="स एव मृत्युः सोऽमतं सोऽभ्वं स रक्षः" (अथर्व० १३। अनुवाक ४, पर्याय ३, मन्त्र ४ [२५]) । इस उद्धरण में परमेश्वर को "रक्षस्" कहा है। परमेश्वर रक्षक है। वह दुष्कर्मों का दुष्फल देकर मनुष्य को सुपथ पर चलाता है, इस प्रकार वह रक्षा करता है।]

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः ।
पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवाः यथानुन्मदितोऽससि ॥४॥

(त्वा) तुझे (अप्सरसः) अप्सराओं ने (पुनः) फिर (दुः) दिया है, (इन्द्रः) इन्द्र ने (पुनः) फिर, (भगः) भग ने (पुनः) फिर, (विश्वे देवाः) सब देवों ने (पुनः) फिर (त्वा) तुझे (दुः) मेरे प्रति दिया है, (यथा=यदा) जब कि (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (अससि) तू हो गया है।

[मन्त्र में प्राकृतिक और अध्यात्म शक्तियों की सहायता द्वारा उन्माद से रहित होने का कथन हुआ है। अप्सरसः="अग्निः गन्धर्वः, ओषधयः अप्सरसः। सूर्यः गन्धर्वः, मरीचय अप्सरसः। चन्द्रमा गन्धर्वः, नक्षत्राणि अप्सरसः। वातः गन्धर्वः, आपः अप्सरसः। यज्ञः गन्धर्वः, दक्षिणा अप्सरसः। मनः गन्धर्वः, ऋक्सामानि अप्सरसः" (यजु० १८।३८-४३) । इन्द्रः= विद्युत्। विद्युत् के प्रयोग द्वारा या तत्कृत वर्षा जल द्वारा चिकित्सा। इन्द्र अन्तरिक्ष स्थानी देवता है (निरुक्त १०।१।८) । भगः="तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात्" (निरुक्त १२।२।१३) । अर्थात् सूर्योदय से पूर्व का सूर्य का काल, यह प्रभात काल है। इस काल में भ्रमण करने से भी उन्माद से

राहित्य हो जाता है। प्रभात काल के भ्रमण से "सप्त आपः" दिव्यगुणी हो कर पाप प्रवृत्ति से प्रमुक्त कर देते हैं (अथर्व० १४।२।४३-४८)। उन्माद पाप का ही तो परिणाम है (मन्त्र ३) ["सप्त आपः" के लिये देखो अथर्व भाष्य (१४।२।४५) । अप्सरसः= ओषधयः, मरीचयः, आपः, ऋक्सामानि।]

सूक्त ११२

(१-३)। अथर्वा०। अग्निः। त्रिष्टुभ्।

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे॥

(अग्ने) हे सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (अयम्) यह छोटा भाई (एषाम् ज्येष्ठम्) इन अन्य भाइयों में बड़े भाई का (मा वधीत्) वध न करे, अतः (मूलबर्हणात्) वंश परम्परा के मूलभूत भाई की हिंसा से (एनम्) इसे (परिपाहि) सर्वतः सुरक्षित कर। (प्रजानन्) इस घटना को जानता हुआ तू हे प्रधानमन्त्रिन्! इस प्रकार कर कि (सः) वह तू (ग्राह्याः) जकड़ने वाली न्याय व्यवस्था के (पाशान्) फंदों को (विचृत) विशेषतया ग्रथित कर, संगठित कर, (तुभ्यम्) इस कार्य में तुझे (विश्वे देवाः) सब दिव्य अधिकारी (अनुजानन्तु) अनुज्ञा दें, स्वीकृति दें।

[छोटे भाई द्वारा ज्येष्ठ भाई के वध की सम्भावना में, अग्रणी की आज्ञा द्वारा छोटे भाई को पाशों में बान्ध दिया है। माता-पिता के स्वर्गवास हो जाने पर गृह प्रबन्ध ज्येष्ठ भाई के अधिकार में होता है, इसे सहन न कर छोटा भाई उस की हत्या करना चाहता है, इस लिये उसे पाशों में बांध दिया है। परिपाहि=सुरक्षित करने का अभिप्राय है कि इसे बन्दीगृह में सुरक्षित कर, ताकि छोटा भाई यह दुष्कर्म न कर सके। विचृत=वि+चृती हिंसाग्रन्थनयोः (तुदादिः)। मन्त्र में ग्रन्थन अर्थ अभिप्रेत है।]

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन्
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान्॥२॥

(अग्ने) हे सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (त्वम्) तू (एषाम्) इन पिता-पुत्र और माता के (पाशान्) फंदों को (उन्मुञ्च) खोल दे, (येभिः त्रिभिः) जिन तीन पाशों द्वारा (त्रयः) तीन, पिता पुत्र और माता (उत्सिताः) बन्धे हुए (आसन्) थे। (प्रजानन्) इन्हें निरपराधी जानता हुआ (सः) वह तू (ग्राह्याः पाशान्) जकड़न के फंदों को (विचृत) काट दे, (पिता-पुत्रौ मातरम् सर्वान्) पिता पुत्र और माता और शेष सब को (मुञ्च) फंदों से मुक्त कर दे ।

[तीनों को तीन पाशों द्वारा बान्धा हुआ था, अर्थात् प्रत्येक को एक-एक पाश द्वारा । उत्सिताः=उत्+षिञ् बन्धने+क्तः । विचृत=वि+चृती हिंसायाम्, हिंसा है पाशों को काट देना ।]

येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धो अङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च ।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥३॥

(परिवित्तः) परिवेदना वाला (येभिः पाशैः) जिन पाशों द्वारा (विबद्धः) विशेषतया बन्धा हुआ था, और (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्ग में (आर्पितः) आर्ति अर्थात् कष्ट को प्राप्त हुआ-हुआ था, (उत्सितश्च) तथा बन्धा हुआ था, (ते) हे बन्धे हुए ! तेरे बन्धन (विमुच्यन्ताम्) विमुक्त हो जांय, (विमुचः हि सन्ति) क्योंकि तुझे विमुक्त करने वाले [राजनियम] हैं। (पूषन्) हे प्रजापोषक प्रधानमन्त्रिन् । (भ्रूणघ्नि) भ्रूण की हत्या करने वाली स्त्री में (दुरितानि) दुष्फल रूपी दण्डों को (मृक्ष्व) धोकर तू डाल दे ।

[परिवेदना=अतिवेदना, अतिकष्ट । भ्रूणघ्नि=भ्रूणहनि (सायण) सूक्त में ज्येष्ठ की हत्या के प्रकरण में भ्रूण हत्या करने वाली स्त्री का भी कथन किया है, यह दर्शाने के लिये कि राजनियमों द्वारा भ्रूणहत्यारी दण्डनीया है । भ्रूण=भ्र्+ऊन=भरण-पोषण में जो अभी न्यून है ऐसा गर्भस्थ शिशु । छोटा भाई बन्धा हुआ था सम्भावनीय बधक के रूप में । उसे निरपराधी जान कर विमुक्त कर दिया है ।]

सूक्त ११३

(१-३) । अथर्वा । पूषा । त्रिष्टुभ्; ३ पंक्तिः ।

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥१॥

(देवाः) विद्वानों ने (त्रिते) तीन अवयवों वाले विस्तृत प्रकृतितत्त्व में (एतत् एनः) इस पाप को (अमृजत) झाड़ कर विशुद्ध कर लिया, (त्रितः)[1] त्रित नामक प्रकृतितत्त्व ने (एनत्) इस पाप को (मनुष्येषु) मनुष्यों में (ममृजे) झाड़ कर अपने को विशुद्ध कर लिया। (ततः) उन मनुष्यों में से (यदि) यदि (ग्राहिः) पाप की जकड़न ने (त्वा) तुझे (आ नशे) आ घेरा है, तो (ते ताम्) तेरी उस ग्राही को, जकड़न को, (देवाः) वैदिक विद्वान् (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (नाशयन्तु) नष्ट कर दें।

[विद्वांसो वै देवाः (शत० ३।७।३।१०), अर्थात् वैदिक विद्वान्। इन वैदिक विद्वानों ने स्वनिष्ठ पाप को वंदिकविधान द्वारा नष्ट कर दिया, और कहा कि पाप प्रकृति तत्त्व का परिणाम है। जीवात्मा तो विशुद्ध है, उस के साथ जब प्रकृति-तत्त्व का सम्बन्ध होता है तब जीवात्मा पाप में प्रवृत्त होता है। परन्तु प्रकृति-तत्त्व ने, पाप करने में अपराधी मनुष्यों को माना। प्रकृतितत्त्व तो जड़ है। जब चेतन का सम्पर्क जड़ प्रकृति-तत्त्व के साथ होता है तब हो पाप हो सकता है। इस प्रकार पाप करने वाले मनुष्यों के साथ जब संसार में नवागत मनुष्य का सम्पर्क होता है तब उसे भी पापग्राही आ घेरती है। वैदिक विद्वान् वंदिक शिक्षा द्वारा तब उस के पाप को विनष्ट कर देते हैं-यह भाव मन्त्र का है। आ नशे =नशत् व्याप्तिकर्मा (निघं० २।१८)। अमृजत, ममृजे =मृजूष् शुद्धौ (अदादिः)।]

मरीचीर्धूमान् प्रविशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान् ।
नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥२॥

(पाप्मन्) हे पाप! तू (मरीचीः, धूमान्) मरीचियों और धूमों में (प्रविश) प्रवेश कर, (अनु) तत्पश्चात् (उदारान् गच्छ) उदारों को जा

---

१. त्रितः=त्रि+तन् (विस्तारे)+डः (औणादिकः), डित्वात् टिलोपः। प्रकृतितत्त्व तीन अवयवों में विस्तृत है, सत्त्व, रजस् और तमस् अवयवों में।

(उत वा) अथवा (नीहारान्) नोहारों को जा। (नदीनाम्) नदियों के (तान् फेनान्) उन फेनों को (विनश्य) प्राप्त कर। (अनु) तत्पश्चात् (पूषन्) हे पुष्टिदायक परमेश्वर! (दुरितानि) [सब के] दुष्फल पापों को (भ्रूणघ्नि) भ्रूण अर्थात् भरण-पोषण किये जा रहे उदरस्थ बच्चे का हनन करने वाली स्त्री में (मृक्ष्व) धो डाल। इस द्वारा "भ्रूण हनन" को महापाप सूचित किया है।

[मन्त्रप्रतिपादित 'मरीचोः धूमान्, तथा नीहारान्' आध्यात्मिक घटनाएं हैं। यथा "नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरस्सरानि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे" (श्वेताश्व-उपनिषद्, अध्या० २। खण्ड ११)। मन्त्र और उपनिषद् में "मरीचीः, धूम, नीहार" घटनाएं समान हैं। मन्त्रगत मरीचो और उपनिषद् गत अर्क अर्थात् सूर्य, और शशी अर्थात् चान्द की रश्मियां,-ये दोनों तत्त्व भी समान हैं। मन्त्र पठित नोहारान् और उपनिषद्-गत नीहार भी एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। ये उक्त तत्त्व योगाभ्यास में प्रकट होते हैं जोकि ब्रह्माभिव्यक्ति के पूर्वरूप हैं। उपनिषद् में अनल अर्थात् अग्नि और अनिल अर्थात् वायु, खद्योत अर्थात् ताराओं, विद्युत् तथा स्फटिक की अनुभूतियों का भी वर्णन हुआ है, जिन्हेंकि मन्त्र में निर्दिष्ट नहीं किया। मन्त्रोक्त अध्यात्मतत्त्वों के प्रकट हो जाने पर, पाप विनष्ट हो जाते हैं- यह वस्तुतः सत्य है। परन्तु कामनावश गर्भपात करना ऐसा पाप है जो कि वैदिक दृष्टि में विनष्ट नहीं होता। इस दुरित को तो गर्भघातिनी को भुगतना ही पड़ता है। फेनान्=फेनवत् अल्पकालावस्थायी। उदारान्[1]=उदार महात्मा।

तथा

मन्त्र में पाप करने की मानसिक प्रवृत्ति, इन्द्रियों और शरीर द्वारा किये गए पापकर्म, और पापकर्मजन्य रोग—इन सब की निवृत्ति के प्राकृतिक उपायों का भी निर्देश किया है। "मरीचीः" द्वारा सूर्यरश्मि चिकित्सा का, "धूमान्" द्वारा यज्ञपूर्वक यज्ञोत्थ धूम का नासिका द्वारा

१. उदारान्=उदारचेतस् महात्माओं के पास तू जा, पाप विनाश के लिये। यथा "आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम" (अथर्व० २।११।१-५)। विनश्य=वि+नशत् व्याप्तिकर्मा (निघं० २।१८), व्याप्तिः=वि+आप्तिः, प्राप्तिः।

सेवन का, और "नीहार" द्वारा जल को सूचित कर जलचिकित्सा का निर्देश हुआ है। तथा सूक्त के मन्त्र (१) में वर्णित "ग्राहि" पद द्वारा अङ्गों की जकड़न को सूचित कर "गठिया" रोग का निर्देश किया है। इस की निवृत्ति के उपाय भी मरीचीः आदि ही हैं। इन उपायों के साथ उदारचेतस् वैद्यों का परामर्श भी आवश्यक है।]

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥३॥

(त्रितस्य) तीन अवयवों वाले विस्तृत प्रकृतितत्त्व का (अपमृष्टम्) मार्जन द्वारा पृथक् हुआ पाप है (मनुष्यैनसानि) मनुष्यनिष्ठ नाना पाप और यह अपमृष्ट पाप (द्वादशधा) १२ प्रकार से (निहितम्) मनुष्यों में स्थापित हुआ है। (ततः) उन मनुष्यों के सम्पर्क से (त्वा) तुझे (यदि, ग्राहिः, आनशे) यदि पाप की जकड़न प्राप्त हुई है, तो (ते) तेरी (ताम्) उस ग्राहि को (देवाः) वैदिक विद्वान् (ब्रह्मणा) वेद विधि द्वारा अर्थात् वेदोपदेश द्वारा (नाशयन्तु) विनष्ट करें।

[त्रितः=तीन अवयवों वाला विस्तृत प्रकृति तत्त्व। तीन अवयव हैं सत्त्व, रजस् और तमस् और यह प्रकृति तत्त्व संसार में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं तथा आकाश गङ्गा आदि रूपों में फैला हुआ है। त्रितः=त्रि+तन् (विस्तारे)+डः (औणादिकः), डित् होने से टि का लोप। शेष व्याख्या सूक्त के मन्त्र (१) में कर दी है। द्वादशधा=५ पाप ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, ५ कर्मन्द्रियों द्वारा, १ मानसिक विचारों द्वारा, और १ माता पिता के रजस् और वीर्य द्वारा प्राप्त। यह "पित्र्य" एनस् है।]

अनुवाक ११वां सम्पूर्ण

अनुवाक १२

सूक्त ११४

(१-३)। ब्रह्मा। विश्वेदेवाः। अनुष्टुभ्।

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥१॥

(देवाः) हे विद्वानों! (देवासः वयम्) हम विद्वानों ने (यत्) जो (देवहेडनम्) परस्पर देवों, अर्थात् विद्वानों का अनादर (चकृम) किया है, या हम करते हैं, (आदित्याः) हे आदित्य कोटि के विद्वानो! (यूयम्) तुम (नः) हमें (तस्मात्) उस अनादर कर्म से (ऋतस्य ऋतेन) सत्य अर्थात् सदा सत्ता वाले वेद के सत्य ज्ञान द्वारा (मुञ्चत) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[देवाः=विद्वांसः। हेडनम्=अनादर; हेड़ अनादरे (भ्वादिः)। ऋतस्य=ऋतम् सत्यनाम (निघं० ३।१०)। मन्त्ररूप वेद सत्य हैं, सदा सत्तावान् है, नित्य है। उस द्वारा प्रतिपादित ज्ञान भी सत्य है, यथार्थ है, असत्य नहीं। "ऋतम् सत्यं परं ब्रह्म, तत्सम्बन्धिना प्रणवादिरूपेण मन्त्रेण साधनेन नः अस्मान् मुञ्चत वियोजयत" (सायण)। आदित्याः =आदित्य कोटि के ब्रह्मचारी चारों वेदों के विद्वान् होते, तथा सदाचार के विज्ञ और स्वयम् सदाचारी होते हैं, अतः विद्वानों ने उन से प्रार्थना की है।]

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥२॥

(यजत्राः) पूजनीय (आदित्याः) आदित्य कोटि के हे विद्वानो! (इह) इस जीवन में (ऋतस्य ऋतेन) सत्य अर्थात् सदा सत्ता वाले वेद के, सत्य-ज्ञान द्वारा [यज्ञ न करने के पाप से] (नः) हमें (मुञ्चत) मुक्त कर दो

(यद्) जोकि (यज्ञवाहसः) यजनीय कर्मों का वहन अर्थात् सम्पादन करनें वाले हे आदित्यो ! (यज्ञम् शिक्षन्तः) शक्य यज्ञ को करना चाहते हुए भी हम (न उपशेकिम) उसे कर सकने में समर्थ नहीं हो सके ।

[शिक्षन्तः = शक्लृ शक्तौ अस्मात् सनि, अचः स्थाने इस् आदेशः, अभ्यासलोपः (अष्टा० ७।४।५६), (सायण)।]

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः ।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥३॥

(यजमानाः) हम यज्ञ करने वाले, (मेदस्वता) आज्य द्वारा स्निग्ध (स्रुचा) जूहू द्वारा (आज्यानि) आज्यों अर्थात् घृतों की (जुह्वतः) आहुतियां देते हुए, जो (अकामाः) निष्काम हो कर, (विश्वे देवाः[1]) हे सब देवों ! (वः) तुम्हारे उपदेशानुसार (शिक्षन्तः) यज्ञानुष्ठान करना चाहते हुए भी (न उपशेकिम) हम निष्काम यज्ञानुष्ठान करने में शक्त नहीं हुए [उस पाप से हमें छुड़ाओ] ।

[मेदस्वता[2] स्रुचा = मिदि स्नेहने (चुरादिः) । आज्य द्वारा वार-वार यज्ञों के करने से जूहुएं स्निग्ध हो गई हैं । माता, पिता, आचार्य तथा महात्मा उपदेश देते हैं कि यज्ञानुष्ठान निष्काम भावना से किया करो, परन्तु फिर भी यज्ञानुष्ठान हम सकाम हो कर ही करते हैं । इन माता आदि के सदुपदेशों का भग करना पाप है । इस पाप से हम छुटकारा चाहते हैं ।]

सूक्त ११५

(१-३) । ब्रह्मा । विश्वे देवाः । अनुष्टुभ् ।

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वेदेवाः सजोषसः ॥१॥

(यद्) जिस पाप को (विद्वांसः) जानते हुए, (यद्) जिस पाप को (अविद्वांसः) न जानते हुए, (वयम्) हम नें (चकृम) किया है, (एनांसि) उन सब पापों को (विश्वे देवाः) हे सब देवों ! (सजोषसः) हमारे साथ

१. विश्वेदेवाः = मातृदेव, पितृदेव, आचार्य देव, अतिथिदेव, आदित्यदेव आदि ।
२. मेदस्वता स्रुचा = मेदस्वत्या स्रुचा । अथवा "मेदस्वता स्निग्धेन तिलादिवस्तुना यागं निष्पादयन्तः, स्रुचा च आज्यानि च जुह्वतः" ।

प्रीति करने वाले (यूयम्) तुम, (नः) हमें (तस्मात्) उस पाप से (मुञ्चत) छुड़ा दो।

[विश्वे देवाः = देखो सूक्त ११४, मन्त्र ३ की टिप्पणी। मुञ्चत = हमें सदुपदेशों द्वारा भविष्य में ऐसे पापों के करने से बचाओ।]

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम् ।
यूयं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥१॥

(यदि जाग्रत्) यदि जागते हुए, (यदि स्वपन्) यदि सोते हुए [स्वप्नावस्था में] (एनस्यः) पापी मैंने (एनः) पाप (अकरम्) किया है, तो (यूयम्) तुम हे विश्वे देवो ! (मा) मुझे (तस्मात्) उस पाप से (च) और (भव्यम्) भविष्य में हो सकने वाले पाप से (मुञ्चताम्) छुड़ाओ (द्रुपदात् इव) जैसे कि काष्ठनिर्मित पादबन्धन से पाद मुक्त हो जाता है।

[यदि = "एनस्य" को स्मरण नहीं कि उस ने जागते या सोते कोई पाप किया है, परन्तु फिर भी कोई पाप अनजाने हो गया हो, या भविष्य में हो जाय, तो ऐसे पाप से भी मुझे बचाओ। द्रुपदात् = पाप के कारण शासक वर्ग से यदि मेरे पाद में पादबन्धन लग गया हो तो दण्डावधि समाप्त हो जाने पर जैसे पाद-बन्धन से पाद छूट जाता है, वैसे मुझे पाप से छुड़ाओ।]

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
यूयं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥३॥

(द्रुपदात् इव) पादबन्धन से जैसे (मुमुचानः) मुक्त हुआ, (स्नात्वा) स्नान करके (इव) जैसे (स्विन्नः) पसीने से पसीजा हुआ, तथा (पवित्रेण) छाननी द्वारा (इव) जैसे (आज्यम्) घृत शुद्ध हो जाता है वैसे (विश्वे) हे सब देवो ! (यूयम्) तुम (मा) मुझे (एनसः) पाप से (शुम्भन्तु) छुड़ा कर शोभायमान कर दो, या शुद्ध कर दो।

[पवित्रेण = यज्ञ में कुशाघास द्वारा आज्यशोधक पवित्र बनाया जाता है।]

सूक्त ११६

(१-३) । जाटिकायनः । वैवस्वतः । जगती; २ त्रिष्टुभ् ।

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया ।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥१॥

(अन्नविदः) अन्न का लाभ करने वाले (कार्षीवणाः) कृषकों अर्थात् किसानों ने (न विद्यया) न जाने अर्थात् अज्ञानवश, (अग्रे) प्रारम्भ में (निखनन्तः) भूमि का विदारण करते हुए (यद्) जो (यामम्) यमसम्बन्धी दण्डनीय कर्म (चक्रुः) किया है तदर्थ (वैवस्वते) विवस्वान् अर्थात् सूर्य के (राजनि) राजा परमेश्वर के निमित्त, (तत्) उस अन्न को (जुहोमि) मैं आहुति पूर्वक समर्पित करता हूं, (अथ) तदनन्तर (यज्ञियम्) यज्ञपूर्वक प्राप्त (नः) हमें (अन्नम्) अन्न (मधुमत्) मधुर (अस्तु) हो जाय।

[निखनन्तः खनु अवदारणे (भ्वादिः) अवदारण=विदारण, हल द्वारा भूमि का विदारण। कार्षीवणाः="कृषि वनन्ति सम्भजन्ते" इति कृषिवणाः, ते एव कार्षीवणाः, स्वार्थे अण्। विवस्वान्=सूर्य, विवासयति रात्र्याः अन्धकारम्। विवासन अर्थात् स्थान से च्युत करना। अन्न पकने पर प्रथम, यज्ञ द्वारा अन्नाहुतियां परमेश्वर को समर्पित करनी चाहियें, तब कृषक यम सम्बन्धी दण्ड से मुक्त हो जाते हैं। भूमि का विदारण करते समय भूमिष्ठ कीटों का हनन होता है, हनन पाप कर्म है, अतः दण्डनीय है। परमेश्वर "महायम" है (अथर्व० १३।४।५)।]

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति ।
मातुर्यदेन इषितं न आ_न् यद् वा पिताऽपराद्धो जिहीडे ॥२॥

(वैवस्वतः) विवस्वान् के राजा ने (भागधेयम्) अन्न का भाग (कृणवत्) हमें प्रदान किया है, यह भाग (मधुभागः) मधुर भाग हो गया है; परमेश्वर (मधुना) इस मधुर अन्न भाग के साथ (सं सृजाति) हमारा संसर्ग करता रहे। (मातुः) माता से (इषितम्) प्रेषित हुआ (यत्) जो (एनः) पाप (नः) हमें (आगन्) प्राप्त हुआ है (वा) या (यत्) जो पाप (अपराद्धः) अपराधी (पिता) पिता ने (जिहीडे) क्रोधपूर्वक प्रेषित किया है।

[मन्त्र के पूर्वार्ध का सम्बन्ध मन्त्र (१) के साथ है, और उत्तरार्ध का सम्बन्ध मन्त्र (३) के साथ है।

मन्त्र के उत्तर-अर्ध का अभिप्राय निम्नलिखित प्रतीत होता है। परिवार के वे व्यक्ति जोकि अन्न प्राप्ति के लिये परवश हैं, उन का कथन मन्त्र में है। मन्त्रगत "एनः" है पापयुक्त अन्न। अन्न जिसे कि यज्ञपूर्वक परमेश्वर के प्रति समर्पित न कर खाया जाता है वह पापयुक्त अन्न है। वह माता से प्राप्त हो या पिता से,-है पापयुक्त। उस अन्न को, अन्न के लिये परवशियों ने ग्रहण करना स्वीकृत नहीं किया तब पिता क्रुद्ध हो गया। पिता अपराद्धी है, क्योंकि पिता ने परमेश्वर के प्रति समर्पित किये विना अन्न का भोग किया है। यही अभिप्राय मन्त्र (३) का भी है। जिहीडे = हेडः क्रोधनाम (निघं० २।१३)। एनः = पाप। एनः आगन् = पाप आया है। अभिप्राय है "पापयुक्त अन्न" आया है। पाप पद का प्रयोग पापी अर्थात् "पापयुक्त" के लिये भी होता है। यथा "समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयाऽमुया" (अथर्व० २०।७४।५) में "पापिन स्त्री" को "पापा" कहा है। तथा "अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयाऽमुया" (अथर्व० १४।१।२७) में "पापा" द्वारा "रजस्वला पत्नी" का कथन हुआ है। अर्थात् पाप है रजस्, तद्द्वारा पापा है रजस्वला पत्नी।]

यदी॒दं मा॒तुयाद॑ वा पि॒तुर्नः॒ परि॒ भ्रातुः॑ पु॒त्राच्चेत॑स॒ एन॒ आग॑न् ।
याव॑न्तो अ॒स्मान् पि॒तरः॒ सच॑न्ते॒ तेषां॒ सर्वे॑षां शि॒वो अ॑स्तु म॒न्युः ॥३॥

(यदि) यदि (इदम्) यह (एनः) पापयुक्त अन्न (चेतसः) ज्ञानवाली (मातुः) माता से, (यदि वा) अथवा (पितुः) पिता से, (परि भ्रातुः) भ्राता से, (पुत्रात् च) और पुत्र से (नः) हमें (आगन्) आया है, प्राप्त हुआ है, (यावन्तः) जितने भी (पितरः[1]) रक्षक अर्थात् हमारे पालक (अस्मान् सचन्ते) हमारे सम्बन्धी हैं (तेषाम् सर्वेषाम्) उन सब का (मन्युः) हमारे प्रति किया क्रोध (शिवः[2]) कल्याणकारी अर्थात् सुखदायक (अस्तु) हो, अर्थात् हमारे लिये दुःखदायक न हो।

---

१. यह कथन स्वभावसिद्ध है। वे हमारे पितर हैं, रक्षक हैं, अतः उन का मन्यु ऐसा न होगा, जो कि दुःखदायक हो।

२. इदं तत् अनृणः = अयं सः अहम् अनृणः। "इदानीं तेन ऋणेन अनृणः" (सायणः)।

[चेतसः का सम्बन्ध माता, पिता, भाई, पुत्र, इन सब के साथ है, अर्थात् ये सब यह जानते हैं कि कृषि से प्राप्त अन्न की- आहुतियां प्रथम परमेश्वर को समर्पित कर कृष्यन्न का भोग करना चाहिये। परन्तु इन सब ने जानते हुए भी समर्पण नहीं किया। अतः इन द्वारा प्राप्त अन्न एनः है, पापयुक्त है। एसा अन्न न ग्रहण करने पर, अन्न के लिए परवशी हम, इन सब के मन्यु के पात्र बने हैं। शिवम् सुखनाम (निघं० ३।६)।]

सूक्त ११७

(१-३) कौशिकः (अनृणकामः) अग्निः। त्रिष्टुभ्।

अ॒प॒मि॒त्यमप्र॑तीत्तं॒ यदस्मि॑ य॒मस्य॒ येन॑ ब॒लिना॒ चरा॑मि।
इ॒दं तद॑ग्ने अनृ॒णो भ॑वामि॒ त्वं पाशा॑न् वि॒चृतं॑ वेत्थ॒ सर्वा॑न् ॥१॥

(अपमित्यम्) वापिस कर देने योग्य, (अप्रतीत्तम्) परन्तु जिसे वापिस नहीं दिया [ऐसे ऋण वाला] (यदस्मि) जो मैं हूं, (येन बलिना) और जिस बलवान् ऋण के कारण (यमस्य) यम के वश में हुआ (चरामि) मैं विचरता हूं, (अग्ने) हे अग्नि नामक परमेश्वर! (इदम् तत्) यह वह (अनृणः भवामि) ऋण रहित मैं होता हूं [ऋण प्रदान करता हूं], हे अग्नि! (त्वम्) तू (सर्वान् पाशान्) सब पाशों को (विचृतम्) काट देना (वेत्थ) जानता है।

[ऋण है अन्नरूपी ऋण, धान्य का ऋण (मन्त्र २)। अपमित्यम् = अप+मेङ् प्रणिदाने (भ्वादिः) क्यप् छान्दसः। अप्रतीत्तम् = अ+प्रति+दा+क्तः। धातोः तकारादेशः (अच उपसर्गात्तः, अष्टा० ७।४।४७); उपसर्गस्य दीर्घः ("दस्ति" अष्टा० ६।३।१२४)। ऋण बली है बलवान् है। इसे वापिस न करने पर मुकदमें हो जाते, और उत्तमर्ण द्वारा लड़ाई तथा मार-पीट हो जाती है।]

इ॒हैव सन्तः॒ प्रति॑ दद्म एनज्जी॒वा जी॒वेभ्यो॒ नि ह॑राम एनत्।
अ॒प॒मित्य॑ धा॒न्यं१ यज्ज॒घसा॒हमि॒दं तद॑ग्ने अनृ॒णो भ॑वामि ॥२॥

(इह एव) यहां हो (सन्तः) विद्यमान रहते (एनत्) इस ऋण को (प्रति दद्मः) वापिस हम दे देते हैं, (जीवाः) जीवित हम (जीवेभ्यः) जीवित ऋण दाताओं के लिए (एनत्) इस ऋण को (निहरामः) नियम

से या सम्पूर्णतया चुका देते हैं। (धान्यम्) धान्य को (अपमित्य) मापपूर्वक अपाकृत करके (अहम्) मैंने (यत्) जो धान्य (जघस) खाया है (अग्ने) हे अग्निनामक परमेश्वर ! (इदम् तत्) यह वह मैं (अनृणः) ऋण रहित (भवामि) होता हूं।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् अनृणा आक्षियम ॥३

(अनृणाः) ऋण रहित हों(अस्मिन् लोके)इस ब्रह्मचर्य लोक में, आश्रम में, (अनृणाः) ऋणरहित हों, (परस्मिन्) परले लोक में, गृहस्थाश्रम में। (तृतीये) तीसरे लोक में, वानप्रस्थाश्रम में (अनृणाः)ऋण रहित (स्याम) हम हों। (ये) जो (देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान और पितृयान लोक हैं (सर्वान् पथः) इन सब पथों में (अनृणाः) ऋण रहित हुए (आ क्षियेम) अगले-अगले आश्रम में आ कर हम वास करें।

[अभिप्राय यह है कि किसी भी आश्रम में हम किसी से ऋण ग्रहण न करें। पितृयाण-पथ है गृहस्थाश्रम, शेष आश्रम हैं देवयानपथ। अनृणाः= दो प्रकार के ऋण होते हैं लौकिक और वैदिक। लौकिक ऋण है धान्यादि का या नकद रुपयों का। वैदिक ऋण तीन हैं ऋषिऋण देव ऋण तथा पितृ ऋण। मनुष्य के जन्म लेते ही वह इन तीन ऋणों का ऋणी हो जाता है। यथा "जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः" (तै० ६।३।१०।५)।]

सूक्त ११८

(१-३) कौशिकः। अनृणकामः। अग्निः। त्रिष्टुभ्।

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः ॥१॥

(अक्षाणाम्) इन्द्रियों के (गत्नुम्) गन्तव्य, प्रापणीय विषयों को (उपलिप्समानाः) उपलब्धि चाहते हुए, (हस्ताभ्याम्) हाथों द्वारा (यत्[1]) जो (किल्बिषाणि) पाप (चकृम) हम ने किये हैं, (उग्रं पश्ये) उग्र अर्थात् सच्चाई पूर्वक देखने वाली, तथा (उग्रजितौ) तथा सच्चाई पूर्वक विजय

१. यत्=यानि किल्विषाणि।

पाने वाली (अप्सरसौ) रूपवती दो महिलाएं (अद्य) आज अर्थात् प्रतिदिन (नः) हमारे (ऋणम्) ऋण को (अनु) राजकीय नियमानुसार (दत्ताम्) उत्तमर्णों को दें।

[मन्त्र में दो अप्सराओं का वर्णन है। ये हैं दो रूपवती महिलाएं। यथा "अप्स इति रूपनाम, तद्रा भवति रूपवती" (निरुक्त ५।३।१५; उर्वशी पद(४७)। ये दोनों राष्ट्र द्वारा नियुक्त न्यायाधीश हैं। ये दोनों राष्ट्र में हुए "ऋण के आदान और प्रतिदान या प्रत्यादान सम्बन्धी विवादों की निर्णायिकाएं हैं। दोनों मिलकर फैसला करती हैं, दोनों न्यायसभा रूप [Court] हैं। उग्रंपश्ये=प्रथमा विभक्ति द्विवचन का रूप है जो कि "अप्सरसौ" का विशेषण है। इसी प्रकार उग्रजितौ भी "अप्सरसौ" का विशेषण है। ऋत अर्थात् सत्य है उग्र। यथा "ऋतमुग्रम्" (अथर्व० १२।१।१)। ऋतम् सत्यनाम (निघं० ३।१०)। ये दो महिलाएं ऋण के दाता और ग्रहीता मे ऋण सम्बन्धी विवाद में सत्य को देख कर फैसला कर देती हैं, अतः सत्य के कारण इन की सदा विजय होती है, इनके दिये फैसले को अन्तिम फैसला माना जाता है, और कहीं अपील नहीं होती। "अनुदत्तामृणम्" का यह अभिप्राय है कि फैसले को ऋणराशि को अदालत में जमा कर दिया जाता है और न्यायाधीश स्वयं ऋणराशि उत्तमर्ण को दे देते हैं। उत्तमर्ण है ऋणदाता और अधमर्ण है ऋण ग्रहीता। मन्त्र में विषयोपलब्धि, पाप कर्म, और धन का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया । असंयमी व्यक्ति ऋण द्वारा प्राप्त धन का भी, पापकर्म में प्रयोग कर देता है।]

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥२॥

(उग्रंपश्ये) उग्र अर्थात् ऋतपूर्वक, सत्यपूर्वक देखने वाली, (राष्ट्रभृत् =राष्ट्रभृतौ) तथा राष्ट्र का भरण-पोषण करने वाली [अप्सरसौ (मन्त्र १)], (किल्बिषाणि) ऋण सम्बन्धी पापों के (अनु) अनुसार जो पाप हमने किये हैं, और (अक्षवृत्तम्,अनु) न्यायालय सम्बन्धी वर्ताव के अनुसार (यत्) जो ऋण सम्बन्धी पाप हम ने किया है, (नः) हमारे (एतत्) इस पापसम्बन्धी ऋण को (दत्तम्) तुम दोनों उत्तमर्ण को दे दो। (नः) हमारी (ऋणात् एर्त्समानः) ऋणराशि से आक्षिप्त हुई अर्थात् स्वतः प्राप्त तथा शोभा से युक्त (ऋणम्) सूद को चाहता हुआ उत्तमर्ण, (यमस्य) नियन्ता अर्थात् न्यायाधीश के (लोके) न्यायालय में (अधिरज्जुः) हाथ में रज्जु अर्थात् रस्सी ले कर (न आयत्) न आए।

[अक्ष:=Legal, Procedure, a law suit (आप्टे)। एत्संमानः= एच्छमानः (सायण)। अथवा ईर क्षेपे (चुरादिः)+तीस भूष अलङ्कारे (चुरादिः)+शप्+मुक् [आने मुक् (अष्टा० ७।२।८२)+शानच्] क्षेपे= आक्षिप्त[1] हुई। उग्रंपश्ये=प्रथमाविभक्ति द्विवचनान्त। राष्ट्रभृत्=राष्ट्रभृतौ। दोनों अप्सराएं फैसले सच्चाई पूर्वक करती हैं, अतः राष्ट्र का भरण-पोषण करती है।]

यस्मा॑ ऋ॒णं यस्य॑ जा॒याम॒ुपैमि॒ यं याच॑मानो अ॒भ्यैमि॑ देवाः ।
ते वाचं॑ वादि॒षुर्मोत्त॑रां॒ मद्दे॑वप॒त्नी अ॑प्स॒रसा॒वधी॑तम् ॥३॥

(यस्मै) जिस प्रयोजन के लिये (याचमानः) ऋण की याचना करता हुआ, (यस्य) जिस की (जायाम्) पत्नी के (उप) पास (एमि) मैं जाता हूं, तथा (देवाः) हे व्यवहार[2] कुशल व्यापारियों ! (यम्) जिस पुरुष के (अभि) संमुख (एमि) मैं जाता हूं, (ते) वे [देव] (मा=माम्) मुझे लक्ष्य करके (उत्तराम्) उत्कृष्ट (वाचम्) वाणी (वादिषुः) बोलें, (मत्) मुझ ऋण-याचक से कथित इस कथन को (देवपत्नी) हे देवों की पत्नी (अप्सरसौ) दो रूपवती महिलाओ, न्यायाधीशो ! (अधीतम्) स्मरण रखो।

[मैं जिस भी प्रयोजन के लिये, जिस किसी महिला से, या जिस किसी पुरुष से ऋणयाचना करु, इस सम्बन्ध में मेरी कोई निन्दा न करे, अपितु प्रशंसा ही करे कि अपनी उन्नति के लिए ही यह ऋण याचना कर रहा है। यह मेरा निजकर्तव्य है कि मैं अपनी और अपने परिवार की उन्नति के लिये ऋण लेता हूं। यदि कोई इस सम्बन्ध में मेरी निन्दा करता है तो वह दण्डनीय हो,—यह सदा स्मरण रखो।]

सूक्त ११९

(१-३)। कौशिकः। अनृणकामः। अग्निः। त्रिष्टुभ्।

---

१. उत्तमर्ण द्वारा दिये गये ऋण और उस पर के सूद को उत्तमर्ण को वापिस कर देना, यह राजकीय नियम तथा सामाजिक प्रथा द्वारा स्वतः सिद्ध है।

२. देवाः=दिवु क्रीडाविजिगीषा "व्यवहार" आदि (दिवादिः), व्यवहार= व्यापार।

यद्दीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि ।
वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

(अदीव्यन्) व्यापार न करता हुआ (अहम्) मैं (यद् ऋणम्) जो ऋण (कृणोमि) करता हूं, लेता है (अग्ने) हे अग्नि ! अग्रणी ! (अदास्यन्) जानता हुआ कि इसे वापिस न कर सकूंगा, फिर भी (संगृणामि) प्रतिज्ञा कर देता हूं [कि वापिस कर दूंगा], (वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हित करने वाला ज्ञानाग्नि सम्पन्न, (अधिपाः) सर्वाधिष्ठातृ रूप होकर पालक, (वसिष्ठः) सर्वत्रवासी परमेश्वर, (नः) हमें (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मियों के लोक को प्राप्त करने में (उन्नयाति) समुन्नत करे।

[आर्थिक कष्टापन्न व्यक्ति, निज आवश्यकता से बाधित होकर, ऋण लेता है, और ऋण दाता के प्रति प्रतिज्ञा करता है कि मैं ऋण राशि को वापिस कर दूंगा, यद्यपि वह जानता है कि शायद मैं वापिस न कर सकूं, ऐसी परिस्थिति में वह परमेश्वर से समुन्नति की आशा प्रकट करता है।]

वैश्वानराय प्रतिवेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु ।
स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम ॥२॥

(यदि) यदि (देवतासु) देवताओं के नामों पर (ऋणम्) ऋण के उद्देश्य से (संगरः) प्रतिज्ञा मैंने की है तो उसे (वैश्वानराय) सब नर-नारियों का हित करने वाले परमेश्वर के लिये (प्रतिवेदयामि) मैं विज्ञापित कर देता हूं. (सः) वह वैश्वानर (एतान् सर्वान् पाशान्) इन सब पाशों को (विचृतम्) काटना (वेद) जानता है, (अथ) विज्ञापना के पश्चात् (पक्वेन) निजकर्मों के परिपक्व फल के (सह) साथ (संभवेम) हम संगत हों।

[वैश्वानर सब पाशों को काटना तो जानता है, परन्तु है वह न्यायकारी। कर्मों का फल वह न्यायपूर्वक देता है। जो हम ने देवताओं के नामों पर प्रतिज्ञाएं कीं, जिन्हें कि वैश्वानर को विज्ञापित कर दिया, वैश्वानर उन्हीं के आधार पर हमें कर्मफल देगा, अतः हमें निजार्जित कर्मफलों को पा कर संतुष्ट रहना चाहिये, यह अभिप्राय है।]

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम् ।
अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥३॥

(पविता) पवित्र करने वाला (वैश्वानरः) सब नरनारियों का हित करने वाला परमेश्वर (मा) मुझ (पुनातु) पवित्र करे, (यत्) जो कि (संगरम्) ऋण वापिस कर देने की प्रतिज्ञा को, तथा (आशाम्) ऋणप्राप्त करने को आशा को (अभि) लक्ष्य करके (धावामि) दौड़धूप मैं करता हूं। (मनसा) मन से (अनाजानन्) पूर्णतया न जानता हुआ भी [कि मैं ऋण को वापिस करूंगा या नहीं] जो मैं (याचमानः) ऋण याचना करता हूं (तत्र) उस सम्बन्ध में (यत्) जो (एनः) पाप है (तत्) उसे (अपसुवामि) मैं दूर प्रेरित करता हूं, हटाता हूं।

[अप सुवामि=अप+षू प्रेरणे (तुदादिः)। "अनाजानन्" होते हुए भी, "वापिस कर दूंगा" यह प्रतिज्ञा करके ऋणग्रहण करना, ऋणदाता को धोखा देना है, यह पाप है। इसे भविष्य में न करने का संकल्प ऋण-ग्रहीता करता है, और इस निमित्त वह "पुनातु मा" द्वारा "पविता" परमेश्वर से मानसिक पवित्रता की अभिलाषा करता है।]

सूक्त १२०

(१-३)। कौशिकः। मन्त्रोक्त देवता। १ जगती; २ पंक्तिः; ३ त्रिष्टुभ्।

यदुन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति
सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

(यत्) जो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष सदृश पालनकर्त्ता भाई को [मन्त्र २], (पृथिवीम्) पृथिवी सदृश (मातरम्) निर्माण करने वाली माता को, (उत) तथा (यद् वा) अथवा (द्याम्) द्युलोक सदृश बीज प्रदाता (पितरम्) पिता को (जिहिंसिम) हमने कष्ट दिया है, (तस्मात्) उस पाप से (अयम्) यह (गार्हपत्यः) ब्रह्माण्डगृह का पति (अग्निः) वैश्वानर अग्नि [सूक्त ११९ मन्त्र १-३] (नः) हमें (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मी वर्ग के लोक की ओर (उत् इत् नयाति) पाप कर्म से उठाकर अवश्य ले जाये, या ले जाता है, पहुंचा दे, या पहुंचा देता है।

[हमारे शरीर पार्थिव हैं, पृथिवी से निर्मित हुए हैं, हमारे शरीरों का निर्माण भी माताओं के शरीरों से हुआ है। इस निर्माण में बीज, पिताओं

से मिलता है। अथर्व० (१४।२।७१) में "द्यौरहं पृथिवी त्वम्" द्वारा वर, वधू को कहता है कि मैं द्यौः हूं और तू पृथिवी है। इसका भी अभिप्राय यह है कि मैं बीज प्रदाता हूं, और तू बीज का ग्रहण करने वाली है।]

भूमिर्माताऽदितिर्नो जनित्रं भ्राताऽन्तरिक्षमभिशस्त्या नः ।
द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव
पत्सि लोकात् ॥२॥

(भूमिः माता) भूमि सदृश [पालिका] माता, जो कि (नः) हमें (जनित्रम्) शारीरिक जन्म देने वाली (अदितिः) तथा दीनता के भावों से रहित है, स्वावलम्ब स्वभाव वाली है, तथा (अन्तरिक्षम्, भ्राता) अन्तरिक्ष सदृश भरण-पोषण करने वाला भाई (नः) हमें (अभिशस्त्या) मिथ्या अपवादों से [सायण] सुरक्षित करें। (द्यौः) द्युलोक के सदृश (पिता) पिता हमें (पित्र्यात्) पिता से प्राप्त होने वाले दोष से हटा कर (शम् भवाति) सुखदायक हो। [हे पुत्रः] हे पुत्र ! दोषों से रहित और (जामिम् ऋत्वा) कुलस्त्री को विवाह विधि से प्राप्त करके तू (लोकात्) सुकर्मी वर्ग के लोक से (मा) न (अवपत्सि) अवपतन कर, गिरावट को न प्राप्त हो।

[अदितिः=अदीना, देवमाता, देवसदृश पुत्रों की माता। शरीर इन्द्रियां तथा चित्त में जब रजस्-तमस् का प्राधान्य हो जाता है तो अभिशस्ति होती है, प्रकृति के सत्त्वगुण के अतिरेक में अभिशस्ति, अर्थात् निन्दा नहीं होती। अन्तरिक्ष वर्षा द्वारा जल प्रदान कर, भ्राता के सदृश भरण-पोषण करता है। जामिः "स्वसा कुलस्त्री वा" (उणा० ४।४४, दयानन्द) माता और भाई का समुचित आदर न करना, और प्रकृति के राजस-तामस भोगों में लिप्त रहना,—यह है अभिशस्ति, लोकापवाद, निन्दा का कारण।]

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥३॥

(स्वायाः) अपनी (तन्वः) तनू के (रोगम्) रोगों को (विहाय) त्याग कर, (सुहार्दः) उत्तम हृदयों वाले, (सुकृतः) सुकर्मी (यत्र) जहां (मदन्ति) मोद-प्रमोद करते हैं, (अश्लोणाः[१]) पङ्गुपन से रहित, और (अङ्गैः) अङ्गों

१. मन्त्रानुसार तनू के रोगियों, और विकृत अङ्ग वालों को गृहस्थ का निषेध किया है।

से (अह्रुताः[1]) अकुटिल हुए, (तत्र) उस (स्वर्गे) स्वर्ग में (पितरौ) माता-पिता का (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (पश्येम) हम देखें।

[सुहार्दः=जिनके हृदयों में भक्ति, श्रद्धा, प्रेम का निवास है। सुकृतः=परोपकार, यज्ञ याग आदि करने वाले। "माता, पिता, तथा पुत्रों को स्वर्ग में देखें"—इस कथन से प्रतीत होता है कि मन्त्र में "गृहस्थ" को स्वर्ग कहा है। महर्षि दयानन्द के अनुसार पृथिवीलोक से अतिरिक्त लोकलोकान्तरों में भी मनुष्य आदि का निवास है, [अतः सम्भव है कि सत्त्वगुण के अतिरेक से ब्रह्माण्ड में कहीं स्वर्गलोक तथा नाकलोक भी हों] (सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास ८; पृ० ३६०, रामलालकपूर ट्रस्ट द्वितीय सस्करण)।]

सूक्त १२१

(१-४)। कौशिकः। मन्त्रोक्त देवताः। १, २ त्रिष्टुभ्; ३, ४ अनुष्टुभ्।

विषाणा पाशान् वि ष्याऽध्युस्मद् ये उत्तमा अधुमा वारुणा ये।
दुःष्वप्न्यं दुरितं निष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

हे जीवात्मन्! तेरी शक्ति (विषाणा) दुःखान्तकारिणी है, (अस्मत्, अधि) हम से (पाशान्) पाशों अर्थात् फन्दों को (विष्य) काट दे, उनका अन्त करदे, (ये) जो पाश कि (उत्तमाः अधमाः) उत्कृष्ट और निकृष्ट हैं, (ये) जो (वारुणाः) वरुण-परमेश्वर ने [हमारे कर्मों के अनुसार] हम पर डाले हैं। (अस्मद्) हमसे (दुष्वप्न्यम्[2]) बुरे स्वप्नों से होने वाले (दुरितम्) दुष्फल को (अस्मत् निःस्व) हमसे निर्गमय, निकाल दे, पृथक् कर दें, (अथ) तदनन्तर (सुकृतस्य) सुकर्मियों के (लोकम्) लोक को (गच्छेम) हम जाए. प्राप्त हों। निष्व=निः स्व=निः+षू प्रेरणे (तुदादिः)।

---

१. मन्त्रानुसार तनू के रोगियों, और विकृत अङ्ग वालों को गृहस्थ का निषेध किया है।

२. दुष्वप्न्य दो प्रकार का है जाग्रद् दुष्वप्न्यं स्वप्ने दुष्वप्न्यम् (अथर्व० काण्ड १६, अनुवाक २, पर्याय सूक्त २, मन्त्र ६)। अर्थात् एक तो जाग्रत् अवस्था का दुष्वप्न्य और दूसरा स्वप्नावस्था में होने वाला दुष्वप्न्य। स्वप्नावस्था का दुष्वप्न्य तो बुरे संस्कारों का परिणाम है, और ये बुरे संस्कार जाग्रद् अवस्था के परिणाम हैं। जाग्रद् दुष्वप्न्य हैं

[विषाणा=वि+षो अन्तकर्मणि (दिवादिः) वरुण और उसके पाशों के वर्णन के लिये देखो (अथर्व० ४।१६।१-९)। सुकृतस्य लोकम्="सुकृतस्य पुण्यस्य फलभूतं लोकम्, इमं च अमुं च गच्छेम प्राप्नुवाम" (सायण)। "इमम्" द्वारा ऐहलौकिक, तथा "अमुम्" द्वारा पारलौकिक अर्थात् दो "सुकृत लोक" सायणाचार्य को अभीष्ट हैं। मन्त्र में जीवात्मा की आत्मिक शक्ति को सूचित किया है, जीवात्मा की आध्यात्मिक शक्ति के जागरण का परिणाम दर्शाया है।]

यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां
बध्यसे यच्च वाचा ।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति
सुकृतस्य लोकम् ॥२॥

हे जीवात्मन् ! (यद्) जो (दारुणि) दारुवत् ज्वलनीय स्थूल शरीर में (बध्यसे) तू बन्धा हुआ है, (यत् च) और जो (रज्ज्वाम्) स्थूल शरीर की नस-नाड़ीरूप रस्सी में बन्धा हुआ है, (यद्) जो (भूम्याम्) भूमि में अर्थात् पार्थिव-भोगों में (बध्यसे) तू बन्धा हुआ है, (यत् च) और जो (वाचा) वाक् आदि इन्द्रियों द्वारा तू बन्धा हुआ है, (तस्मात्) उस प्रत्येक बन्धन से (अयम्) यह (गार्हपत्यः अग्निः) ब्रह्माण्डगृह के पति द्वारा प्रदत्त ज्ञानाग्नि (नः) हमें या हमारे सम्बन्धी तुझ को, (उद्) उत्कृष्ट करके, (सुकृतस्य लोकम्) सुकृत के लोक की ओर (नयाति) ले चले, या ले जाती है। अथवा ब्रह्माण्ड-गृह का स्वामी अग्निनामक परमेश्वर नयाति।

[समग्र सूक्त में "प्रतीयमान आध्यात्मिक भावनानुसार" मन्त्रार्थ किया गया है। मन्त्र (३) में "अमृतस्य" पद, सूक्त की आध्यात्मिकता का सूचक है। अमृत है मोक्ष, जन्म-मरण से मुक्त हो जाना, छूट जाना।]

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।
प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम् ॥३॥

(भगवती) सौभाग्य वाले (विचृतौ) दो विचृत (नाम) नाम (तारके)

जाग्रद् अवस्था की दूर् अनुभूतियां बुरे कर्म, तथा बुरे विचार और बुरे संकल्प। अतः दुष्वप्न्य-दुरितों को दूर करने के लिये जाग्रद्-दुष्वप्न्यों पर संयम चाहिये।

तारे (उदगाताम्) उदित हुए हैं, वे (इह) इस जीवन में (अमृतस्य) न मरने का [सौभाग्य] (प्रयच्छताम्) प्रदान करें, (बद्धक) बन्धे हुए [जीवात्मा को] (मोचनम्) मुक्ति (प्रैतु) प्राप्त हो।

[भगवती=भगवत्यौ; यतः "तारके" द्विवचन में है। विचृतौ दो तारे वृश्चिक राशि में हैं, इन्हें मूल नक्षत्र कहते हैं। यथा "मूलनक्षत्रस्य विचृत् इति संज्ञा (सायण); (अथर्व० १९।७।३) में भी "मूल" नक्षत्र कहा है। यथा "अरिष्टमूलम्"। अरिष्ट का अर्थ है अहिंसक। इसलिये मूल-तारा को भगवती कहा है, सौभाग्य वाली। यह "बद्धकमोचन[1]" है, अतः जीवात्मा के लिये सौभाग्यप्रदा है। बद्धक में स्वार्थ में 'कन्" है।

परन्तु "विचृतौ" का पूर्वदिशा में उदय तो प्रतिवर्ष होता है, तब तो भूमिष्ठ सब जीवित प्राणियों की मुक्ति हो जानी चाहिये, परन्तु ऐसा हो नहीं रहा। अतः "विचृतौ" तारों का कुछ और ही अभिप्राय है। योगदर्शन में "तारक" का वर्णन है। यथा "तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रम चेति" (विभूतिपाद ४४)। "तारक[2]" ज्ञान भवसागर से तैरा देता है। मन्त्र पठित "तारके[2]" भी तैराने वाले हैं; "तारके" दो तारा। योगदर्शन कथित "तारक" ज्ञान भी द्विविधरूप वाला है, एक है "विवेकज ज्ञान", और दूसरा है "योग प्रदीप" जो कि विवेकज-ज्ञान का अंशरूप है जिसे कि मधुमती-भूमिक कहते हैं। यह है "ऋतम्भरा प्रज्ञा" (योगदर्शन समाधिपाद, ४८)। तारकज्ञान की विशेष व्याख्या के लिये देखो व्यासभाष्य। "तारकें" को विचृतौ कहा है। विचृतौ=वि (विशेषेण)=चृतौ (हिंसाग्रन्थनयोः), हिंसार्थ अभिप्रेत है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की हिंसा अर्थात् नष्ट हो जाना, और जीवात्मा का कैवल्य हो जाना, उस अकेले का बचा रहना। "विचृतौ तारके" के सम्बन्ध में निम्नलिखित दो मन्त्र भी विशेष प्रकाश डालते हैं। यथा—

उदगातां भगवतो विचृतौ नाम तारके।
विक्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ (अथर्व० २।८।१)

---

१. बद्ध है जीवात्मा, तीन शरीरों में, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर में। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर से तो कालिक मोचन हो जाता है। परन्तु शेष दो शरीरों में जीवात्मा बन्धा रहता है, इनसे भी मोचन है मुक्ति अर्थात् मोक्ष।

२. तारक भी द्विविध हैं, और तारके भी दो हैं, दोनों का अर्थ है "तैराने वाले"।

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ।। (अथर्व० ३।७।४)

इन दो मन्त्रों से दो पाशों से मुक्ति का कथन हुआ है। अधम पाश है स्थूलशरीर, और उत्तमपाश है कारण शरीर। इन दोनों के मध्य में है सूक्ष्म शरीर। अधम और उत्तम शरीर रूपी दो पाशों से मुक्ति की याचना द्वारा, मध्यशरीर रूपी पाश से मुक्ति स्वतः सम्पादित सिद्ध है।]

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय ॥४॥

(विजिहीष्व) [हे अविद्या !] तू विगत हो जा, हट जा, (लोकम्, कृणु) और हे तारक ज्ञान तू आलोक अर्थात् प्रकाश कर, (बद्धकम्) बन्धे जीवात्मा को (बन्धात्) शारीरिक बन्ध से (मुञ्चासि) तू मुक्त कर। हे जीवात्मन् ! तू (सर्वान् पथः) सब पथों में (अनुक्षिय) गमन कर, तथा उनमें निवास कर, (इव) जैसे कि (योन्याः) माता की योनि से (प्रच्युतः) च्युत हुआ, पैदा हुआ (गर्भः) नवजात शिशु [अनिरुद्धगति से] हिलता जुलता है।

[जैसे नवजात शिशु स्वयमेव अनिरुद्ध गति करता है,वैसे तू भी अनिरुद्धगति से सब पथों में गमन कर। पथ नाना हैं सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र आदि की गतियों के पथ नाना हैं, इन पथों में तू गमन कर। मुक्त जीवात्मा स्वेच्छापूर्वक इन मार्गों में गति करता है। विजिहीष्व=वि+ओहाङ् गतौ (जुहोत्यादिः)। क्षिय=क्षि निवासगत्योः (तुदादिः)। "पथः अनु क्षिय" पर ऋग्वेद के निम्न मन्त्र विशेष प्रकाश डालते हैं। यथा—

मुनयो वातरशना, वातस्यानु ध्राजिं यन्ति ॥२॥

मुनि वायुरूपी रस्सी द्वारा, वायु की गति के अनुसार अन्तरिक्ष में विचरते हैं।

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम् ॥३॥

मुनिभाव में अति मोद प्राप्त करते हुए हम वायुओं पर आस्थित हुए हैं।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् मुनिः ॥४॥

मुनि अन्तरिक्ष द्वारा उड़ता है, और सब रूपों को जो कि नीचे भूमि पर हैं, उन्हें देखता है।

वातस्याश्वो वायोः सखा । उभौ समुद्रावा क्षेति,
यश्च पूर्व उतापरः ॥५॥

वायु इसका अश्व है, वायु का यह सखा है। यह दोनों समुद्रों पर आ निवास करता है, जो कि पूर्व का समुद्र है और अपर अर्थात् पश्चिम का है।

[ये उद्धरण ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १३६; मन्त्र १ से ७ में से हैं। इन द्वारा भी यह ज्ञात होता है कि मुनि या योगी अन्तरिक्ष में भिन्न-भिन्न पथों में गति कर सकते हैं।]

सूक्त १२२

(१-५)। भृगुः। विश्वकर्मा। त्रिष्टुभ्; ४, ५ जगती।

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥१॥

(विश्वकर्मन्) हे विश्व के कर्त्ता! तू (ऋतस्य) सत्यज्ञान का (प्रथमजाः) प्रथमजनयिता है, (विद्वान्) यह जानता हुआ (एतम्, भागम्) इस भाग को (परिददामि) [तेरे नाम पर] मैं दान में देता हूं। (अस्माभिः) हम पारिवारिकजनों द्वारा (दत्तम्) दिया गया यह भाग, (जरसः परस्तात्) हमारी जरावस्था के पश्चात् भी, (अच्छिन्नम्, तन्तुम्) न कटें तानों के विस्तार रूप में रहे, (अनु) तत्पश्चात् (सं तरेम) हम सब दाता, भवसागर तैर जांय।

[परिवार की आमदनी का एक निश्चित भाग, परिवार का मुखिया दान रूप में देता है, और परमेश्वर के नाम पर गुप्तरूप में देता है, निज-नाम प्रकाशित नहीं करता। यह सात्त्विक दान है। जरावस्था के पश्चात् भी शेष पारिवारिकजन अच्छिन्नरूप में दान देने की पारिवारिक प्रथा को जारी रखते हैं, और जरापन्न व्यक्ति गृहत्याग कर या गृह में ही रहते हुए, मोक्ष साधक जीवन चर्या कर, भवसागर से तैर जाने के अभिलाषी हैं।]

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥२॥

(एके) कई, दान के (ततम्) विस्तृत [न करें, अच्छिन्न मन्त्र १] (तन्तुम्) (एके) कई, दान के (ततम्) विस्तृत [न करें, अच्छिन्न मन्त्र १] (तन्तुम्) तान्ते के (अनु) अनुसार (तरन्ति) तैर जाते हैं, (येषाम्) जिन्होंने, कि (अयनेन) उत्तराधिकार मार्ग से प्राप्त (पित्र्यम्) पैतृक धन को (दत्तम्) दान में दे दिया है। (एके) और कई (अबन्धु) जो कि बन्धुरहित हैं वे (ददतः) पैतृक धन को देते हुए (प्रयच्छन्तः) सत्कार पूर्वक देते हुए, तैर जाते हैं, (चेत्) यदि (दातुम् शिक्षान्) इच्छापूर्वक देने में शक्ति रखते हों। यह द्विविध (सः) वह प्रसिद्ध (स्वर्गः एव) स्वर्ग ही है, अर्थात् ऐसे सात्त्विक सर्वस्वदानी व्यक्ति जिस गृहस्थ में रहते हैं वह गृहस्थ स्वर्ग ही है।

[मन्त्र के पूर्वार्ध में बन्धुओं वाले दानियों का, और उत्तरार्ध में बन्धुरहित दानियों का वर्णन हुआ है। ये यतः बन्धुरहित हैं, अकेले हैं, स्वयं धनोपार्जन में समर्थ हैं, या नहीं, इसलिये इनके सम्बन्ध में "दातु चेत् शिक्षान्" इन पदों का प्रयोग हुआ है।

शिक्षान्="शक्लृ शक्तौ इत्यस्मात् सनि, 'सनि मीमा' (अष्टा० ७।४।५४) इत्यादिना अचः स्थाने इस् आदेशः। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (अष्टा० ७।४।५८) इति अभ्यासलोपः। "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" (अष्टा० ३।४।९७) इति इकारलोपः लेट्लकार, 'आट्' आगम (सायण)।]

अ॒न्वा॒र॒भे॒था॒म॒नु॒सं॒र॒भे॒था॒मे॒तं लो॒कं श्र॒द्दधा॑नाः सचन्ते।
यद्वां॑ प॒क्वं परि॑विष्टम॒ग्नौ तस्य॒ गुप्त॑ये दम्पती॒ सं श्र॑येथाम् ॥३॥

हे दम्पती! (अनु आरभेथाम्) स्वर्गानुकूल जीवनचर्या आरम्भ करो; (अनु संरभेथाम्) तदनुल दोनों मिलकर जीवनचर्या आरम्भ करो, (श्रद्दधानाः) श्रद्धावाले (एतम्) इस (लोकम्) स्वर्गलोक का (सचन्ते) सेवन करते हैं, या इस लोक के साथ अपना सम्बन्ध करते हैं। (वाम्) तुम दोनों का (यत्) जो (पक्वम्) पका अन्न (अग्नौ) अग्नि में (परिविष्टम्) प्रविष्ट हुआ है, और ब्रह्मवेत्ताओं की जठराग्नि के निमित्त परोसा गया है, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षा के लिये, (दम्पती) हे जाया और पति तुम दोनों (संश्रयेथाम्) परस्पराश्रित होओ, या परस्पर की सेवा करो।

[सम्भवतः मन्त्र में पूर्वमन्त्रोक्त दानप्रधान गृहस्थ जीवन का निर्देश किया हो, और उसे स्वर्गलोक कहा हो। "पक्वम्" पद द्वारा सम्भवतः "वैश्वदेव" यज्ञ निर्दिष्ट किया हो। "वैश्वदेव" यज्ञ में पके अन्न की आहुतियां गृह्याग्नि में देनी होती हैं, और साथ ही ब्राह्मभोज कराने का भी निर्देश

किया हो। सचन्तें=षच् समवाये, सेवने च (भ्वादिः)।

षित्र् सेवायाम् (भ्वादिः)। दम्पती=अथवा "दमे गृहनाम" (निघं० ३।४), गृहस्थ के गृह के दोनों पति अर्थात् स्वामी। गृहस्थ के गृह पर दोनों का समान अधिकार।]

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥४॥

(बृहन्तम्) महान् (यज्ञम्) गृहस्थ-साध्य-यज्ञ को (मनसा) विचार या मनन द्वारा (यन्तम् अनु) चालू करने के पश्चात्, (तपसा) तपश्चर्या द्वारा (आरोहामि) मैं स्वर्गीय जीवन के पथ पर आरूढ़ होता हू,और (सयोनिः) जगद् की योनिरूप ब्रह्म के साथ वास करता हू। (अग्ने) हे अग्रणी ब्रह्म! (जरसः परस्तात्) जरावस्था के पश्चात् (उपहूताः) तुझ द्वारा समीप बुलाए गये हम, (तृतीये नाके) तीसरे लोक में (सधमादम्) तेरे साथ रहते हुए तुझ आनन्दमय को प्राप्त कर (मदेम) हम आनन्दित रहें।

[इन मन्त्रों में "पक्वम्, अग्नौ, परिविष्टम्, यज्ञम्, बृहन्तम्" शब्दों द्वारा गृहस्थ जीवन के "पञ्चमहायज्ञ" सूचित होते हैं। सयोनिः=योनि है जगद् की योनिः "ब्रह्म"। तृतीये नाके=नाक का अर्थ है"कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्ध प्रतिषिध्येत"(निरुक्त २।४।१४),अर्थात् नाक है वह जिस में न सुख है न सुखाभाव अर्थात् दुःख। सुख है ऐन्द्रियिक। परमेश्वर आनन्दस्वरूप है,उसमें न ऐन्द्रियिक सुख है,न इन्द्रिय सम्बन्धी सुखाभाव,दुःख। अथवा द्यौः, स्वः, तथा नाक[1] में नाक है (तृतीय)। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, तथा वानप्रस्थ में वानप्रस्थ है (तृतीय)। प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा में परमात्मा है (तृतीय)। नाकम्=सब दुःख रहित मुक्तिसुख (यजु० ३१।१६, दयानन्द)। अथवा "ब्राह्मः त्रिभूमिको लोकः, प्राजापत्यः ततो महान्, माहेन्द्रः स्वरित्युक्तः, दिवितारा: भुवि प्रजा (योगव्यास भाष्य, भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्, विभूतिपाद, सूत्र २६), सम्भवतः "ब्राह्मः त्रिभूमिको लोकः"=तृतीयलोक अर्थात् तृतीय नाक। इस लोक में केवल ब्रह्म ही है, प्राकृतिक जगत् की सत्ता नहीं। ये विकल्प केवल विचारार्थ लिखे हैं।]

---

१. "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः" (यजु० ३२।६), तथा "ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (यजु० ३१।१६)।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु
प्र पृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स
ददात तन्मे ॥५॥

(इमाः) इन (शुद्धाः) शरीर से शुद्ध, (पूताः) विचारों में पवित्र, (यज्ञियाः) विवाह यज्ञ के योग्य,[1] (योषितः) प्रीति तथा सेवा करने वाली पुत्रियों को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मवेत्ताओं के (हस्तेषु) हाथों में (प्र) प्रत्येक में (पृथक्) पृथक-पृथक् (सादयामि) मैं पिता स्थापित करता हूं। (यत्कामः) जिस कामना वाला मैं पिता (वः) हे ब्रह्मवेत्ताओ ! तुम्हें (अहम्) मैं पिता (इदम्) यह या जल (अभिषिञ्चामि) अभिषेक रूप में सींचता हूं, (मरुत्वान्) मनुष्यजाति का स्वामी या मरणधर्मा प्राणियों का स्वामी (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (तत्) उस कामना की पूर्ति (मे) मुझे (ददातु) प्रदान करे।

[मोक्षाभिलाषी पिता आश्रम-परिवर्तन करने से पूर्व, निज पुत्रियों का विवाह कर देना चाहता है। पुत्रियां शारीरिक-भोग की दृष्टि से शुद्ध हैं। ब्रह्मणाम्=ब्रह्म अर्थात् वेद, वेदों के विद्वान् ब्राह्मण। हस्तेषु=पाणिग्रहण संस्कार द्वारा। पिता निज हाथ द्वारा पुत्री का हाथ वर के हाथ में प्रदान करता है। अभिषिञ्चामि=घट में के जल को कुशा द्वारा वर-वधू पर छिटकना होता है। पिता की कामना है विवाहानन्तर पतियों के गृहों में पुत्रियों का सुखपूर्वक निवास। योषिता=जुष प्रीतिसेवनयोः (उणा० १। ६७)। इदम् उदकनाम (निघं० १।१२)। मरुत्=मनुष्यजातिः (उणा० १।९४, दयानन्द)।]

सूक्त १२३

(१-५)। भृगुः। विश्वेदेवाः। त्रिष्टुभ्, ३ द्विपदा साम्नी अनुष्टुभ्, ४ एकावसाना द्विपदा प्राजापत्या भुरिग् अनुष्टुभ्।

एतं संधस्थाः परि वो ददामि यं शेवुधिमावहाज्जातवेदाः ।
अन्वागुन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत पर्मे व्योमन् ॥१॥

---

१. अक्षतयोनि युवतियां हैं, योग्या, अर्थात् विवाह योग्य।

(सधस्थाः) परमेश्वर के साथ स्थित, परमेश्वरस्थ हे महात्माओं! (एतम्) इस (शेवधिम्) धन की निधि अर्थात् खज़ाने को,—(यम्) जिसे कि (जातवेदाः) जातवेद परमेश्वर ने (आवहात्[1]) मुझे प्राप्त कराया है, (वः) तुम्हारे लिये (परिददामि) पूर्णतया मैं प्रदान करता हूं। (अनु) तत्पश्चात् (यजमानः) दानयज्ञ का या ध्यानयज्ञ का करने वाला (स्वस्ति) कल्याण मार्ग को ओर (आगन्ता), आएगा, (तम्) उसे (परमे व्योमन्) परमरक्षक परमेश्वर में स्थित हुआ (जानीत) तुम जानो।

[सधस्थाः=सह तिष्ठन्तीति, सह को सध आदेश (अष्टा० ६।३।९६)। शेवधिः=दाता, शेवधि को अध्यात्म मार्ग में बाधक अनुभव करता है। यथा "जानाम्यहं शेवधिरित्यनिज्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् (कठोपनिषद् अध्याय १, बल्ली २, खण्ड १०)। जातवेदाः="जातानि वेद, जाते जाते विद्यत इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञः" (निरुक्त ७।५।१९)। व्योमन्=वि+अव् (ऊठ्)+मनिन्। आगन्ता=आङ्+गम् (लुट् लकार)।]

जा॒नी॒त स्मैनं पर॒मे व्यो॑म॒न् देवाः॒ सध॑स्था वि॒द लो॒कमत्र॑।
अ॒न्वा॒ग॒न्ता यज॑मानः स्व॒स्तीष्टापू॒र्तं स्म॑ कृणुता॒विर॑स्मै ॥२॥

(सधस्थाः देवाः) हे दिव्यगुणी सधस्थो! (एनम्) इस यजमान को (परमे व्योमन्) परम-रक्षक परमेश्वर में स्थित (जानीत) जानो, (अत्र) इस परमेश्वर में (लोकम्) इसका लोक (विद=विदथ) जानो। (यजमानः) दानयज्ञ या ध्यानयज्ञ करने वाला (अनु) दान के पश्चात् (स्वस्ति) कल्याण मार्ग की ओर (आगन्ता) आएगा, (अस्मै) इसके लिये हे दिव्य सधस्थो! (इष्टापूर्तम्) इसके अभीष्ट [मोक्ष] की पूर्ति (कृणुत) करो।

[सधस्थाः देवाः=मन्त्र (१) में कथित महात्मा। लोकम्=परमेश्वर रूपी आश्रय, निवास स्थान।]

दे॒वाः पित॑रः॒ पित॑रो दे॒वाः। यो अस्मि॒ सो अ॑स्मि ॥३॥

(देवाः) देव हैं (पितरः) माता-पिता आदि, (पितरः) माता-पिता आदि हैं (देवाः) देव। (यः) जो (अस्मि) मैं हू, (सः) वह (अस्मि) मैं हूं।

---

१. या जिसे कि परमेश्वर प्राप्त कराता है, लेट् लकार, आट् आगम।

[मन्त्र (२) में "देवाः" पद पठित है। इसका अभिप्राय है पितरः[1] आदि। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव, आचार्यदेवो भव आदि में "देव" पद द्वारा, बोधित देवों का अभिप्राय है। यजमान अभी गृहस्थ आश्रम में निवास कर रहा है। इसलिये वह कहता है कि जो मैं गृहस्थी हूं, वह मैं अभी तक गृहस्थी ही हूं। यह अभिप्राय मन्त्र (४) द्वारा स्पष्ट है।]

स पचामि स ददामि स यजे स दुत्तान्मा यूषम् ॥४॥

(सः) वह (पचामि) मैं पकाता हूं, (सः) वह (ददामि) मैं दान करता हूं, (सः) वह (यजे) मैं यज्ञ करता हूं, (सः) वह मैं (दत्तात्) दान से (मा) न (यूषम्) पृथक् होऊं।

[पकाना, और पक्व अन्न का, बलिवैश्वदेव में, तथा अतिथियज्ञ में प्रदान करने का कथन मन्त्र में हुआ है। यदि गृह में पत्नी नहीं, तो भी गृहस्थी स्वयं पका कर अन्न द्वारा यज्ञ सम्पादन करे। यूषम्=यु+च्लेः सिच् ह्रस्व, उकारस्य दीर्घ ऊकारः।]

नाके राजन् प्रतितिष्ठ तत्रैतत् प्रतितिष्ठतु ।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव ॥५॥

(राजन्) हे परिवार के शासक ! (नाके) मोक्षसाधन में (प्रतितिष्ठ) तू दृढ़तापूर्वक स्थित हो जा, (तत्र) उस मोक्षसाधन में (एतत्) यह [मन्त्र ४ में कथित कर्मकलाप भी] (प्रतितिष्ठतु) स्थिर रहे। (राजन्) हे शासक ! (नः) हमारे (पूर्तस्य) पूर्तकर्म को भी (विद्धि) जानता रह, (देव) हे पितृदेव ! (सः) वह तू (सुमनाः) प्रसन्नचित्त (भव) हो।

[मोक्षाभिलाषी अभी तक घर में ही है। उसे पारिवारिकजन आश्वासन दे रहे हैं, ताकि मोक्षसाधन में वह प्रसन्नचित्त रहे, और इसको भी उसे सूचना मिलती रहे कि परिवार में पूर्तकर्म यथावत् हो रहा है। पूर्तस्य =कर्मणि षष्ठी। पूर्त=वापीकूपतटाकनिर्माणादि पूर्तम् (सायण)। ये कर्म सामाजिक सेवारूप हैं।]

---

१. जिनमें रक्षा करने की शक्ति हैं, वे हैं "पितरः" पा रक्षणे (अदादि.), मृतों में रक्षा शक्ति नहीं होती अतः वे पितरः नहीं। उन्हें पितरः कहा जाता है "भूतपूर्व रक्षक होने से"।

सूक्त १२४

(१-३) । अथर्वा । निर्ऋत्यपसारणम्, मन्त्रोक्तदेवताः । त्रिष्टुभ् ।

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन ।
समिन्द्रियेण पयसाऽहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥१॥

(दिवः) द्युलोक से, (बृहतः अन्तरिक्षात्) बड़े अन्तरिक्ष से, (अपाम्) जल का (स्तोकः) स्वल्पांश भी (नु) शीघ्र (माम् अभि) मेरे प्रति (रसेन) रस के साथ (अपप्तत्) यदि वर्षारूप में गिरा है, तो (अहम्) मैं (इन्द्रियेण) धन से, (पयसा) दूध से, (छन्दोभिः) वैदिक छन्दों से, (यज्ञैः) यज्ञों से, (सुकृताम् कृतेन) सुकर्मियों के कर्म से अथवा उत्तम कर्मों के करने से (अग्ने) हे परमेश्वर ! (सम्) सम्बद्ध हो जाऊं ।

[सूक्त १२३ के मन्त्र ५ से, "राजन्" का सम्बन्ध, सूक्त १२४ में समझना चाहिये । राष्ट्र में वर्षा न होने के कारण प्रजा दुःखी है । इसलिये राजा वर्षा-जल के स्वल्पांश का भी अभिलाषी है । वर्षा जल द्वारा वृक्षों, वनस्पतियों में नानाविध रसों का संचार होता है, और धनसम्पत्ति बढ़ती, खाद्य-पेय प्राप्त होते, वेदाध्ययन तथा यज्ञादि सुकर्मों का सम्पादन होता है ।

यजुर्वेदानुसार "राजा" अपने शरीर तथा शरीराङ्गों के सदृश राष्ट्र और प्रजा को जानकर शासन करता है । यथा "पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी । उरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः" (२०।८) । इसलिये राजा मन्त्र में राष्ट्र और प्रजा का निर्देश "मे" द्वारा करता है । इन्द्रियेण = इन्द्रियम् धननाम (निघं० २।१०) दिवः अन्तरिक्षात् = द्युलोकस्थ सूर्य के ताप द्वारा भौमजल वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्ष में जाता, और अन्तरिक्ष से वर्षारूप में भूमि पर आकर नानाविध रसों आदि के रूप में प्रकट होता, और सुकर्मों के कराने में हेतु होता है । नु = क्षिप्रम् (निरुक्त ११।४,५०, रोदसी पद (३६) ।]

यदि वृक्षादभ्यपप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव ।
यत्रास्पृक्षत् तन्वो३ यच्च वासस आपो नुदन्तु
निर्ऋतिं पराचैः ॥२॥

(यदि वृक्षात्) यदि वृक्ष से (अभि) मेरी ओर (फलम्) फल [स्वयं

पक्कर'] (अपप्तत्) गिरा है (तत्) तो वह, और (यदि अन्तरिक्षात्) यदि अन्तरिक्ष से [अल्पवर्षा जल] भी गिरा है तो (सः) वह (उ) निश्चय से, (वायुः एव) प्राणप्रदवायु के सदृश ही है। तथा (तन्वः) शरीर के (यत्र) जिस अङ्ग में (च) और (वाससः) वस्त्र के जिस स्थान में (यत्) जो अपवित्र वस्तु (अस्पृक्षत्) स्पर्श कर गई है, लग गई है तो उस (निर्ऋतिम्) कष्टप्रद वस्तु को (आपः) शुद्ध जल (पराचः) पृथक् कर देने की विधियों द्वारा (नुदन्तु) पृथक् कर दें।

[मन्त्र में स्वास्थ्य सम्बन्धी निर्देशों का कथन हुआ है। वृक्ष से स्वयं फल का गिरना उसकी परिपक्वावस्था का सूचक है। उसका सेवन प्राणप्रद वायु के सदृश प्राणप्रद है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष से वर्षाजल का गिरना भी वायुसमान प्राणप्रद है। वर्षाजल शुद्ध होता है, और भूमि पर गिरकर वह अशुद्ध हो जाता है, उसमें भूमि के तत्त्वों का मिश्रण हो जाता है। इस लिये इन शुद्ध जलों द्वारा शरीर और वस्त्र के मल को धोने का वर्णन हुआ है। यह मल निर्ऋति है, कृच्छ्रापत्ति है। निर्ऋतिः कृच्छ्रापत्तिः (निरु० २।२।८; निर्ऋति पद)। अपप्तत्=पत्लृ गतौ, लृदित्त्वात् च्लेः अङ् आदेशः "पतः पुम्" (अष्टा० ७।४।१९) इति पुम् आगमः (सायण)। अस्पृक्षत्= स्पृशतेश्छान्दसो लुङ्, च्लेः क्सादेशः (अष्टा० ३।१।४५), (सायण)।]

अ॒भ्य॒ञ्ज॑नं सु॒र॒भि सा समृ॑द्धि॒र्हिर॑ण्यं॒ वर्च॒स्तदु॑ पू॒त्रिम॑मे॒व ।
सर्वा॑ प॒वित्रा॒ वित॒ताऽध्य॒स्मत् तन्मा ता॑रीन्नि॒र्ऋ॑ति॒र्मो
अरा॑तिः ॥३॥

(अभ्यञ्जनम्) मलने का तैल, (सुरभि) सुगन्धित चन्दन आदि (सा समृद्धिः) वह समृद्धिरूप हैं, (हिरण्यम्) सुवर्ण और (वर्चः) शारीरिक तेज (तत् उ) वे (पूत्रिमम्) पवित्रता के साधन ही हैं। (सर्वा पवित्रा=सर्वाणि पवित्राणि) सब पवित्र कर्म (अस्मत् अधि) हम से (वितता=विततानि) विस्तृत हुए हैं, (तत्) अतः (मा) न (निर्ऋतिः) कष्टापत्ति (तारीत्) हमें दबाए, (मो) न (अरातिः) अदान भावना दबाए।

---

१. कृत्रिम विधि से पकाए फल उतने गुणकारी नहीं होते जितने कि शाखा पर पके गुणकारी होते हैं।

[हिरण्य¹=सुवर्णभस्म । यह रोगों का विनाश करके शरीर को नीरोग करती है, नीरोगता ही पवित्रता है । शारीरिक नीरोगता से शारीरिक तेज या बल बढ़ता है । शारीरिक बल की वृद्धि से रोग शरीर पर आक्रमण नहीं करते, शरीर के स्वस्थ रहते [सूक्त १२४, मन्त्र १ में प्रोक्त] छन्दों का स्वाध्याय आदि शुभकर्मों के कारण न कृच्छ्रापत्ति अर्थात् शारीरिक कष्ट दबाते हैं, न कंजूसी आदि मानसिक दुर्भावनाएं दबाती हैं । तारीत्=अतिक्रामतु (सायण)।]

१२वां अनुवाक सम्पूर्ण

— —

अनुवाक १३

सूक्त १२५

(१-३)। अथर्वा । वनस्पतिः । त्रिष्टुभ्; २ जगती ।

वन॑स्पते वी॒ड्व॑ङ्गो॒ हि भू॒या अ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑ ।
गोभि॒: संन॑द्धो असि वी॒डय॑स्वास्था॒ता ते॑ जयतु॒ जेत्वा॑नि ॥१॥

(वनस्पते) राष्ट्र के वनों के स्वामिन् हे राजन् ! (वीड्वङ्गः) प्रबल युद्ध नीति के अङ्गों वाला (हि) ही (भूयाः) तू हो जा, (अस्मत्सखा) हम प्रजाजनों का मित्रभूत तू (प्रतरणः) कष्टों से तैराने वाला, (सुवीरः) तथा उत्तमवीर योद्धाओं वाला तू है। (गोभिः) वज्रों से (सन्नद्धः) सुसज्जित (असि) तू है, (आस्थाता) तुझ पर आस्था अर्थात् श्रद्धा रखने वाला सेनापति (जेत्वानि) जेतव्य परकीय सैन्यों पर (जयतु) विजय पाए।

[सूक्त में राजा, सेनापति और सैन्यरथ का मिश्रित वर्णन है। युद्ध नीति के अङ्ग=सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैध,—ये युद्ध नीति

---

१. होम्योपेथी में विशुद्ध हिरण्य का भी प्रयोग होता है जिसे कि "Aurum metallicum कहते हैं।

२९

के ६ अङ्ग हैं (मनुस्मृति ७।१६०)। गोभिः,—गौः=पशुः, इन्द्रियम्, सुखम्, किरणः, "वज्रम्", चन्द्रमाः, भूमि, वाणी, जल वा (उणा० २।६८, दयानन्द)। अथवा राष्ट्र के ८ अङ्ग=स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, दुर्ग और सैन्य, तथा प्रजावर्ग। वीडु बलनाम (निघं० २।९)।]

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥२॥

(दिवस्पृथिव्याः) द्युलोक और पृथिवी से (उद्भृतम्) उद्धृत (ओजः) ओजस् रूप, (वनस्पतिभ्यः) वनस्पतियों से (आभृतम्) आहृत (सहः) बल रूप (परि=पञ्चम्यर्थानुवादी); (अपाम् ओज्मानम्) जल के ओजस् रूप, (गोभिः) गोचर्मों द्वारा (परि) सब ओर (आवृतम) आच्छादित, (इन्द्रस्य) विद्युत् के (वज्रम्) वज्ररूप (रथम्) सैन्यरथ को (हविषा) आत्माहुति द्वारा (यज) सुसंगत कर।

[गोभिः=गोचर्मभिः। यथा "अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति, "गोभिः श्रीणीत मत्सरमिति" पयसः (२।२।५ निरुक्त), अर्थात् गोसम्बन्धी मन्त्रों में तद्धितार्थ अर्थात् भव, अवयव, विकार में, पूर्ण गोपद का प्रयोग होता है। यथा "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" में गोभिः का अभिप्राय है पयः अर्थात् दुग्ध। अर्थात् दूध के द्वारा सोम ओषधि को पकाओ। मन्त्र में रथ के निर्माण का वर्णन है। रथ का निर्माण पञ्चभूतों की सहायता से होता है। वनस्पति का बीज पृथिवी में अङ्कुरित होता, द्युलोकस्थ सूर्य के ताप प्रकाश द्वारा, और अन्तरिक्ष के वर्षाजल द्वारा सींचा जाकर बढ़ता, और वृक्षरूप होकर वृक्ष के काष्ठ से निर्मित होता है। चलने में अधिक वेग वाला होने से, और शत्रुओं के विनाश में सहायक होने से रथ वैद्युतवज्ररूप है। यज=देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु में सङ्गति करण अभीष्ट है।

वनस्पतियां किन तत्त्वों से पैदा होती तथा बढ़ती हैं, इसका भी परिज्ञान मन्त्र द्वारा होता है।]

इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥३॥

(देव रथ) हे दिव्य या विजयैषो[1] सैन्य रथ ! तू (इन्द्रस्य) सम्राट् का (ओजः[2]) ओजरूप है, (मरुताम्) शत्रुओं के मारने वाले योद्धाओं का (अनीकम्) जीवनरूप है, (मित्रस्य) मित्र राजा का (गर्भः) मातृ गर्भाशयवत् रक्षक है, (वरुणस्य) सम्राट् के अधीन वरुणनामक राजा का (नाभिः) मातृनाभिवत् पालन करने वाला है। (सः) वह तू हे सैन्यरथ ! (नः) हमारे (हव्यदातिम्) जीवनरूपी हव्यों के दान का (जुषाणः) सेवन करता हुआ (हव्या=हव्यानि) हमारे जीवनरूपी हव्यों को (प्रति गृभाय) ग्रहण कर, स्वीकार कर।

[इन्द्रस्य="इन्द्रश्च राजा" (यजु० ८।३७)। सम्राट् है संयुक्त राष्ट्रों का अधिपति। अतः यह शक्तिशाली है। ओजः=उब्ज आर्जवे (तुदादिः), ओजः वह बल है जिसके होते शत्रु नम हो जाता है और विद्वेष या आक्रमण करने का साहस नहीं करता। मरुताम्=शत्रुओं को मारने में कुशल योद्धागण (यजु० १७।४०)। अनीकम्=अन प्राणने (अदादिः), अनिति जीवयतीति, अनीकम्(उणा० ४।१८, दयानन्द)। सैन्यरथ सैनिकों के जीवन का हेतु है, सैन्यरथों द्वारा युद्ध करने वाले हैं रथारोही-सैनिक, इन्हें जीवनीय भृति, सैन्यरथों के कारण मिलती है। मित्रस्य=निर्बल मित्र राजा, जोकि आत्म रक्षार्थ इन्द्र अर्थात् सम्राट् का आश्रय लेता है, सम्राट् का क्ष उसका रक्षक होता है, जैसे कि मातृगर्भाशय, तन्निष्ठ गर्भ का रक्षक होता है। वरुणस्य=वरुण है राष्ट्राधिपति जो क सम्राट् के साम्राज्य का अङ्ग है। सम्राट् को सैन्यरथ शक्ति इसका पालन इस प्रकार करती है जैसे कि माता का गर्भनाल गर्भस्थशिशु का पालन करता है। नाभिः=नह बन्धने। नाभिनाल से शिशु बन्धा रहता है जिस द्वारा कि शिशु को जीवनीय रस मिलता रहता है।]

सूक्त १२६

(१-३)। अथर्वा। दुन्दुभिः। भुरिक् त्रिष्टुभ्, ३ पुरोबृहतोविराड्गर्भा त्रिष्टुभ्।

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते वन्वतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून् ॥१॥

१. दिवुक्रीडा-विजिगीषा आदि (दिवादिः)।
२. ओजस् है सिंह में, और बल है हाथी में।

(दुन्दुभे) हे सैन्य-ढोल ! तू (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और द्यौः को (उपश्वासय) गुञ्जा दे, (पुरुत्रा) बहुत प्रदेशों में (विष्ठितम्) विविध स्थानों में स्थित (जगत्) जङ्गम मनुष्य तथा अन्य प्राणी (ते) तेरे घोष की (वन्वताम्[1]) याचना करें, चाहें। (सः) वह तू (इन्द्रेण) सम्राट् के साथ तथा (देवैः) विजिगीषु सैनिकों के (सजूः) साथ मिलकर (शत्रून्) शत्रुओं को (दूराद् दवीयः) दूर से दूर (अपसेध) धकेल दे, भगा दे।

[अपसेध=षिधु गत्याम् (भ्वादिः)। सैनिकरथ और सैनिक दुन्दुभि सैनिक अङ्ग हैं (निरुक्त अ० ९, पा०२, खण्ड ११,१२)।]

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभिष्टन दुरिता बाधमानः।
अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥२॥

(दुन्दुभे) हे सैन्यढोल ! (आक्रन्दय) तू शत्रुओं का आह्वान कर, उन्हें ललकार, (नः) हमारे लिये या हम में (बलम्, ओजः, आधाः) बल[2] और ओजस्[2] का आधान कर, (दुरिता=दुरितानि) शत्रुओं द्वारा सम्भाव्यमान दुष्परिणामों को (बाधमानः) हटाता हुआ (अभिष्टन) तू गर्ज। (इतः) इस हमारी भूमि से (दुच्छुनाम्) दुःखकारी शत्रु सेना को (अप सेध) अपगत कर, भगा दे, (इन्द्रस्य) सम्राट की (मुष्टिः) मुट्ठी (असि) तू है, (वीडयस्व) तू बलकृति या वीरता कर।

[यद्यपि है तो सैन्यढोल का वर्णन, परन्तु है यथार्थ वर्णन। ढोल गोल होता है अतः उसे मुट्ठी कहा है। मुट्ठी भी गोल होती है। इन्द्र है साम्राज्य का मुखिया। उसके सैन्यढोल का गर्जना मानों शत्रुसेना को ललकारना है, और निज सेना में बल और ओजस् का स्थापन करना है। शत्रु, गर्जना सुनते, अपगत हो जाते हैं और युद्धजन्य किसी दुष्परिणाम को पैदा करने का साहस नहीं करते। अभि ष्टन=अभि+स्तन गदी देवशब्दे (चुरादिः); देवशब्द=बादल का गर्जन। दुच्छुना=दुः+शुनम् सुखनाम (निघ० ३।६)। वीडयस्व= वीडु बलनाम (निघ० २।९), अथवा वीरयस्व, रलयोरभेदः, डलयोरभेदः।]

---

१. वनु याचने (तनादिः)।
२. बल होता है हाथी में, और ओजस् होता है सिंह में।

प्रामूं जयाभी३मे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु ।
समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥३॥

(अमूम्) उस शत्रुसेना को (इन्द्र) हे सम्राट् (प्रजय) जीत, (इमे) ये हमारे सैनिक (अभि) अभिमुख हुई शत्रुसेना को (जयन्तु) जीत लें। इस विजय को (केतुमत्) झण्डों समेत (दुन्दुभिः) संग्रढोल (वावदोतु) बार-बार उद्घोषित करे। (नः) हमारे (नरः) घुड़सवार नर (अश्वपर्णाः) अश्वरूपी पङ्खों वाले हुए,(सम् पतन्तु)युगपत् शत्रुसेना पर पतन करें, धावा करें, और (अस्माकम्)हमारे(रथिनः) रथारोही सैनिक भी (जयन्तु)विजय प्राप्त करें।

[अश्वपर्णाः—अश्वरूपी पंखों वाले। अश्वारोही सैनिकों को पक्षिरूप कहा है, अश्व मानों उनके पङ्ख हैं। वे मानों वेग से उड़कर शत्रुसेना पर सम्पात करें, मिलकर धावा करें, आक्रमण करें। वावदोतु=वद्+यङ्-लुकि+लोट् लकार।

(विशेष वक्तव्य)

सूक्त १२५ में रथ का, और सूक्त १२६ में दुन्दुभि का वर्णन कवितामय शब्दों में हुआ है। इन दोनों का सम्बन्ध राजा के साथ है। ये दोनों युद्ध के उपकरण हैं, साधन हैं। "राजसंयोत् युद्धोपकरणानि। तेषां रथः प्रथमागामी भवति" (निरुक्त ६।२।११)। रथ के पश्चात् निरुक्त में दुन्दुभिः, इषुधिः आदि युद्धोपकरणों का वर्णन हुआ है। एतदनुसार सूक्त १२५, १२६ में "वनस्पते, आस्थाता, इन्द्रस्य, मरुताम्, मित्रस्य, वरुणस्य, इन्द्रेण", आदि पदों के अर्थ राजसम्बन्धी किये हैं। सूक्त १२५, मन्त्र ३ में मित्रस्य का अर्थ "मित्र राजा" किया है, "An ally, The next neighbour of a King(आप्टे)।]

सूक्त १२७

(१-३)। भृग्वङ्गिराः। वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्। अनुष्टुभ्; ३ त्र्यवसाना षट्पदा जगती।

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते।
विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥१॥

(विद्रधस्य) विदारण[1] शील व्रण विशेष के, (बलासस्य) बलक्षयी खांसी आदि के, (लोहितस्य) रक्त-सम्बन्धी रोगों के, (विसल्पकस्य) विशेष सर्पण करने वाले खाज के (वनस्पते ओषधे) हे वनस्पति रूप ओषधि ! तू (पिशितम् चन) मांस को भी (मा उच्छिषः) न शेष रहने दे।

[रोगों के स्वरूप सायणाचार्य के भाष्य के अनुसार कथित किये हैं। पिशितम्=मांस। रोगों को देही रूप में वर्णित जानकर उनके मांस का कथन हुआ है। अभिप्राय यह कि कथित वनस्पति ओषधि रोगों के किसी अंश को भी शेष न रहने दे, सब अंशों का विनाश कर दे। अथवा पिशितम्=पिंश अवयवे (तुदादिः), इन रोगों के किसी भी अवयव को, अंश को शेष न रहने दे।]

यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ ।
वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥२॥

(बलास) हे बलक्षयकारी रोग [खांसी तथा श्वास रोग] (ते) तेरे (यौ) जो दो विकार (कक्षे) कोख अर्थात् बाहुमूल में (तिष्ठतः) स्थित रहते हैं, और (मुष्कौ) दो अण्डों में (अपश्रितौ) आश्रित रहते हैं, (तस्य) उस विकार की (भेषजम्) औषध को (अहम्, वेद) मैं जानता हूं, [वह है] (चीपुद्रुः) चीपुद्रु, (अभिचक्षणम्) जो कि रोग का साक्षात् दर्शन कर [उसका निवारण कर देती है], चक्षिङ् अयं दर्शनेऽपि (अदादिः)। मुष्कौ= मुष स्तेये (क्र्यादिः), ये हैं दो अण्ड, जो कि अण्डकोष में छिपे रहते हैं।

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः ।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम् ।
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥३॥

(यः) जो (विसल्पकः) विविध अङ्गों में सर्पण करने वाला रोग (अङ्ग्यः) शरीर के अङ्गों में पैदा होता है, (यः) जो (कर्ण्यः) कानों में पैदा होता है, (यः) जो (अक्ष्योः) दो आंखों में पैदा होता है, उस (विसल्पकम्) विसल्पक रोग का (विवृहामः) हम उद्यमन अर्थात् मूलोच्छेद करते हैं। तथा (विद्रधम्) विद्रधरोग को, (हृदयामयम्) हृदय के रोग को, तथा (तम्)

---

१. सम्भवतः यह कार्बङ्कल (carbuncle) व्रण हो। इसमें छाननी की तरह पास-पास बहुत से छेद होते हैं, मधुमक्षिका के छत्ते की तरह।

उस (अज्ञातम्) अप्रकटित लक्षणों वाले (यक्ष्मम्) यक्ष्मा रोग को, (अधराञ्चम्) जो कि अधराङ्गों में विचरता है (परा सुवामसि) हम परे प्रेरित करते हैं। षू प्रेरणे (तुदादिः)। विसल्पकम्=विसर्पकम्, रलयोरभेदः। इस प्रकार के "वर्ण विकार" उच्चारण में प्रायः हो जाते हैं। वर्ण विकार को निरुक्त में "व्यापत्तिः" कहा है। व्यापत्तिः=वर्णव्यापत्तिः।

सूक्त १२८

(१-४) । अथर्वाङ्गिराः (नक्षत्रराजाचन्द्रमाः) । सोमः, शकधूमः । अनुष्टुभ् ।

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत ।
भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥१॥

(नक्षत्राणि) नक्षत्रों ने (यद्) जो (शकधूमम्) शक्तिशाली धूम को (राजानम्) अपना राजा (अकुर्वत्) किया, तो उन्होंने (अस्मै) इस योगी के लिये (भद्राहम्) सुखदायक और कल्याणकारी दिन मानो (प्रायच्छन्) प्रदान किया, ताकि (इदम्) यह (राष्ट्रम्) राष्ट्र भी (भद्राहम्[1]) सुखदायक तथा कल्याणकारी दिनों वाला (असात् इति) हो जाय, इसलिये।

[मन्त्र का विषय योग साधना का है। यथा "नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥" (श्वेता० उप० अ० २। खण्ड ११)। कोहरा, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, तारे, विद्युत्, स्फटिक, चन्द्रमा,—ये रूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराने के पूर्वरूप हैं। इनमें खद्योत अर्थात् आकाश के द्युतिमान् तारे नक्षत्र कहे हैं। इन्होंने "धूम" को मित्र राजा माना, क्योंकि इस धूम के प्रकट हो जाने के पश्चात् ही शेष रूप सूर्य आदि प्रकट होते हैं। इन्होंने नीहार अर्थात् कोहरे को राजा नहीं माना। कोहरा तो चक्षु के दबाने पर भी प्रकट हो जाता है। अतः यह योगाभ्यास में अङ्ग नहीं। जिस योगाभ्यासी को "धूम" प्रकट हो जाता है मानो उसके लिये भद्र दिन का उदय हुआ, और उसके राष्ट्र के लिये भी भद्र दिन का उदय हुआ। यह "धूम" "शक" है शक्तिशाली है, क्योंकि अन्य आध्यात्मिक सूर्य आदि

१. भदि कल्याणे सुखे च (भ्वादिः)।

के प्रकटीकरण में यह शक्ति रखता है। भद्राहम्=भद्रं च तत् अहश्चेति भद्राहः, समासान्तः टच्(अष्टा० ५।४।९१)।]

भद्राहं नो मध्यंदिने भद्राहं सायमस्तु नः।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥२॥

(भद्राहम्) सुखदायक और कल्याणकारी दिन हो (नः) हमारे लिये (मध्यन्दिने) मध्याह्न में, (भद्राहम्) भद्रदिन (अस्तु) हो (नः) हमारे लिये (सायम्) सायकाल में। (भद्राहम्) भद्रदिन हो (नः) हमारे लिये (अह्नाम् प्रातः) दिनों के प्रातःकाल में, (भद्राहम्) भद्रदिन हो (नः) हमारे लिये (रात्री) रात्री काल में।

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्।
भद्राहमस्मभ्यं राजन्छकधूम त्वं कृधि ॥३॥

(शकधूम राजन्) हे राजा रूप शक्तिशाली धूम! (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात से, (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रों से, (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा से (त्वम्) तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (भद्राहम्) भद्रदिन (कृधि) कर[1]।

[अस्मभ्यम्=हम राष्ट्रजनों के लिये (मन्त्र १)। योगाभ्यासी में शकधूम के प्रकट हो जाने पर राष्ट्र के जनों के लिये प्राकृतिक शक्तियां सुखदायक हो जाती हैं[2]।]

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥४॥

(नक्षत्रराज) हे खद्योतों के राजा (शकधूम) शक्तिशाली धूम! (यः)

---

१. अथवा "प्रतिदिन-रात आध्यात्मिक खद्योतों से, आध्यात्मिक सूर्य-चन्द्रमा से सुखदायक तथा कल्याणकारी दिन, हे शकधूम! तू हमारे लिये कर। आध्यात्मिक खद्योत हैं अभ्यास में चमकते तारागण, आध्यात्मिक सूर्य है अर्क, और आध्यात्मिक चन्द्रमा है शशी" (श्वेता० उप० २।११)।

२. पूर्णयोगी को प्राकृतिक शक्तियों पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। वह राष्ट्र के लिये प्राकृतिक शक्तियों द्वारा सुख प्रदान करा सकता है (योग ३।४४;४८;४९)।

जिस तूने (नः) हमारे लिये (सायम्, नक्तम्, अथो दिवा) सायंकाल, रात्री और दिन में (भद्राहम्) भद्रदिन (अकः) कर दिये हैं, (तस्मै ते) उस तेरे लिये, (सदा नमः) हम सदा नम्रीभूत[1] हों।

[खद्योत हैं योगाभ्यास में आध्यात्मिक ताराओं का चमकना (श्वेता० उप०)। आध्यात्मिक "शक्तिधूम" है योगाभ्यास में प्रकट "धूम" (श्वेता० उप०)।]

सूक्त १२६

(१-३)। अथर्वाङ्गिराः। भगः। अनुष्टुभ्।

भगेन मा शांशुपेन साकमिन्द्रेण मेदिना।
कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥१॥

(मेदिना) स्नेही (इन्द्रेण साकम्) विद्युत् के सङ्ग, (शांशपेन=शिंशपा+अण् [तस्येदम्]) "शिंशपा" वृक्ष सम्बन्धी (भगेन[2]) ऐश्वर्य द्वारा (मा) मुझ अर्थात् अपने आप को (भगिनम्) ऐश्वर्य वाला (कृणोमि) मैं करता हूं, (अरातयः) अदान आदि शत्रु (मा अप) मुझसे अवगत होकर (द्रान्तु) कुत्सित गति को प्राप्त हों।

[मेदिना=मिदि स्नेहने (चुरादिः), वर्षा जल द्वारा स्निग्ध इन्द्र अर्थात् विद्युत्। यथा "वायुर्वा, इन्द्रो वा मध्यस्थानः"(निरुक्त १०।१, १२।४१)। इन्द्र मध्यस्थानी अर्थात् अन्तरिक्षस्थानी है, अतः विद्युत् है। शांशपेन=शिंशपा की समिधा रूपी भग द्वारा। मा=आहुति प्रदाता मैं, अपने आप को। इन आहुतियों द्वारा विद्युत् की वृद्धि होकर, विद्युत् वर्षा करती है, और ऐश्वर्य बढ़ता है। द्रान्तु=द्रा कुत्सायां गतौ(अदादिः) [अथवा "द्राति गति-कर्मा" (निघं० २।२४), अतः अपद्रान्तु=अपगच्छन्तु। भगेन=ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

---

१. नम्रीभूत होना इसलिये कि यह आध्यात्मिक "धूम" ब्रह्माभिव्यक्ति में प्रथम सोपान है, यह ब्रह्माभिव्यक्ति में मार्गदर्शक है।

२. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

"शिंशपा" सम्भवतः शीशमवृक्ष है। सभी वृक्ष विद्युत्-जन्य वर्षा से उत्पन्न होते हैं। शीशम बहुमूल्य वृक्ष होता है। अतः शीशमरूपी ऐश्वर्य की प्राप्ति से अदान आदि अराति अपगत हो जाते हैं। यह भावना मन्त्र में प्रतीत होती है।]

येन॑ वृ॒क्षाँ अ॒भ्यभ॑वो॒ भगे॑न॒ वर्च॑सा स॒ह।
तेन॑ मा भ॒गिनं॑ कृण्व॒प॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥२॥

हे इन्द्र [विद्युत्] (येन, भगेन, वर्चसा, सह) जिस निज ऐश्वर्य और दीप्ति के साथ तू (वृक्षान्) वृक्षों को (अभ्यभवः) अभिभूत, पराभूत करता है, (तेन) उस द्वारा (मा) मुझे (भगिनम्) ऐश्वर्य वाला (कृणु) कर, (अरातयः अपद्रान्तु) अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[इन्द्र अर्थात् विद्युत् के प्रपात द्वारा जङ्गल जल कर कोइला हो जाते हैं। कोइला ऐश्वर्य रूप है। इस ऐश्वर्य की प्राप्ति से, अदान आदि अराति अपगत हो जाते हैं।]

यो अ॒न्धो यः पुनः॑स॒रो भगो॑ वृ॒क्षेष्वाहि॑तः।
तेन मा भ॒गिनं॑ कृण्व॒प॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥३॥

हे इन्द्र [विद्युत्] ! (यः) जो (अन्धः भग) अन्नरूपी भग अर्थात् ऐश्वर्य, तथा (यः) जो (पुनः सरः) बार-बार सरण करता हुआ आता है, जो (वृक्षेषु) वृक्षों में (आहितः) स्थित होता है, (तेन) उस द्वारा (मा) मुझे (भगिनम्) ऐश्वर्य वाला (कृणु) कर, (अप द्रान्तु अरातयः) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र १॥

[यह अन्नरूपी भग है, नानाविध फल। ये ऐश्वर्यरूप हैं, और बार-बार सरण करते हुए प्रतिवर्ष वृक्षों पर आते हैं। वर्ष के पश्चात् आते हैं, अतः इनके आने की गति को सरण करना कहा है। सरण है शनैः-शनैः गति करना, सरकना। अन्धः अन्ननाम (निघं० २.७)। अन्धः="अन" प्राणने+"धा" धारणपोषणयोः जिस द्वारा प्राण का शरीर में धारण होता, और शरीर पुष्ट होता है, वह अन्धस् है फलरूपी अन्न है।]

सूक्त १३०

(१-४)। अथर्वाङ्गिराः। स्मरः। अनुष्टुप्; १ विराट् पुरस्ताद् बृहती।

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः।
देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥१॥

(रथजिताम्) शरीर-रथ पर विजय पाने वाली, (राथजितेयीनाम्) शरीर रथ पर विजय पाने वालों की सम्बन्धिनी, (अप्सरसाम्) रूपवती पत्नियों सम्बन्धी (अयम्) यह (स्मरः)स्मरण या कामवासना है। (देवाः) हे दिव्य शक्तियों ! (स्मरम्) स्मरण या कामवासना को (प्रहिणुत[1]) प्रेरित या प्रबुद्ध करो (असौ) ताकि वह [मेरा पति] (माम्) मुझ को अर्थात् मेरा (अनु) अनुस्मरण कर (शोचतु) शोकान्वित हो।

[सूक्त १३०, १३१, १३२ में स्मरण या स्मर का वर्णन है। गृह कलह के कारण पति रुष्ट होकर गृह त्याग कर चला गया है, तब पत्नी के उद्गारों का वर्णन इन तीन सूक्तों में किया गया है। वैदिक पत्नियां अपने शरीर रथों पर विजय पाई हुई हैं और शरीर रथों पर विजय पाए पतियों की पत्नियां हैं अतः वे निजपतियों के प्रति ही अनुराग वाली हैं। अतः कारणवश पति वियोग में पति के वापिस आ जाने की कामना करती रहती हैं। रूपवती होती हुई भी पर पुरुष की कामना नहीं करतीं, ऐसा अभिप्राय इन तीन सूक्तों का है। मन्त्र में "देवाः"[1] का अभिप्राय इन सूक्तों में स्पष्ट हो जायगा। रथ=शरीर "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" (उपनिषद् कठ० अ० १। वल्ली ३। खं० ३)।]

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति।
देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥२॥

(असौ) वह (मे) मुझे (स्मरतात् इति) स्मरण करे, (प्रियः) मेरा प्रिय (मे) मुझे (स्मरतात् इति) स्मरण करे, (देवाः) हे दिव्य शक्तियो ! (स्मरम्) कामवासना को (प्रहिणुत) उसमें प्रेरित तथा प्रवृद्ध करो, (असौ) ताकि वह (माम् अनु) मेरा अनुस्मरण करके (शोचतु) शोकान्वित हो।

---

१. सूक्त में देवाः=मरुतः, मानसून वायुएं आदि (सूक्त १३०।४)। कवि सम्प्रदायानुसार वर्षर्तु मेघ गर्जन, तथा तत्सामयिक मोहक दृश्य, स्मरोद्रेक पैदा कर वियोगी पति-पत्नी को व्याकुलित कर उन में सांमनस्य पैदा कर देते हैं। देवाः का अर्थ मादक-दृश्य भी हैं। दिवु क्रीडा मोद "मद" आदि (दिवादिः)।

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥३॥

(यथा) जिस प्रकार (असौ) वह [पति] (मम स्मरात्) मेरा स्मरण करे, परन्तु (अहम्) मैं [पत्नी](अमुष्य) उसका (न) न (कदाचन) कभी भी [स्मरण करूं], इसलिये (देवाः······शोचतु) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र (१)।

[पति के दुर्व्यवहार अर्थात् गृहत्याग द्वारा प्रकुपित हुई पत्नी का कथन मन्त्र में है। पत्नी नहीं चाहती कि स्मर का उद्रेक उसमें हो ताकि वह पति का स्मरण करे। इसमें वह अपनी पराजय समझती है। इसलिये वह चाहती है कि स्मर का उद्रेक उसके पति में हो जिससे प्रेरित होकर वह गृह में वापिस लौट आए। मम स्मरात्=कर्मणि षष्ठी; "अधीगर्थ"(अष्टा० २।३।५२)।]

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥४॥

(मरुतः) हे मानसून वायुओ! (उन्मादयत) उन्मत्त करो [स्मर के उद्रेक द्वारा], (अन्तरिक्ष) हे मेघाच्छन्न अन्तरिक्ष (उन्मादय) तू भी उसे उन्मत्त करदे। (अग्ने) हे मेघ में चमकने वाली वैद्युताग्नि! (त्वम्) तू भी (उन्मादय) पति को उन्मत्त कर, ताकि (असौ) वह पति (माम्) मेरा (अनु) अनुस्मरण करके (शोचतु) शोकाग्रस्त हो जाय।

[कविसम्प्रदायानुसार वर्षा ऋतु स्मरोद्दीपिका है। अतः विरहिता पत्नी मरुतः को सम्बोधित करती है, पति के वापिस लौट आने के लिए। मरुतः (अथर्व० ४।२७।४;५)।]

सूक्त १३१

(१-३)। अथर्वाङ्गिराः। मन्त्रोक्तदेवताः। अनुष्टुभ्।

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो ३ नितिरामि ते ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥१॥

(शीर्षतः) हे पति! मेरे सिर में (आध्यः) चिन्ताओं को (नि तिरामि) मैं पत्नी नितरां प्राप्त कराती हूं, (पत्ततः) पैरों में अर्थात् शरीर

के अधोभाग में (नि) नितरां चिन्ताएं प्राप्त कराती हूं। (देवाः...शोचतु) अर्थ पूर्ववत्, सूक्त (१३०)।

शीर्षतः पत्ततः =सार्वविभक्तिकः तसिः,सप्तम्यर्थे। पत्नी निज चिरन्तन विरह द्वारा पति के अङ्गों में चिन्ताएं प्राप्त कराती है, और देवों से स्मरोद्दीपन की याचना द्वारा स्मरोद्रेक कर पति को वापिस आ जाने में बाधित करती है। तिरामि="तिरः मत इति प्राप्तस्य" (निरुक्त ३।४।२०)। पत्ततः=एकः "तः" छान्दसः, "पत्तः" इति स्यात्।]

अनुमतेऽन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः।
देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥२॥

(अनुमते) हे अनुकूल गति वाले [पति]! (अनुमन्यस्व) तू मेरे अनुकूल, मति वाला हो जा, (आकूते) हे पतिनिष्ठ संकल्प! (इदम्) इस अनुमनन को (सम् नमः) सम्यक् प्रकार नम्रीभूत कर दे।(देवाः... शोचतु) अर्थ पूर्ववत्।

[अनुमतिः=अनुमन्यते इति; कर्तरि क्तिन्।]

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥३॥

(यत्) जो (त्रियोजनम्) तीन योजनों में परिमित दूर देश में (धावसि) तू चला गया है, (पञ्च योजनम्) या पांच योजनों में परिमित दूर देश में, अथवा (आश्विनम्) अश्व द्वारा प्रापणीय दूर देश में तू चला गया है, तो भी (ततः) वहां से (त्वम्) हे पति! तू (पुनः आ अयसि) फिर वापस आ जा, और (नः) हमारे अपने (पुत्राणाम्) पुत्रों का (पिता असः) पिता हो जा, रक्षक हो जा।

[योजन=८ या ९ मील (आप्टे)। त्रियोजन=२४ या २७ मील। पञ्च योजन=४० या ४५ मील। धावसि=चला गया है,या दौड़ गया है।]

सूक्त १३२

(१-४)। अथर्वाङ्गिराः। स्मरः। अनुष्टुभ्; १ त्रिपदा अनुष्टुभ्; ३ भुरिक्; २, ४, ५ त्रिपदा महाबृहती; २, ४ विराट्।

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥१॥

(देवाः) मादक[1] प्राकृतिक तत्त्वों ने (यम्, स्मरम्) जिस स्मर को, (आध्या सह) मानसिक चिन्ता के साथ (शोशुचानम्) शोकित करते हुए, (अप्सु अन्तः) शारीरिक जलों के भीतर (असिञ्चन्) सींच दिया है (ते, तम्) तेरे उस स्मर को (वरुणस्य) जलाधिपति वरुण के (धर्मणा) धर्म द्वारा (तपामि) मैं पत्नी सन्तापकारो करती हूं।

[अप्सु अन्तः=जलों के भीतर। यह जल साधारण जल नहीं, अपितु शारीरिक जल है,—रक्त रूपी जल। इन जलों में स्मर और मानसिक चिन्ताओं का निवास है, जो कि स्त्री-पुरुष को शोक युक्त करता है। पत्नी निज विरह के द्वारा, पति को और अधिक स्मर-संतापयुक्त करती है, ताकि वह निज संताप के शासन के लिये पत्नी के पास लौट आए। वरुण रक्त-रूपी जल का भी अधिपति है, और विरह में इस जल द्वारा संतापित करना उसका स्वाभाविक धर्म है। मन्त्र में कोई अश्लील भावना नहीं। ये तो गृहस्थ धर्म की अङ्गीभूत स्वाभाविक भावनाएं हैं।]

यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥२॥

(विश्वे देवाः) संसार के अन्य 'मादक-तत्त्व' जो कि जीवन के घटक

---

१. देवाः = दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोद"मद"स्वप्नकान्तिगतिषु (दिवादिः)। ये देव शक्तियां हैं। जिसका प्रतिपादन "क्रीड़ा आदि द्वारा हुआ है। "अप्सु अन्तः" द्वारा शारीरिक जल भी अभिप्रेत हो सकते हैं। यथा —

को अस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धु सृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा उर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥
(अथर्व० १०।२।११)

मन्त्र में, पुरुषे आपः, तीव्राः, करुणाः, लोहिनीः, ताम्रधूम्राः आदि पद शारीरिक रक्तरूपी जल के सूचक हैं। मन्त्र की विशेष व्याख्या के लिये मत्कृत अथर्ववेद भाष्य देखो (अथर्व० १०।२।११)।

हैं, यथा पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्राएं, इन्द्रियां, तथा मन। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)।

यमि॑न्द्रा॒णी स्म॒रमसि॑ञ्चद॒प्स्व॑१न्तः शोशु॑चानं स॒हाध्या।
तं ते॑ तपामि॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा ॥३॥

(इन्द्राणी) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा की चेतनता। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)। इन्द्र=जीवात्मा (अष्टा० ५।२।९३)।

[जीवात्मा की चेतनता शरीर को चेतन सा बनाए रखती है, जीवात्मा जब शरीर का त्याग कर देता है तो शरीर में चेतनता भी नहीं रहती। शरीर को चेतनता की सत्ता में, शरीर में स्मर की भी सत्ता होती है। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)।]

यमि॑न्द्रा॒ग्नी स्म॒रमसि॑ञ्चताम॒प्स्व॑१न्तः शोशु॑चानं स॒हाध्या।
तं ते॑ तपामि॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा ॥४॥

(इन्द्राग्नी) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा, और उसकी अग्नि अर्थात् ज्ञानाग्नि। जीवात्मा की राजस और तामस ज्ञानाग्नियां शरीर में स्मर का सञ्चार करती हैं। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)।

यं मि॒त्रावरु॑णौ स्म॒रमसि॑ञ्चताम॒प्स्व॑१न्तः शोशु॑चानं स॒हाध्या।
तं ते॑ तपामि॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा ॥५॥

(मित्रावरुणा) प्राण और अपान। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)।

[प्राण है बाहर की वायु का नासिका द्वारा फेफड़ों और शरीर में प्रवेश। तथा अपान है शरीर से उसका अपगत होना। अपान द्वारा शरीर के मल के निकल जाने से शरीर की शुद्धि होती रहती है। इस दृष्टि से गुदा द्वारा वायु भी अपगत हुई पेट को शुद्ध करती है। अतः इस वायु को भी अपान कहते हैं। प्राण और अपान की सत्ता में शरीर में स्मर की सत्ता होती है। प्राण अपान सर्व प्राणियों में विद्यमान रहते हैं, अतः स्मर की सत्ता भी सर्वप्राणिसमान है।]

विशेष

सूक्त १३०, १३१, १३२ में किसी ऐतिहासिक वृत्त का कथन नहीं। पति-पत्नी के परस्पर मनोमालिन्य में गृहजीवन में जो स्थिति प्रायः उपस्थित हो जाती है, उसी का कथन इन सूक्तों में हुआ है।

सूक्त १३३

(१-५) । अगस्त्यः । मेखला । त्रिष्टुभ्; १ भुरिक्; २, ५ अनुष्टुभ्; ४ जगती ।

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उं नो युयोज ।
यस्य देवस्य प्रशिषा चराम स पारमिच्छात् स उं
नो वि मुञ्चात् ॥१॥

(यः देवः) जिस आचार्य देव ने (इमाम् मेखलाम्) इस मेखला को (आबबन्ध) [हम से पूर्व के ब्रह्मचारियों को] बान्धा, (यः) जिसने (संननाह) वर्तमान में सन्नद्ध किया, तय्यार किया, और (यः) जिसने (उ) ही (नः) हमारे साथ (युयोज) उसे संयुक्त किया; (यस्य) और जिस (देवस्य) आचार्य देव के (प्रशिषा) प्रशासन द्वारा(चरामः) हम ब्रह्मचर्याश्रम में विचरते हैं, (सः) वह (पारम्) ब्रह्मचर्य-समुद्र से पार करना (इच्छात्) चाहे, (सः उ) वह ही (नः) हमें (विमुञ्चात्) मेखला से विमुक्त करे ।

[कौशिक सूत्र ५७।१ में उपनयन कर्म में सूक्त का विनियोग किया है । "आचार्यदेवो भव" के अनुसार मन्त्रोक्त "देव" आचार्य देव है । ब्रह्मचर्याश्रम रूपी समुद्र है, जिससे ब्रह्मचारी को आचार्य पार करता है, और इस समुद्र से पार होते हुए ब्रह्मचारी को मेखला से नियुक्त करता है । मेखला है ब्रह्मचर्य की सूचिका । ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर ब्रह्मचारी ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना है । अतः आचार्य ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य की सूचिका मेखला से वियुक्त करता है ।]

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥२॥

[हे मेखले !] (अभिहुतः) ब्रह्मचारी के प्रति दी गई तू, (आहुता) ब्रह्मचारी की तपस्-रूपी अग्नि में आहुति रूप हुई है, (ऋषीणाम्) ऋषियों का (आयुधम्) शास्त्र रूप (असि) तू है ।(व्रतस्य) ब्रह्मचर्यव्रत के सम्बन्ध में (पूर्वा) पहिले [ब्रह्मचारी को] (प्राश्नती) विशेषतया प्राप्त होती हुई तू (मेखले) हे मेखला ! (वीरघ्नी) वीरों को प्राप्त होने वाली (भव) हो ।

[अभिहुता=अभि+हु (दाने, जुहोत्यादिः)। ऋषि हैं मन्त्रद्रष्टा तथा मन्त्रार्थद्रष्टा। वेदाविर्भावकाल में चार ऋषियों को वेद आविर्भूत हुए थे, वे हैं मन्त्रद्रष्टा; तदनन्तर के ऋषि वेदार्थद्रष्टा हैं। ऋषियों का सबंध मन्त्रों अर्थात् वेदों के साथ है। ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचारी वेदों का स्वाध्याय करते हैं, इसमें बाधक है ब्रह्मचर्य का विप्लुत होना। मेखला का बन्धन उन्हें अविप्लुत ब्रह्मचारी होने के व्रत का स्मरण कराता रहता है, इस दृष्टि से मेखला शस्त्र का काम करती है। प्राश्नती=प्र+अशूङ् व्याप्तौ। व्याप्तिः=वि+आप्तिः (प्राप्तिः)। वीरघ्नी=वीर+हन् (हिंसागत्योः), यहां गत्यर्थ अभिप्रेत है। गतेः त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिश्च। वीरघ्नी पद में प्राप्ति अर्थ अभिप्रेत है। वे ब्रह्मचारी वीर हैं जो कि १२ वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन कर ब्रह्मचर्याश्रमरूपी समुद्र से पार हो जाते हैं। शास्त्र अनुसार "द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण" का विधान है।]

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मिं निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥३॥

(यत्) जो (मृत्योः[1]) मृत्यु का (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (अहम् अस्मि) मैं हूं, (अहम्) वह मैं (यमाय) यम-नियमों के पालन के लिये, (भूतात्) सत्स्वरूप परमेश्वर से (पुरुषम्) पुरुष की (निर्याचन्) याचना करता हुआ, (तम्, एनम्) इस पुरुष को (ब्रह्मणा) वेदाध्ययन द्वारा, (तपसा) तपश्चर्या द्वारा, (श्रमेण) परिश्रम द्वारा, तथा (अनया मेखलया) इस मेखला द्वारा (सिनामि) मैं बान्धता हूं, अपने साथ सम्बद्ध करता हूं।

[ब्रह्मचर्याश्रम के आचार्य का कथन मन्त्र में है। आचार्य स्वयं भी ब्रह्मचारी है। यथा "आचार्यो ब्रह्मचारी" (अथर्व० ११।७(५)।१६)। ब्रह्मचारी, आचार्य है, गृहस्थोत्तर वानप्रस्थी। ब्रह्मचारियों का गुरु भी ब्रह्मचारी हो, यह आदर्श सिद्धान्त है। वह मृत्यु अर्थात् परमेश्वर का ब्रह्मचारी है। परमेश्वर को वह निज गुरु मानता है, आश्रम के चलाने में पथदर्शक मानता है। मृत्यु है परमेश्वर, यथा "स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः" (अथर्व० १३। अनुवाक ४। पर्याय ३। मन्त्र

१. देखो नचिकेता और मृत्यु का संवाद (कठ-उपनिषद्)।

४ [२५]) । भूतात्=भू सत्तायाम्+क्तः (कर्तरि), भूतः=भवति, सत्तावान् इति । परमेश्वर सत्तावान् है, सत्स्वरूप है । पुरुषम्=इसके दो अभिप्राय हैं, (१) यह युवा है, युवावस्था का भी ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट हो सकता है, (२) यह आश्रम पुरुषों का है, पुंल्लिङ्ग ब्रह्मचारियों के लिये है, कन्याओं के लिये नहीं । कन्याओं के लिये आश्रम पृथक् चाहिये। इसलिये मन्त्र में "पुरुषम्" पद पठित है ।]

श्रद्धाया॑ दुहि॒ता तप॒सोऽधि॑ जा॒ता स्वसा॒ ऋषी॑णां भूत॒कृतां॑ ब॒भूव॑ ।
सा नो॑ मेखले म॒तिमा धे॑हि मे॒धामथो॑ नो धेहि॒ तप॑ इन्द्रि॒यं च॑ ॥४॥

[मेखला] (श्रद्धायाः) श्रद्धा की (दुहिता) पुत्री है, (तपसः अधि) तपस् से (जाता) पैदा हुई है, (भूतकृताम्) सत्स्वरूप परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट कर्मों के करने वाले (ऋषीणाम्) ऋषियों की (स्वसा) बहिन (बभूव) हुई है । (सा) वह तू (मेखले) हे मेखला ! (नः) हमारे लिये या हम में (मतिम्) मननशक्ति का (आधेहि) आधान कर, (मेधाम्) मेधा का आधान कर, (अथो) तथा (तपः) तपश्चर्या, (च) और (इन्द्रियम्) आत्मिक बल का (नः) हमारे लिये या हम में (धेहि) आधान कर ।

[मन्त्र में मेखला का वर्णन है जो कि ब्रह्मचर्य की सूचिका है । श्रद्धावान् व्यक्ति ही ब्रह्मचर्यपूर्वक तपश्चर्या द्वारा वेदाध्ययन कर सकते हैं । मेखला मानो दुहिता के सदृश ब्रह्मचारियों की कामनाओं को पूर्ण कर सकती है; दुहिता=दुह प्रपूरणे (अदादिः) । मेखला ऋषियों की स्वसा अर्थात् बहिन है, तद्वत् उपकारिणी है । स्वसा="स्व" अर्थात् स्वीय ऋषियों की ओर सरण करने वाली । भूतकृताम्="मध्यपदलोपी समास", अर्थात् सत्स्वरूप परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन करने वाले । मति=मनन शक्ति । मेधा=श्रुत का धारण करने वाली शक्ति । इन्द्रियम्=इन्द्र जीवात्मा, उसका बल, अर्थात् आत्मिक बल ।]

यां त्वा॒ पूर्वे॑ भूत॒कृत॒ ऋष॑यः परिबेधि॒रे ।
सा त्वं परि॑ ष्वजस्व॒ मां दी॑र्घायु॒त्वाय॑ मेखले ॥५॥

(याम् त्वा) जिस तुझ को (पूर्वे) पूर्वकाल के, (भूतकृतः) सत्स्वरूप परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्य का पालन करने वाले (ऋषयः) ऋषियों ने (परि बेधिरे) कटि भाग के चारों ओर बान्धा, (सा) वह (त्वम्) तू

(मेखले) हे मेखला ! (माम्) मुझे (परिष्वजस्व) कटिभाग के चारों ओर आलिङ्गित कर, (दीर्घायुत्वाय) मेरी दीर्घ आयु के लिये।

[पूर्वे ऋषयः=पूर्व सृष्टि के ऋषि, या मुझसे पूर्वकाल के ऋषि। वेधिरे=निज ब्रह्मचर्य कालों में। दीर्घायुत्वाय=मेखला ब्रह्मचर्य को सूचित करती है। ब्रह्मचर्य से शरीर बलवान् और नीरोग होकर दीर्घायु वाला होता है। मेखला=तड़ागी, कटिबन्ध।

तपसा

तपस् के सम्बन्ध में योगदर्शन में उल्लेख। यथा,—

नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते (साधनपाद, सूत्र १)।

"अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता। अनादि कर्मों और क्लेशों की वासनाओं से चित्रित, अत एव विषय जाल वाली अशुद्धि, विना तप के छिन्न-भिन्न नहीं हो सकती, इसलिये तप का कथन किया है। वह तप वहीं तक करना चाहिये जहां तक कि चित्त की प्रसन्नता बनी रहे।"

तपः द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौने च। (साधनपाद, सूत्र ३२ पर व्यास भाष्य)। काष्ठमौन=इशारे द्वारा भी निज अभिप्राय को प्रकाशित न करना। आकारमौन=वाणी द्वारा न बोलना। स्थानासने=खड़ा होना और बैठना।]

सूक्त १३४

(१-३)। शुक्रः। मन्त्रोक्तदेवताः। अनुष्टुभ्; १ परानुष्टुभ् त्रिष्टुभ्; २ भुरिक् त्रिपदा गायत्री।

अ॒यं वज्र॑स्तर्पयतामृ॒तस्या॒वास्य॑ रा॒ष्ट्रमप॑ हन्तु जीवि॒तम्।
शृ॒णातु॑ ग्री॒वाः प्र शृ॑णातू॒ष्णिहा॑ वृ॒त्रस्ये॑व॒ शची॒पतिः॑ ॥१॥

(अयम्, वज्रः) यह वज्र (ऋतस्य राष्ट्रम्) सत्य पर आश्रित राष्ट्र को (तर्पयताम्) तृप्त करे, और (अस्य) इस शत्रु के (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (अव हन्तु) नष्ट करे, (जीवितम्) और इसके जीवन को (अप हन्तु) नष्ट करे।

(ग्रीवाः) शत्रु की ग्रीवा की अस्थियों को (शृणातु) काट दे, (उष्णिहाः) और रक्तस्नात नाड़ियों को (प्र शृणातु) काट दे, (इव) जैसे (शचीपतिः) इन्द्र [अर्थात् विद्युत्] (वृत्रस्य) अन्तरिक्ष को घेरे हुए मेघ के अवयवों को काटता है। [उष्णिहाः=उत्स्नातास्तत्रत्या धमनीः (सायण)।]

[सूक्त में वज्रपद द्वारा वज्रवत् कठोर या वज्रधारी सेनापति का वर्णन, अथवा कविता में वज्र का ही वर्णन जानना चाहिये। ऋतम् सत्य-नाम (निघं० ३।१०)।]

अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् ।
वज्रेणावहतः शयाम् ॥२॥

(उत्तरेभ्यः) उत्कृष्ट राजाओं से (अधरः) नीच और (अधरः) अति नीच यह शत्रु राजा (गूढः) पृथिवी से ढका हुआ, (पृथिव्याः) पृथिवी से (उत्) ऊपर (सृपत् मा) सर्पण न करे। (वज्रेण) वज्र द्वारा (हतः) मारा हुआ (अव) पृथिवी के नीचे (शयाम्=शेताम्) सोया पड़े।

[उत्तरेभ्यः=उत्कृष्ट राजा वे हैं जिनके सम्बन्ध में "तर्पयताम्" (मन्त्र १) कहा है। शयाम्=लोपस्त आत्मनेपदेषु (अष्टा० ७।१।४१) द्वारा "त्" का लोप।]

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥३॥

(यः) जो (जिनाति) हमारी वयोहानि करता है (तम्) उसे (अन्विच्छ) तू ढूंढ, (यः) जो (जिनाति) हमारी वयोहानि करता है (तम्) उसको (इत्) ही या अवश्य (जहि) मार। (वज्र) हे वज्रधारी! (त्वम्) तू (जिनतः) वयोहानि करने वाले के (सीमन्तम्) सिर के मध्यदेश को (अन्वञ्चम्) नीचे की ओर झुका कर (अनु पातय) तदनुसार गिरा दे।

[सीमन्तम्=सीम्नः अन्तः तम्, शिरसो मध्यदेशम् (सायण)।]

सूक्त १३५

(१-३)। शुक्रः। मन्त्रोक्तवज्रदेवता। अनुष्टुप्।

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे ।
स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥१॥

(यत्) जो (अश्नामि) मैं खाता हूं, (बलम्, कुर्वे) और बल को प्राप्त करता हूं या व्यायाम करता हूं, (इत्थम्) इस प्रकार (वज्रम्) वज्र का (आददे) मैं ग्रहण करता हूं। (शचीपतिः) इन्द्र [विद्युत्] (इव) जैसे (वृत्रस्य) मेघ के (स्कन्धान्) अवयवों को काटता है, वैसे मैं (अमुष्य) उस शत्रु के स्कन्ध आदि अवयवों को (शातयन्) काटता हुआ होऊं।

[मन्त्र में पुरुषविधि में शत्रु का वर्णन हुआ है, पुरुषविधि का अभिप्राय है "Personification", अर्थात् जड़ पदार्थों में मनुष्य के गुण आरोपित करना। इस विधि को वेदों में प्रायः अपनाया है। तथा देखो निरुक्त (७।२।६,७)। मन्त्र में शत्रु हैं काम, क्रोध, लोभ आदि। मन्त्र २, ३ में भी शत्रु ये ही जानने चाहियें। वज्र का अभिप्राय है "ब्रह्मचर्य"।

वृत्रस्य=तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः (निरुक्त २।५।१३)। नैरुक्त दृष्टि में जब वृत्र है मेघ, तब उसके स्कन्ध आदि अवयव वास्तविक संभव नहीं हो सकते, वे काल्पनिक ही हैं। इसी प्रकार काम, क्रोध, मोह आदि आध्यात्मिक शत्रुओं के अङ्गों की सत्ता भी काल्पनिक ही है।]

यत् पिबा॑मि॒ सं पि॑बामि समु॒द्र इ॑व संपि॒बः।
प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒पाय॒ सं पि॑बामो अ॒मुं व॒यम् ॥२॥

(यत्) जो (पिबामिः) मैं पीता हूं (सं पिबामि) सम्यक् रूप में पीता हूं, (समुद्रः इव) समुद्र की तरह (सं पिबः) सम्यक् रूप में पीता हूं, (अमुष्य) उस शत्रु के (प्राणान्) प्राणों को (संपाय) सम्यक् रूप में पीकर (वयम्) हम (अमुम्) उसे भी (सं पिबामः) सम्यक् रूप में या मिलकर पी जाते हैं।

[काम, क्रोध, लोभ आदि आध्यात्मिक शत्रुओं के प्राण हैं तत्सम्बन्धी वासनाएं। इन वासनाओं को पीने का अभिप्राय है इन वासनाओं का भी नियन्त्रण करना, नष्ट करना। इन वासनाओं के नष्ट हो जाने पर इन वासनाओं के विषय स्वतः प्रभावरहित हो जाते हैं, सत्तारहित सदृश हो जाते हैं। यथा "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" (गीता)। निराहारस्य=इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन न करने वाले के विषय निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु इन विषयों के रस अर्थात् वासनाएं बनी रहती हैं, जिन का विनिवर्तन केवल आध्यात्मिक उपायों द्वारा ही होता है। सं पिबः=पिबतेः कर्तरि "शः"+पिबादेशः।]

यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः ।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥३॥

(यद् गिरामि) जो मैं निगलता हूं (सं गिरामि) सम्यक् रूप में निगलता हूं, (समुद्रः इव) समुद्र की तरह (सं गिरः) सम्यक् रूप में निगलता हूं, (अमुष्य) उस कामादि शत्रु के (प्राणान्) प्राणों को (सं गीर्य) सम्यक् रूप में निगल कर, (अमुम्) उसे भी (वयम्) हम (सं गिरामः) सम्यक् रूप में या मिलकर निगल जाते हैं।

[काम, क्रोध आदि शत्रु के प्राण हैं तत्सम्बन्धी वासनाएं। वासनाओं के अभाव में तत्सम्बन्धी विषय स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं। मन्त्रों में अश्नामि, पिबामि, गिरामि द्वारा भोजन के खाने के प्रकारों का वर्णन हुआ है। "अश्नामि" खाना है चबाना, और "गिरामि" है गले द्वारा पेट में अन्न पहुंचाना, और इसके लिये "पिबामि" है जल पीना। कामादि को खाना, पीना, निगलना, निरुक्त प्रदर्शित "पौरुषविधि"[1] द्वारा उपपन्न होता है।]

सूक्त १३६

(१-३)। अथर्वा। केशवर्धनकामः, वीतहव्यः। वनस्पतिः। अनुष्टुभ्; २ एकावसाना द्विपदा साम्नी बृहती।

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे ।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ॥१॥

(ओषधे) हे ओषधि! (देवी, देव्याम्, पृथिव्यामधि) देवी तू दिव्य-गुणों वाली, पृथिवी में (जाता असि) पैदा हुई है, (नितत्नि) हे नितरां या नीचे फैलने वाली! (तां त्वा) उस तुझ को (केशेभ्यः) केशों के लिये (दृंहणाय) दृढीकरणार्थ (खनामसि) हम खोदते हैं।

[ओषधि=काचमाची प्रभृति (सायण)। नितत्नि=नि+तन् (विस्तारे+क्विः[2], द्विर्वचनम्। मन्त्रों में प्रायः ओषधियों के गुणधर्मों का

---

१. यथा "चेतनावद् हि स्तुतयो भवन्ति, अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथा अक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि" (निरुक्त ७।२।७)।

२. "आदृगमहन" (अष्टा० ३।२।१७१) द्वारा "किः" लिड्वद्भावात् द्विर्वचनम् (सायण)।

कथन होता है, ओषधि के नाम का निर्देश नहीं होता । गुणधर्मों के अनुसार ओषधि का ज्ञान करना होता है । अथवा "देवी" पद द्वारा ओषधि के नाम का ही कथन किया है । यथा "सहदेवी" ओषधि के नाम में "देवी" पद है, वैसे सम्भवतः किसी ओषधि के अर्धनाम को देवी पद द्वारा सूचित किया हो, जैसे देवदत्तः है, देवः या दत्तः । अथवा "देवी" पद ही ओषधि का नाम हो ।]

दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि ॥२॥

हे ओषधि ! (प्रत्नान्) पुराने केशों को तू (दृंह) दृढ़ कर, (अजातान्) अनुत्पन्नों को (जनय) पैदा कर, (जातान् उ) और उत्पन्नों को (वर्षीयसः) प्रवृद्ध (कृधि) कर ।

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते ।
इदं तं विश्वभेषज्याऽभि षिञ्चामि वीरुधा ॥३॥

(ते) तेरा (यः) जो (केशः) केश (अव पद्यते) टूट कर नीचे गिर जाता है, (यः च) और जो (समूलः) जड़ समेत (वृश्चते) कट जाता है, (इदम्) इसे और (तम्) उसे (विश्वभेषज्या) केशों के सब रोगों की ओषधि रूप (वीरुधा) वीरुध् द्वारा (अभिषिञ्चामि) मैं सींचता हूं ।

[विश्वभेषजी सम्भवतः ओषधि का नाम हो, जिसे कि मन्त्र (१) में देवी कहा है । अथर्व० (६।५२।३) में विश्वभेषजी के सम्बन्ध में सायणाचार्य ने कहा है कि "शान्तौषधीं" "शमीम्" वा । "अभिषिञ्चामि" द्वारा "विश्वभेषजी" वीरुध् के रस द्वारा केशों को सींचने का कथन हुआ है ।]

सूक्त १३७

(१-३) । अथर्वा (केशवर्धनकामः) वीतहव्यः । अनुष्टुभ् ।

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् ।
तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥१॥

(केशवर्धनीम्) केशों को बढ़ाने वाली (याम्) जिस ओषधि को (जमदग्निः) प्रज्वलित अग्नि वाले ने वानप्रस्थी (दुहित्रे) दुहिता सदृश कन्याओं के लिये (अखनत्) खोदा, (ताम्) उस ओषधि को (असितस्य)

काले सांपों के (गृहेभ्यः) घरों अर्थात् जङ्गलों से, (वीतहव्यः) विगत-हविष्क संन्यासी ने, (आ अभरत्=आ अहरत्) प्राप्त किया।

[काले सांप अति विषैले होते हैं, प्रायः जङ्गलों में होते हैं। वानप्रस्थी भी वनों में रहते हैं। उदारहृदय परोपकारी वानप्रस्थी केशवर्धनी ओषधि को कन्याओं के केश रोग के निवारण के लिये खोद रखते हैं, और परोपकारी संन्यासी जब प्रचारार्थ गृहस्थों के घरों में जाते हैं तो उस ओषधि को कन्याओं में बांट देते हैं। असितस्य=अ+सित (श्वेत), काला सांप। मन्त्र में असितस्य, दुहित्रे, जमदग्निः, वीतहव्यः,—ये जात्येकवचन के प्रयोग हैं। कन्याओं के यदि केश न हों, वे गञ्जी हों तो उनका विवाह नहीं हो सकता। अतः केशवर्धनी ओषधि को खोद कर, उसका संग्रह कर रखना, और उसका वितरण करना सामाजिक अत्युपकार है। वानप्रस्थियों के लिये यज्ञ करने को विधि है, संन्यासी वीतहव्य होते हैं, हवियों से विगत होते हैं।]

अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥२॥

(केशाः) जो केश (अभीशुना) अङ्गुलियों द्वारा (मेयाः) मापने योग्य (आसन्) थे, वे (अनु) ओषधि के प्रयोग के पश्चात् (व्यामेन) व्याम द्वारा (मेयाः) मापने योग्य हो गए हैं। (ते) तेरे (शीर्ष्णः परि) सिर के चारों ओर (असिताः) काले केश (नडाः इव) नड़ की तरह (वर्धन्ताम्) बढ़ें।

[अभीशवः, अङ्गुलिनाम (निघं० २।५)। व्यामेन=प्रसारित बाहु और प्रसारित हस्ताङ्गुलियों के कानों तक की लम्बाई (आप्टे)। असितस्य =काला सांप (मन्त्र १), और असिताः काले केश।]

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥३॥

(ओषधे) हे ओषधि! (मूलम्) केशों की जड़ को (दृंह) तू दृढ़ कर, (अग्रम्) केशों के अग्रभाग को (आ यच्छ) लम्बा कर, (मध्यम्) केशों के मध्य भाग को (वि यामय) विशेषतया नियन्त्रित कर सुदृढ़ कर (केशाः नडा इव ... परि), अर्थ, मन्त्र (२) की तरह।]

सूक्त १३८

(१-५) । अथर्वा । वनस्पतिः । अनुष्टुभ्; ३ पथ्यापंक्तिः ।

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाऽभिश्रुताऽस्योषधे ।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीवमोपशिनं कृधि ॥१॥

(ओषधे) हे ओषधि ! (त्वम्) तू (वीरुधाम्) लताओं में (श्रेष्ठतमा) सर्वश्रेष्ठ (अभिश्रुता) प्रसिद्ध (असि) है, (अद्य) आज (मे) मेरे (मम्) इस (पुरुषम्) व्यभिचारी पुरुष को (क्लीवम्) नपुंसक अर्थात् हिजड़ा, और (ओपशिनम्) ओपश वाला (कृधि) कर ।

[मन्त्र में ओषधि का नाम नहीं दिया । "अद्य" का अर्थ है आज । ओषधि शीघ्र प्रभावकारिणी है जोकि एक ही दिन में सफलता दे सकती है । ओपश है स्त्रियों के सिर का आभूषण । व्यभिचारी पुरुष के क्लीव हो जाने पर उसे ओपश पहना दिया जाय ताकि सर्वसाधारण को यह ज्ञात हो जाय कि यह व्यभिचारी है, अतः क्लीव कर दिया गया है । यह ओषधि वीर्य का नाश कर देती है । वीर्य के नाश होने से पौरुष शक्ति वाला पुरुष क्लीब हो जाता है ।]

क्लीवं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥२॥

व्यभिचारी को (क्लीबम्) नपुंसक (कृधि) कर दे, (अथो) और (ओपशिनम्) ओपश वाला, (कुरीरिणम्) कुरीरयुक्त (कृधि) कर दे, (अथ) तदनन्तर (इन्द्रः) सम्राट् (ग्रावभ्याम्) दो ग्रावाओं द्वारा (अस्य) इसके (उभे अण्डचौ) दोनों अण्डों के भीतरी भागों को (भिनत्तु) तोड़ दे ।

[ओपश और कुरीर स्त्रियों के आभूषण हैं । व्यभिचारी के दोनों अण्डों को तोड़कर उसे नपुंसक अर्थात् वीर्यहीन करके, स्त्रियों के दो आभूषण पहिना देने का विधान हुआ है । इन्द्रः=सम्राट्, "इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७) । अण्डभेदन राजाज्ञा के विना नहीं होना चाहिये; —यह इन्द्र पद द्वारा सूचित होता है । मन्त्र में आण्डचौ के भेदन का

विधान है, आण्डचौ का अभिप्राय है दो अण्डों में स्थित-नाड़ी समूह। ग्रावभ्याम्=दो पत्थरों से।]

क्लीबं क्लीबं त्वाऽकरं वध्रे वध्रिं त्वाऽकरमरसारसं त्वाऽकरम्।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥३॥

(क्लीब) हे नपुंसक! (त्वा) तुझे (क्लीबम्) नपुंसक (अकरम्) मैंने कर दिया है, (वध्रे) हे बधिया! (त्वा) तुझे (वध्रिम्) बधिया [षण्डक] (अकरम्) मैंने कर दिया है, (अरस) हे वीर्यरस विहीन! (त्वा) तुझे (अरसम्) इस रस से विहीन (अकरम्) मैंने कर दिया। (अस्य) इसके (शीर्षणि अधि) सिर पर (कुरीरम्, कुम्बम्) ये दो स्त्री आभूषण (निदध्मसि) हम स्थापित करते हैं।

[कुरीर और कुम्ब स्त्रियों के सिरों के आभूषण हैं।] वध्रिः= Eunuch।

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्।
ते ते भिनद्मि शम्ययाऽमुष्या अधि मुष्कयोः ॥४॥

(ते) तेरी (ये) जो (देवकृते) परमेश्वर निर्मित (नाड्यौ) दो नाड़ियां हैं, (ययोः) जिन दो में (वृष्ण्यम्) वीर्य (तिष्ठति) स्थिति को प्राप्त करता है, (ते) तेरी (ते) उन दोनों का, (शम्यया) शम्या काम वाली शम्या कील द्वारा, (अमुष्याः अधि) उस शिला पर स्थापित (मुष्कयोः) दो अण्डों में संलग्न (ते) तेरी (ते) उन दो नाड़ियों का (भिनद्मि) मैं भेदन करता हूं।

[नाड्यौ=नडवत् सछिद्र दो शुक्रवह नाड़ियां। शम्या=सम्भवतः शमी वृक्ष के काष्ठ द्वारा निर्मित, अथवा भोगवासना को शान्त कर देने वाला कील।

अमुष्याः अधि=अमुष्याः प्रसिद्धायाः शिलायाः अधि उपरि (सायण)। मन्त्र (२) में "ग्रावभ्याम्" द्वारा दो पत्थरों का कथन हुआ है, इसका स्पष्टीकरण मन्त्र (५) में हुआ है।

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना।
वा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः ॥५॥

(स्त्रियः) स्त्रियां (यथा) जैसे (कशिपुने) चटाई के लिये (अश्मना)

पत्थर द्वारा (नडम्) नड़ का (भिन्दन्ति) भेदन करती हैं, (एव) इसी प्रकार (अमुष्याः अधि) उस शिला पर स्थापित (मुष्कयोः) दो अण्डों में संलग्न (ते शेपः) तेरी प्रजननेन्द्रिय का (भिनद्मि) मैं भेदन करता हूं [अश्मना]।

[मन्त्र २ में ग्रावभ्याम् द्वारा दो पत्थर कहे हैं, एक पत्थर है शिला, और दूसरा है अश्मा।]

सूक्त १३९

(१-५) अथर्वा। वनस्पतिः। अनुष्टुभ्; १ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् जगती।

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥१॥

[हे पारमेश्वरी माता !] (न्यस्तिका) तू नितरां [काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को] फेंक देती है, उन्हें निरस्त कर देती है, (रुरोहिथ) तू हृदय में आरोहण किये हुई है, (मम, सुभगंकरणी) मेरे सौभाग्यों को उत्पन्न करने वाली है। (तव) तेरे (प्रतानाः) ऊपर की ओर विस्तार (शतम्) सैंकड़ों हैं, (नितानाः) नीचे को ओर फैलाव (त्रयस्त्रिंशत्[1]) ३३ हैं, (सहस्रपर्ण्या) हजारों का पालन करने वाली (तया) उस माता द्वारा (ते) [हे पत्नी !] तेरे (हृदयम्) हृदय को (शोषयामि) मैं पति, सांसारिक विषय भोगों के लिये सूखा देता हूं।

[सूक्त में सात्त्विक-प्रकृति वाले गृहस्थ पति-पत्नी का वर्णन है। परमेश्वर माता भी है, वह उपासक के कामादि को, मातृस्नेह वाली होकर,

---

१. ३३ देवता भी हैं। यथा "यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे" (अथर्व० १०।७।२७)। ये ३३ देवता हैं, ८ वसवः, ११ रुद्राः, १२ आदित्याः, यज्ञ और प्रजापतिः। वेद में "तिस्रः दिवः" द्वारा ३ द्युलोक कहे हैं। एक दृश्यमान, तथा दो इस दृश्यमान द्युलोक से ऊपर के द्युलोक।

सम्भवतः इस द्विविध-विभाग को "शतम् प्रतानाः, और त्रयस्त्रिंशत् नितानाः" द्वारा सूचित किया हो। यह विषय अनुसन्धान योग्य है।

दूर कर देती हैं। सदा हृदयवासिनी है। द्युलोक में उसके विस्तार सैंकड़ों हैं, द्युलोक से नीचे की ओर उसके विस्तार ३३ हैं। बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनैश्चर, चन्द्रमा और सूर्य, ८ ग्रह; तथा रुद्र ११; ओर मास १२; यज्ञ और प्रजापति २। पारमेश्वरी माता, उपासक-पति के सौभाग्यों को पैदा कर चुकी है। सौभाग्य हैं षड्विध, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य। पति निज पत्नी को भी इस आध्यात्मिक मार्ग की ओर लाना चाहता है, और हजारों का पालन करने वाली माता के द्वारा, पत्नी के हृदय को सूखा देता है, विषय भोगों के लिये प्रेमरस से रहित कर देता है। पर्णी=प पालनपूरणयोः (जुहोत्यादिः)।]

शुष्यंतु मयि ते हृदयमथा शुष्यत्वास्यम् ।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥२॥

(मयि) मेरे सम्बन्ध में भी (ते) तेरा (हृदयम्, शुष्यतु) हृदय प्रेमरस की दृष्टि से सूख जाय, (अथो) तथा (आस्यम्) मुख भी (शुष्यतु) रसीली बातें करने की दृष्टि से सूख जाय। (अथो) और (कामेन) कामवासना की दृष्टि से (माम्) मुझको (निशुष्य[1]) नितरां सूखा कर, (अथो) तदनन्तर (शुष्कास्या) रसीली बातों से रहित हुई (चर) गृहकार्यों में तू विचर।

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥३॥

(बभ्रु) हे भरण-पोषण करने वाली! (कल्याणि) हे कल्याण करने वाली पारमेश्वरी माता। (सवननी) तू सम्यक् रूप से हमारी भक्ति चाहती है, (समुष्पला) सम्यक् रूप में [कामादि] का दहन कर हमें गति प्रदान करती है, तू हम पति-पत्नी को (संनुद) सम्यक् मार्ग में प्रेरित कर। (अमूम् च) उस मेरी पत्नी को, (माम् च) और मुझ पति को (सं नुद) सम्यक् मार्ग में प्रेरित कर, (समानम् हृदयम् कृधि) हमारे दोनों के हृदयों को "एक" कर दे, या समान भावनाओं वाले कर दे।

[सं वननी=सम्+वन (संभक्तौ, भ्वादिः); वनु याचने (तनादिः)। समुष्पला=सम्+उष (दाहे)+पल (गतौ, भ्वादिः)।]

---

१. नि शुष्य=नितरां शोषयित्वा ।

यथो॑द॒कमप॑पुषोऽप॒ शुष्य॑त्या॒स्य॑म् ।
ए॒वा नि शु॑ष्य॒ मां कामे॒नाथो॒ शुष्का॑स्या चर ॥४॥

(यथा) जैसे (उदयम्) जल को (अपपुषः) न पिये पिपासु का (आस्यम्) मुख (अप शुष्यति) सूख जाता है, (एवा, एवम्) इसी प्रकार (कामेन) कामवासना की दृष्टि से (माम्) मुझ पति को (निशुष्य) नितरां सूखा कर, (अथो) तदनन्तर (शुष्कास्या) सूखे मुख वाली हुई-तू (चर) गृहकार्यों में विचर।

[जब पति की कामवासना सूख गई, और पत्नी ने निज वैराग्य-भावना से इस वासना को सूखा दिया, उससे उसे रहित कर दिया, तब पत्नी निज सुख द्वारा पति के साथ प्रेमरस कथा नहीं करती, प्रेमरस सम्बन्धी वचन नहीं बोलती और वे दोनों गृहजीवन मात्र के लिये गृह में विचरते हैं।]

यथा॑ नकु॒लो वि॒च्छिद्य॑ सं॒दधा॒त्यहिं॒ पुनः॑ ।
ए॒वा काम॑स्य॒ विच्छि॑न्नं॒ सं धे॑हि वीर्यावति ॥५॥

(यथा) जैसे (नकुलः) न्योला (अहिम्) सांप को (विच्छिद्य) दो[1] टुकड़ों में करके (पुनः) फिर, तदनन्तर (संदधाति) अपने-आप को समाहित अर्थात् शान्त कर लेता है, (एव) इस प्रकार (वीर्यावति) हे शक्तिमती पत्नी ! तू (कामस्य) काम को (विच्छिन्नम्) छिन्न-भिन्न करके (संधेहि) अपने-आप को समाहित अर्थात् शान्त कर। [कामस्य=कर्मणि षष्ठी; अथवा, कामस्य भात्र संस्कारं वा विच्छिन्नं कृत्वा।]

सूक्त १४०

(१-३) । अथर्वा । ब्रह्मणस्पतिः, तथा मन्त्रोक्त देवताः । अनुष्टुभ्; १ उरोबृहती; २ उपरिष्टाद् ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्; ३ आस्तारपंक्तिः ।

यौ व्या॒घ्राववरू॑ढौ॒ जिघ॑त्सतः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च ।
तौ दन्तौ॑ ब्रह्मणस्पते शि॒वौ कृ॑णु जातवेदः ॥१॥

(व्याघ्रौ) व्याघ्रनामक या व्याघ्रवत् काटने वाले (यौ) जो दो दान्त

---

१. छिदिर् द्वैधीकरणे (रुधादिः)।

(अवरूढौ) ऊपर के हनु में अवाङ्मुख होकर उत्पन्न हुए हैं, (च) और (पितरम्, मातरम्) पितृत्व तथा मातृत्व शक्ति सम्पन्न प्राणियों को (जिघत्सतः) खाने की इच्छा करते हैं, (तौ दन्तौ) उन दो दान्तों को, (जातवेदः ब्रह्मणस्पते) हे सर्वज्ञ वेद स्वामी! (शिवौ) सुखकारी (कृणु) कर।

[काटना सामने के दो दान्तों द्वारा होता है और प्रथमोत्पन्न ऊपर के दो दान्त काटकर खाने के लिये परमेश्वर उत्पन्न करता है। ये दान्त, प्राणि-पशुपक्षियों को काट कर खाने के लिए नहीं दिये, अपितु, [मन्त्र (२)] में कथित वस्तुओं को काट कर खाने के लिये परमेश्वर ने दिये हैं। दन्तारोहण के काल में शिशु पीड़ा अनुभव करते और रुग्ण हो जाते हैं, अतः परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह इस काल को शिशु के लिये सुखकारी करे।]

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥२॥

[हे दो दान्तो!] (व्रीहिम्, अत्तम्) चावल खाओ, (यवम्, अत्तम्) जौं खाओ, (अथो) और (माषम्) माष को, (अथो) और (तिलम्) तिल को खाओ। (दन्तौ) हे दो दान्तो! (रत्नधेयाय) रमणीय फल को धारण करने के लिये, (वाम्) तुम दो के लिये, (एषः, भागः) यह भाग (निहितः) स्थापित किया है, (पितरम्, मातरम् च) और पितृशक्ति सम्पन्न तथा मातृशक्ति सम्पन्न प्राणियों की (मा हिंसिष्टम्) [खाने के लिये] हिंसा न करो।

उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ।
अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥३॥

(सयुजौ) साथ साथ लगे हुए, (स्योनौ) सुखकर, (सुमङ्गलौ) उत्तम-मङ्गलकारी (दन्तौ) दो दान्त (उपहूतौ) मानों उत्सुकता पूर्वक बुलाए गए हैं। (दन्तौ) हे दो दान्तो! (वाम्) तुम दो का (घोरम्) क्रूर-कर्म अर्थात् काटना (तन्वः) शरीर से (अन्यत्र) व्रीहि आदि को (परैतु) प्राप्त

हो, अर्थात् (पितरम्, मातरम् च) पितृशक्ति सम्पन्न और मातृशक्ति संपन्न प्राणियों को (मा हिंसिष्टम्) हिंसा न करो।

[उत्पन्न हुए शिशु के दान्त कब निकलते हैं, इसकी प्रतीक्षा माता-पिता उत्सुकता पूर्वक करते रहते हैं, इसलिये मानो माता-पिता ने इन दो दान्तों का स्वयं आह्वान किया है।]

सूक्त १४१

(१-३)। विश्वामित्रः। अश्विनौ। अनुष्टुभ्।

वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम्।
इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥१॥

(वायुः) वायुसमान शोधक अधिकारी (एनाः) इन प्रजाओं को (समाकरत्) सम्यक् तथा पूर्णतया शुद्ध करे, (त्वष्टा) त्वष्टा नाम वाला अधिकारी (पोषाय) अन्न द्वारा पुष्टि के लिये (ध्रियताम्) धारित अर्थात् नियुक्त किया जाय। (इन्द्रः) सम्राट् (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रवत्) जीवनमार्ग का उपदेश दे, कथन करे, (रुद्रः) रुद्र अधिकारी (भूम्ने) प्रजा की वृद्धि के लिये (चिकित्सतु) प्रजा की चिकित्सा अर्थात् रोगापनयन करे।

[वायु सदा गति करती है, और निजगति द्वारा शुद्ध करती रहती है अतः शुद्धिकर्त्ता अधिकारी को वायु कहा है। त्वष्टा है सूर्य, जो कि मेघों का निर्माण कर, वर्षा द्वारा अन्नोत्पादन कर, प्रजा का पोषण करता है, अतः पोषण के अधिकारी को त्वष्टा कहा है। इन्द्र है सम्राट् 'इन्द्रश्च सम्राड्' (यजु० ८।३७)। रुद्र है चिकित्सा का अधिकारी, जिसके सम्बन्ध में "चिकित्सतु" पद का प्रयोग हुआ है। चिकित्सतु=कित निवासे रोगापनयने च (भ्वादिः)। ब्रवत् =बोलना मनुष्य धर्म है, अतः इन्द्र मनुष्य है। इसके साथी भी, शासन कर्म में, मनुष्य होने चाहियें, अतः वायु आदि के अर्थ तदनुरूप किये हैं।]

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥२॥

[हे वैद्य !] (लोहितेन स्वधितिना) सुवर्ण के, लोहे के, या लाल ताम्बे

के शस्त्र द्वारा (कर्णयोः) दोनों कानों का (मिथुनम्) वेध (कृधि) कर। (लक्ष्म) कर्ण वेध चिह्न को (अश्विना) देवों के दो भिषक् (अकर्ताम्) निजनिरीक्षण में करें। (तद्) वह वेध चिह्न (प्रजया) प्रजा की बहुत्व संख्या द्वारा (बहु) बहुसंख्यक हो।

[लोहम् हिरण्यनाम (निघं० १।२)। मिथुनम्=मिथृ मेथृ हिंसायाम्, इत्येके (भ्वादिः)। कर्णवेध एक प्रकार से कर्ण की हिंसारूप ही है। कर्ण-वेध बाल-बालिका दोनों का होना चाहिये। कर्णवेध में नानारोग निवृत्त हो जाते हैं। बाल और बालिका के कानों के किस-किस स्थान में वेध करना चाहिये इसे कुशल वैद्य ही जान सकते हैं। कर्णवेध तीसरे या पांचवें वर्ष में होने का विधान है। कर्णवेध के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान के लिये देखो "संस्कार चन्द्रिका", द्वारा डाक्टर सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, विजयकृष्ण लखन पाल, ४।२४ आसफ अली रोड़, नई दिल्ली-१।]

यथा॑ च॒क्रुर्दे॑वासु॒रा यथा॑ मनु॒ष्या॒ उ॒त ।
ए॒वा स॑हस्रपो॒षाय॑ कृणु॒तं लक्ष्मा॑श्विना ॥३॥

(यथा) जिस प्रकार (देवासुराः) देव अर्थात् ब्राह्मण तथा असुर= क्षत्रिय, और वैश्य, (उत) तथा (मनुष्याः) शेष मनुष्य अर्थात् शूद्र (चक्रुः) कर्णवेध करते रहे हैं. (एवा=एवम्) इसी प्रकार (सहस्रपोषाय) कर्णवेध द्वारा हजारों प्रजाजनों की पुष्टि के लिये (अश्विना=अश्विनौ) हे देवों के दो भिषजो !, दो चिकित्सको ! तुम (लक्ष्म) कर्णवेध चिह्न (कृणुतम्) करो [निज निरीक्षण में]।

[देव पद ब्राह्मणों को सूचित करता है। ब्राह्मणों को "भूदेवाः" तथा "भूसुराः" कहते हैं, अर्थात् पृथिवी के देव। असुराः के दो अर्थ हैं,(१) असु अर्थात् प्राण अर्थात् बल वाले क्षत्रिय, तथा,(२)वसु अर्थात् धन वाले वैश्य। यथा "असुरिति प्राणनाम, अस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः असुराः" (निरुक्त ३।२।८) क्षत्रिय। असुराः=वसुराः, धनवन्तः, वैश्याः। असुर-त्वम्=वादिलुप्तम्; आदि "व्" का लोप (निरुक्त १०।३।३४); "त्वष्टा" पद की व्याख्या में। जब वेदानुयायी चारों वर्ण कर्णवेध संस्कार करते हैं, और कर्णवेध द्वारा नानाविध रोगों के निवर्तन द्वारा शरीर पुष्टि सम्भव है, तब "सहस्रपोषाय" पद सार्थक ही है।]

सूक्त १४२

(१-३) । विश्वामित्रः । यवः । अनुष्टुप् ।

उच्छ्र्यस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव ।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥१॥

(यव) हे मिश्रण तथा अमिश्रण करने वाले !, तथा यव अर्थात् कृषि धान्य जौं की तरह संसार के बीजरूप परमेश्वर ! (उच्छ्र्यस्व) तू उत्कृष्ट आश्रयरूप हमारा बन, (स्वेन महसा) अपने तेज द्वारा (बहुः भव) बहु-प्रकाशमान हो। (विश्वा पात्राणि) उन सब को जोकि अकेले[1] खाते-पीते हैं (मृणीहि) मार, (दिव्या अशनिः) मेघीय दिव्यवज्रपात, (त्वा) तेरा (मा वधीत्) वध नहीं करता[2]।

[मन्त्र (२) में "आशृण्वन्तं यवं देवम्, वदामसि" द्वारा "यव" को देव तथा सुनने वाला कहा है, और उस के प्रति बोलने अर्थात् कथन करने का भी निर्देश हुआ है. इससे प्रतीत होता है कि "यव" "चेतन" है, न कि जड़ "जौं"। सायणाचार्य ने भी ऐसा ही मान कर व्याख्या की है। यथा "आभिमुख्येनास्मदुक्तमाकर्णयन्तं यवं, यवधान्यरूपेण अवस्थितं देवम्"।

यव=यु मिश्रणामिश्रणयोः (अदादिः)। किसी भी वस्तु की उत्पत्ति में मिश्रण और अमिश्रण दोनों होते हैं। यव अर्थात् जौं से जब अंकुर की उत्पत्ति होती है तब जौं के साथ मिट्टी, जल आदि का मिश्रण होता है, और जौं के निज तत्त्वों का अमिश्रण अर्थात् उससे अलग होकर अंकुर रूप में उनका मिश्रण होता है। इस मिश्रण और अमिश्रण का कर्त्ता परमेश्वर है। इसलिये उसे "यव" कहा है। तथा परमेश्वर संसार के उत्पादन का बीज भी है, कारण भी है।

---

१. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः "सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य"। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी ॥(ऋ० १०।११७।६)। तथा "भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" गीता।

२. मेघीय दिव्य वज्रपात यवधान्य का तो वध करता है, तुझ परमेश्वर रूप यव का नहीं।

पात्राणि = पा+ष्टन् (उणा० ४।१६०)। पा पाने, पा रक्षणे। जो केवल अपनी ही रक्षा के लिये खाते-पीते हैं। पात्राणि = पातृणि।

आ॒शृण्वन्तं॒ यवं॑ दे॒वं यत्र॑ त्वाऽच्छा॒वदा॑मसि।
तदुच्छ्रय॑स्व॒ द्यौरि॑व समु॒द्र इ॑वै॒ध्यक्षि॑तः ॥२॥

(आशृण्वन्तम्) सब की वार्ताओं को सुनते हुए, जिस (यवम्) मिश्रण तथा अमिश्रण करने वाले, (यत्र) जिस किसी हृदय में प्रकट होने वाले, (त्वा देवम्) तुझ देव को (अच्छा वदामसि) अभिमुख होकर हम कहते हैं कि (तत् = तत्र) वहां अर्थात् हृदय में (उत् श्रयस्व) उत्कृष्टरूप में तू हमारा आश्रय बन। (द्यौः[1] इव) द्युलोक की तरह, (अक्षितः) अक्षीण प्रकाश वाला हुआ (एधि) तू हो, तथा (समुद्रः इव) समुद्र की तरह (अक्षितः) अक्षीण सम्पत्ति वाला हो।

[परमेश्वर सब की वार्ताओं को सुनता है, यथा "द्वौ निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः" (अथर्व० ४।१६।२) अर्थात् दो बैठकर जो मन्त्रणा करते हैं राजा वरुण उसे जानता है तीसरा हो कर। तथा "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (उपनिषद्)। द्यौः प्रकाश की दृष्टि से अक्षीण है, और समुद्र जल की दृष्टि से अक्षीण है। परमेश्वर निज प्रकाश और सब सम्पतियों की दृष्टि से अक्षीण है।]

अक्षि॑तास्त उप॒सदोऽक्षि॑ताः सन्तु रा॒शयः॑।
पृ॒णन्तो॒ अक्षि॑ताः सन्त्व॒त्तारः॑ स॒न्त्वक्षि॑ताः ॥३॥

हे परमेश्वर! (ते) तेरे (उपसदः) उपासक (अक्षिताः) क्षीण न हों, (राशयः) तेरी सम्पत्ति राशियां (अक्षिताः) क्षीण न हों, (पृणन्तः) तेरे प्रसादार्थ पर-पालक (अक्षिताः) क्षीण न हों, (अत्तारः) तेरे अन्नरूप का भोग करने वाले (अक्षिताः) क्षीण न हों।

[अक्षिताः = संख्या में क्षीण न हों, बहुसंख्यक हों, तथा शक्तिशाली हों। उपसदः = "उप+सदः" अर्थात् उपासकः = "उप+आसकाः" (आस उपवेशने, अदादिः)। पृणन्तः = पृ पालने (क्र्यादिः)। अत्तारः = परमेश्वर

(१) जैसे द्यौः प्रकाश की दृष्टि से अक्षीण है, वैसे हे परमेश्वर तू हमारे हृदयों में अक्षीण प्रकाशमान हो।

अन्न[1] है और अन्नाद[1] है। उपासक उसके अन्नरूप का भोग करते हैं, उस के आनन्द रस का पान करते हैं, यह पान ही अन्नभोग है। प्रलय काल में परमेश्वर जगत् का मानो प्राशन करता है। अतः वह अन्नाद है। तथा "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" (उपनिषद्)। ब्रह्म क्षत्र" पद उपलक्षक हैं सब प्राणियों और जड़ जगत् के।[2]

तथा

यव=कृष्यन्न जौं। पृथिवी में बोया गया यव का बीज अंकुरित हो कर उत्थान करता है निज तेज या महिमा के कारण बहुसंख्यक यव बीजों का प्रदान करता है। यव इतना पैदा हो जाता है कि कुसूल, कोष्ठ आदि को इतना भर देता है कि यव के दबाव के कारण ये पात्र फटने लगते हैं(मृणोहि), कविता में वर्णन। दिव्या अशनिः=रुद्र का वज्रपात।]

१३वां अनुवाक समाप्त

अथर्ववेद काण्ड षष्ठ का भाष्य

सम्पूर्ण



---

(१) अहमन्नम्, अहमन्नादः (तैत्ति० उप० ३।६।१०)।

(२) यजुर्वेद ५।२६ में भी "यव" का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ में हुआ है। यथा "यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीः", अर्थात् तू यव है, अमिश्रण करनेवाला है, पृथक् करने वाला है, पृथक् कर हम से द्वेष को, पृथक् कर अरातीः अर्थात् अदान भावनाओं को, कंजूसी को।

"हे मनुष्य तू (यवय) उत्तम गुणों से पदार्थों का मेल कर, तू भी ईर्षा आदि दोष वा (अरातीः) शत्रुओं को (यवय) दूर कर" (दयानन्द)। तथा "यवानां भागोऽसि, अयवानामाधिपत्यम्" (यजुः १४।२६), पर भाष्य है "पूर्वपक्षाणां त्वं भागोऽसि, अयवानामपरपक्षाणां त्वयि आधिपत्यम्" (महीधर)। इस प्रकार "यव" के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। अतः प्रकरणानुसार "यव" के अर्थ सूक्त में किये गए हैं, जो कि सूक्त के सब मन्त्रों में एकवाक्यता के उपपादक हैं।

अथर्ववेद-भाष्य काण्ड ६

परिशिष्ट[1] (सूक्त ७२)

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया ।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥ १ ॥

(यथा) जैसे (असितः) सीमारहित द्युलोक, (वशान् अनु) परमेश्वर की इच्छाओं के अनुसार, (वपूंषि[2] कृण्वन्) निज शरीरों अर्थात् तारारूपी शरीरावयवों का (कृण्वन्) निर्माण करता हुआ, (असुरस्य मायया) प्रज्ञावान् परमेश्वर की प्रज्ञा द्वारा (प्रथयते) अपने आप को विस्तारित करता है, (एवा) इसी प्रकार (अयम्) यह (अर्कः) सूर्य सदृश प्रताप वाला राजा [हे प्रधानमन्त्रिन् !] तेरे राष्ट्र को अर्थात् (सहसा) निज बल द्वारा, शक्ति द्वारा, (अङ्गेन अङ्गम्) राष्ट्र के एक अङ्ग के साथ अन्य अङ्ग को, (सम्, सम्, अकम्) परस्पर संगत (कृणोतु) करे ।

[द्युलोक असीम है, सीमारहित है, बन्धन रहित है, फैलता जाता है (अ+सितः=षिञ् बन्धने, बन्धन रहित) । यह द्युलोक असीम आकाश में फैलता जा रहा है । फैलता-फैलता इतना फैल जायगा कि परस्पर के आकर्षण से रहित हो कर ध्वस्त हो जायगा, प्रलय हो जायगी । संसमकम्=सम्, सम्, अकम् (अक कुटिलायां गतौ), परस्पर संगत करना । अङ्गेन अङ्गम्=राष्ट्र को "सप्ताङ्गं राज्यम्" कहते हैं (आप्टे) । राज्य या राष्ट्र के इन सप्ताङ्गों में परस्पर संगत करना अभिप्रेत है ।

पसः=विड् वै गभो राष्ट्रं पसः (शतपथ १३।२।९।६), अर्थात् प्रजा है गभ और "पस" है राष्ट्र (सत्यार्थ प्रकाश) । असुरस्य=असुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९) । माया प्रज्ञानाम (निघं० ३।९) ।

---

(१) काण्ड ६, सूक्त ७२ की पूर्वकृत व्याख्या की ही विस्तृत व्याख्या परिशिष्ट में की गई है ।

(२) द्युलोक के नए तारा आदि जो कि "गैलक्सीज" से निर्मित होते रहते हैं, वे द्युलोक के वपूंषि रूप हैं, और द्युलोक रूपी महाशरीर के शरीरावयव रूप हैं ।

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।
यावत्परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥२॥

(यथा) जैसे कि (पसः) राष्ट्र (अरम्) पर्याप्त परिमाण में (तायात्) फैले, (वातेन) वायु द्वारा (स्थूलभम्) स्थूलसदृश (कृतम्) किया गया जैसे [गुब्बारा या बैलून] । (यावत्) जितने परिणाम वाला (परस्वतः) परस्वत् का (पसः) राष्ट्र है (तावत्) उतने परिणाम वाला [हे प्रधान-मन्त्रिन् !] (ते) तेरा (पसः) राष्ट्र (वर्धताम्) बढ़े ।

[तायात् तायृ सन्तानपालनयोः (भ्वादिः) लेट लकार, आट् आगम । सन्तान=सम्यक् विस्तार, तनु विस्तारे (तनादिः) । वातेन=जसे कि वायु द्वारा फुग्बाल, या गुब्बारा अथवा बेलून स्थूलनिभ अर्थात् स्थूल सदृश किया जाता है । परस्वतः=पारावत अर्थात् कपोत पक्षी का । वर्णागम वर्णविकार, बर्णनाश द्वारा परस्वतः=पारावतः ।]

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत् ।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतु पसः ॥३॥

(यावत्) जितने (अङ्गीनम्) अङ्ग वाला (पारस्वतम्) परस्वान्[1] सम्बन्धी अर्थात् पारावत सम्बन्धी, कपोत सम्बन्धी अङ्ग है, (हास्तिनम्) हस्ती सम्बन्धी, (च) और (यत्) जो (गार्दभम्) गर्दभ सम्बन्धी, (यावत्) तथा जितने अङ्ग वाला (वाजिनः अश्वस्य) बलवान् अश्व सम्बन्धी अंग है, (तावत्) उतने अंग वाला [हे प्रधानमन्त्रिन् !] (ते) तेरा (पसः) राष्ट्र (वर्धताम्) बढ़े ।

[अगीनम्=जितने अंग वाला, परिमाण वाल, परस्वान् आदि का प्रदेश है, उतने अंग अर्थात् परिमाण वाला, प्रदेश वाला, प्रधानमन्त्री का राष्ट्र बढ़े ।

पारस्वतम्=पारावत सम्बन्धी, कपोत सम्बन्धी प्रदेश । सलग्न द्युलोक सम्बन्धी चित्र में पारावत का प्रदेश है "कपोतप्रदेश"[2] अर्थात् कपोत-

(१) पारावत को परस्वान् इस लिये कहा है कि वह परस् अर्थात् भूलोक से परे अर्थात् दूर के द्युलोक में स्थित है ।

(२) कपोत=कबूतर, Pigeon, dove । कपोत को पारावत भी करते हैं।

मण्डल। चित्र के ऊपर की रेखा की संख्या ५-६ अंशों के नीचे की समाप्ति पर 'कपोतमण्डल' है। इस मण्डल में १, २, ३, ४ संख्याओं द्वारा ४ तारा दर्शाये हैं।

हास्तिनम्=यह "करिमुण्ड मण्डल" है, जो कि कन्याराशि की कन्या के पैर, और "सारमेय युगल मण्डल" के मध्य संलग्न चित्र में १२, १३, १४ डिगरी अर्थात् अंशों में दर्शाया गया है। 'करिमुण्ड' का अर्थ है हाथी का सिर। तथा—

हास्तिनम् का अर्थ "हस्तमण्डल" भी सम्भव है। हस्त+इनि (अत इनिठनौ, अष्टा० ५।२।११५)+अण् (स्वार्थे)। हस्तमण्डल है कन्याराशि में कन्या का हाथ। इसे चित्र में "करतलमण्डल" तथा "हस्तनक्षत्र" द्वारा दर्शाया है।

गार्दभम् =गर्दभमण्डल। गदभ-तारा रविमार्ग में स्थित है। रविमार्ग चित्रसंख्या में, विषुव-रेखा को काटता हुआ गोलाकृति में दर्शाया है। रविमार्ग में गदभ-तारा की स्थिति है। यथा "रविमार्ग Passes through, or by the star स्वाहा, अनिल, "गर्दभ" ख्याति, चित्रा (Popular Hindu Astronomy [पृष्ठ ४] by कालिनाथ मुखेरजी)। गर्दभ-तारा का प्रदेश गदभ-मण्डल है। चित्र में गार्दभ-मण्डल को नहीं दर्शाया।

अश्वस्य वाजिनः=अश्विनी नक्षत्र को चित्र में अश्वाकृति में, अंश २, ३ के नीचे दर्शाया है। यह आश्विन-मण्डल है।

नोटः—(१) दिया गया चित्र "Popular Hindu Astronomy" से लिया गया है, और चित्रों की व्याख्या भी इसी पुस्तक के अनुसार की गई है।

(२) चित्र में मण्डलों के परिमाण अल्प प्रतीत होते हैं, परन्तु हैं ये अति व्यापी। अतिदूरता के कारण अल्पता है, जैसे कि सूर्य अतिमहा परिमाण वाला होता हुआ भी लगभग १० करोड़ मीलों की दूरता के कारण स्थाली-परिमाण वाला प्रतीत होता है।]



रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. ऋग्वेदभाष्य (संस्कृत हिन्दी; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रति भाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां। प्रथम भाग ४०-००, द्वितीय भाग ३५-००, तृतीय भाग ४०-०० ।

२. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—ऋषिदयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त-जिज्ञासुकृत विवरण। प्रथम भाग ११०-००, द्वितीय भाग ५०-०० ।

३ तैत्तिरीय-संहिता—मूलमात्र, मन्त्रसूचीसंहिता। ५०-००

४. तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द। १००-००

५. अथर्ववेदभाष्य—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत। ७-८ काण्ड ४०-००, ९-१० काण्ड ४०-००, ११-१३ काण्ड ३५-००, १४-१७ काण्ड ३०-००, १८-१९ काण्ड २५-००, बीसवां काण्ड २५-०० ।

६. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा संपादित एवं शतशः टिप्पणियों से युक्त। साधारण जिल्द ३०-००, पूरे कपड़े की ३५-०० ।

७. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका-परिशिष्ट - भूमिका पर किये गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये उत्तर। ४०-००

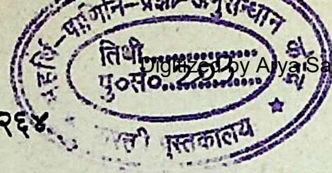
८. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—शुद्ध संस्करण। ४०-००

९. गोपथ-ब्राह्मण (मूल)—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्या-वारिधि। अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण। ५०-००

१०. वैदिक सिद्धांत-मीमांसा—पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेद-विषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का अपूर्व संग्रह। यन्त्रस्थ

११. कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी—(ऋग्वेदीया)—षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृतटीका सहित। टीका का पूरा पाठ प्रथम बार छापा गया है। विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त। १००-००

१२. ऋग्वेदानुक्रमणी—वेङ्कटमाधवकृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द



आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। उत्तम संस्करण ३५-००, साधारण २५-००।

१३ वैदिक-साहित्य-सौदामिनी—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालंकार। काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ। बढ़िया जिल्द ५०-००।

१४. ऋग्वेद की ऋक्संख्या युधिष्ठिर मीमांसक। ५-००

१५. वेद-श्रुति-आम्नाय-सञ्ज्ञा मीमांसा (संस्कृत-हिन्दी)—यु०मी० २-५०

१६. वैदिक-छन्दोमीमांसा -यु० मी०। नया संस्करण २५-००

१७. वैदिक-स्वर-मीमांसा—यु० मी०। नया संस्करण ३०-००

१८. वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वरांकन-प्रकार—यु० मी०। ६-००

१९. वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय, वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा—(संस्कृत-हिन्दी) यु० मी०। ८-००

२०. देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। २-५०

२१. वेद और निरुक्त—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। २-५०

२२. निरुक्तकार और वेद में इतिहास—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। २-५०

२३. त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप—लेखक—श्री पं० धर्मदेवजी निरुक्ताचार्य। २-५०

२४. वैदिक-जीवन श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक-जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याययोग्य ग्रन्थ। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

२५. वैदिक-गृहस्थाश्रम श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अजिल्द २६-००, सजिल्द ३०-००।

२६. यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा—ले०—पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २५-००, साधारण जिल्द २०-००।

२७. शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयन समीक्षा—लेखक—पं० विश्वनाथजी वेदोपाध्याय। ४५-००

२८. **ऋग्वेद-परिचय**—श्री पं० विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड। ऋग्वेद का परिचयात्मक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

२९. **वैदिक-पीयूष धारा**—लेखक—श्री देवेन्द्र कुमार जी कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थपूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम जिल्द १५-००, साधारण १०-००।

३०. **क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है ?**—लेखक—श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। १२-००

३१. **उरु-ज्योति**—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याययोग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई। पक्की जिल्द। १८-००

३२. **वेदों की प्रामाणिकता**—डा० श्रीनिवास शास्त्री। १-५०

३३. Anthology of Vedic Hymns - स्वा० भूमानन्द सरस्वती ६०-००

३४. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायणकृत भाष्य सहित (संस्कृत)। ४०-००

३५. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—(आधान-प्रकरण)—सुबोधिनी वृत्ति सहित (संस्कृत)। ४०-००

३६. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित। २५-००

३७. **कात्यायन-गृह्यसूत्रम्** (मूलमात्र)—अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २५-००

३८. **श्रौतयज्ञमीमांसा**(संस्कृत और हिन्दी)—श्रौतयज्ञों की कल्पना का आधार, उनका विकास, परिवर्तन, पशुयज्ञ आदि अनेक विषयों को सप्रमाण मीमांसा। ३०-००

३९. **श्रौतपदार्थ निर्वचनम्** (संस्कृत)—अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०-००

४०. **संस्कार-विधि**—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र २०-००, राजसंस्करण २५-००, सस्ता संस्करण ९-००, अच्छा कागज सजिल्द १२-००।

४१. **वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश**—पं० बाला जी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद। इसी का गुजराती अनुवाद संशोधित संस्कार-विधि का आधार बना। २०-००

४२. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय**

—इस ग्रन्थ में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचिति सहित सोमयाग, चातुर्मास्य और वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। (दोनों भाग एकत्र) १२-००

४३. **संस्कार-विधि-मण्डनम्**—संस्कारविधि की व्याख्या। लेखक—वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

४४. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों की पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित। यु० मी०। ६-००, सजिल्द ८-००।

४५. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि (मूलमात्र)**—सन्ध्या तथा स्वस्तिवाचन आदि विधि बृहद् हवन के मन्त्रों सहित। १-५०

४६. **पञ्चमहायज्ञ-विधि**—ऋषिदयानन्द कृत। ३-००

४७. **पञ्चमहायज्ञप्रदीप**—श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर। ५-००

४८. **हवनमन्त्र**—स्वस्तिवाचनादि सहित। ०-६०

४९. **वर्णोच्चारण-शिक्षा**—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या। ०-७५

५०. **शिक्षासूत्राणि**—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्रशिक्षा-सूत्र। ७-००

५१. **शिक्षा-शास्त्रम्** (संस्कृत)—जगदीशाचार्य। १०-००

५२. **शिक्षा-महाभाष्यम्** (संस्कृत)—जगदीशाचार्य। १२-००, सजिल्द १५-००।

५३. **वृद्धशिक्षा-शास्त्रम्** — ,, ,, ,, । २५-००, सजिल्द ३०-००।

५४. **निरुक्त श्लोकवार्त्तिकम्**—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित। एकमात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में उपोद्घातरूप में निरुक्त-शास्त्र विषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है (संस्कृत)। सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि। उत्तम कागज शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द सहित। १२५-००

५५. **निरुक्त समुच्चय**—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। २०-००

५६. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठ** (मूल)—शुद्ध संस्करण। ६-००

५७. **अष्टाध्यायी भाष्य** (संस्कृत तथा हिन्दी)—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। भाग—I ५०-००, भाग—II ३२-००, भाग—III ३८-००।

५८. **धातुपाठ**—धात्वादिसूची सहित, शुद्ध संस्करण। ५-००

५६. **क्षीरतरङ्गिणी**—क्षीरस्वामी कृत। पाणिनीय धातुपाठ की सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या। सजिल्द ६०-००

६०. **धातुप्रदीप**—मैत्रेयरक्षित विरचित पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या। सजिल्द ४०-००

६१. **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**-स्वोपज्ञव्याख्यासहितम्। १०-००

६२. **संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतमविधि**—लेखक—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। पहला भाग १५-००। दूसरा भाग—युधिष्ठिर मीमांसक २५-००।

६३. **The Tested Easiest Method of Learning and Teaching Sanskrit(First Book)**—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत **'विना रटे संस्कृत पठन पाठन की अनुभूत सरलतम विधि'** भाग १ का अंग्रेजी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये यह आधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर। सजिल्द २५-००

६४. **महाभाष्य** (हिन्दी व्याख्या)-(द्वितीय अध्याय पर्यन्त) यु० मी० भाग—I ६०-००, भाग—II ५०-००, भाग—III ३०-००।

६५. **उणादिकोष**—ऋषिदयानन्द कृत व्याख्या तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द १५-००, सजिल्द २०-००।

६६. **दशपाद्युणादि-वृत्ति-संग्रहः**-(प्रथम भाग में अतिप्राचीन वृत्ति विस्तृत उपोद्घात एवं सूत्रसूची शब्दसूची आदि के सहित)। ५०-००

द्वितीय भाग—(तीन प्राचीन वृत्तियां)। सं०-चन्द्रदत्तशर्मा। ४०-००

६७. **दैवम् पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्**—लीलाशुकमुनि कृत। १२-००

६८. **भागवृत्तिसंकलनम्**—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति। ८-००

६९. **काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्**—संस्कृत रूपान्तर। यु० मी० २०-००

७०. **काशकृत्स्न-व्याकरणम्**—सम्पादक—यु० मी०। १०-००

७१. **शब्दरूपावली**—विना रटे शब्दरूपों का ज्ञान करानेवाली। ३-५०

७२. **गणरत्नावली**—यज्ञेश्वरभट्ट कृत। सं०—चन्द्रदत्तशर्मा। ६५-००

७३. **संस्कृत-धातु-कोष**—पाणिनीय धातुओं का हिन्दी में अर्थनिर्देश। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। १५-००

७४. **अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**—डा० विजयपाल

विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोधप्रबन्ध (संस्कृत)। सुन्दर छपाई, उत्तम कागज, बढ़िया जिल्द सहित। ५०-००

७५. सूर्य-सिद्धान्त हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याता—श्री उदयनारायणसिंह। इसके आरम्भ में १४६ पृष्ठ की अति विस्तृत एवं विविध विषय परिपूर्ण महत्त्वपूर्ण भूमिका छपी है। ५०-००

७६. पिंगलनाग-छन्दोविचितिभाष्यम्—यादवप्रकाशकृत। यह दुर्लभ ग्रन्थ प्रथम बार मुद्रित हुआ है। ४०-००

७७. ईश केन-कठ-उपनिषद्—श्री वैद्य रामगोपाल शास्त्री कृत हिन्दी अंग्रेजी व्याख्या सहित। ईशो० २-००, केनो० २-००, कठो० ४-००।

७८. तत्त्वमसि अथवा अद्वैत मीमांसा—लेखक - श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती। ईश्वर जीव और प्रकृतिरूप तीनों मूल तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला दार्शनिक ग्रन्थ। ४०-००

७९. ध्यानयोग प्रकाश—स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगविद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत। बढ़िया पक्की जिल्द। १६-००

८०. अनासक्तियोग—लेखक—श्री पं० जगन्नाथ पथिक। नया संस्करण। ३५-००

८१. आर्याभिविनय (हिन्दी)—स्वामी दयानन्द। गुटका सजिल्द १०-००

८२. Aryabhivinaya—English translation and notes (स्वामी भूमानन्द) दोरङ्गी छपाई। सजिल्द १०-००

८३. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्—(सत्यभाष्य-सहितम्)—पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य। सम्पूर्ण चार भागों में २००-००

८४. मीमांसा शाबर-भाष्य—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी व्याख्या सहित। प्रथम भाग के आरम्भ में शास्त्रावतार-वेदश्रुति-आम्नाय-संज्ञामीमांसा तथा श्रौतयज्ञमीमांसा नामक तीन निबन्ध। व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग ६०-००; द्वितीय ४०-००; तृतीय ५०-००; चौथा ४०-००; पांचवां ५०-००। छठा यन्त्रस्थ।

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

बहालगढ़, जिला सोनीपत (हरयाणा) १३१०२१

रामलाल एण्ड संस, २५६६ नई सड़क, दिल्ली।


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी
पु०सं०
भारती पुस्तकालय